ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(Peer Reviewed Research Journal)

(UGC CARE Listed)

अङ्कः (Vol.): XIV, वर्षम् 2024

सम्पादकः
डॉ. अभिमन्यु सिंह
समन्वयकः
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor
Dr. Abhimanyu Singh
Coordinator
Deptt. of Sanskrit & Prakrit Languages
University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow, Lucknow-226007

ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(Peer Reviewed Research Journal)
UGC CARE Listed

अङ्कः (Vol.): XIV, वर्षम् 2024

सम्पादकः
डॉ. अभिमन्यु सिंह
समन्वयकः
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor
Dr. Abhimanyu Singh
Coordinator
Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow-226007
E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in

संरक्षकः

प्रो. आलोककुमाररायः

कुलपतिः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

परामर्शदातृसमितिः

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
प्रो. गोपबन्धुमिश्रः
प्रो. अभिराजराजेन्द्रमिश्रः
प्रो. जी.एस.आर.कृष्णमूर्तिः
प्रो. ओमप्रकाशपाण्डेयः
प्रो. श्रीनिवासवरखेडी
प्रो. हरेकृष्णशतपथी
प्रो. रामसेवकदुबे
प्रो. दीप्तिशर्मात्रिपाठी
प्रो. सोमदेवशतांशुः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
प्रो. भागीरथिनन्दः

समीक्षकसमितिः

प्रो. भारतभूषणत्रिपाठी
प्रो. अरूणाशुक्ला
प्रो. रामसुमेरयादवः

प्रकाशकः

प्रो. अरविन्दअवस्थी

पदेन अध्यक्षः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः,
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

प्रकाशन-तिथिः 16 मई 2024

मूल्यम् : रु.151/-

वार्षिकशुल्कम् : रु.151/-

आजीवनशुल्कम् : 2500/-

मुद्रक :—

DAWS INDIA

नेहरू इन्क्लेव, गोमती नगर, लखनऊ

E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in

सम्पादकीय

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। यह भाषा भारत का गौरव है। संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद संस्कृत भाषा में ही उपनिबद्ध है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध है। अन्य समकालीन भाषाओं की अपेक्षा परिशुद्ध, परिष्कृत तथा संस्कार सम्पन्न होने के कारण यह भाषा संस्कृत नाम से अभिहित हुई। देववाणी, देवभाषा, गीर्वाणी, सुरभारती, ब्राह्मी आदि नाम इसके दैवीय सम्बन्ध को द्योतित करते हैं। इस भाषा को जनमानसपावनी, भव्यभावोद्भाविनी, सन्मार्गप्रवर्तिनी, शब्दसन्दोहप्रसविनी, सुकृतसन्दीपनी एवं हृदयहारिणी आदि विशेषणों से अभिहित करना, इसके वास्तविक निहितार्थ को ही प्रकट करना है। जैसा कि संस्कृत कवियों ने कहा भी है- भाषासु मधुरा मुख्या दिव्या गीर्वाणभारती।। इस भाषा के पदों में सरसता, रमणीयता और लालित्य के साथ-साथ भावप्रकटन एवं भावबोधन का भी सामर्थ्य सम्पूर्णता से विद्यमान है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त विशाल है। संस्कृत-वाङ्मय में जिस प्रकार के मानवतावादी उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना मिलती है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मूलभूत चारित्रिक गुणों का विकास करने में संस्कृत साहित्य का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। संस्कृत साहित्य की रचना करने वाले आदिकवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, नाटककार भास, कविकुलगुरु कालिदास, भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष आदि महाकवि अपने-अपने ग्रन्थों के द्वारा सहृदयों के हृदय में आज भी विराजमान हैं।

वेद में मनुर्भव अर्थात् मानव को वास्तविक मानव बनने का सन्देश प्राप्त होता है उसकी परिपूर्त्ति संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से स्वतः सम्भव है। संस्कृत में निबद्ध साहित्य के परिशीलन से व्यक्ति में दान, दया, शौच, उदारता, अनसूया, क्षमा और सत्यनिष्ठा जैसे उदात्त गुणों का विकास अनायास ही हो जाता है। निश्चय ही यदि भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक एकता एवं अखण्डता की रक्षा करनी है तो भारतीय जनमानस को पुनः एक बार संस्कृत की ओर लौटना होगा। संस्कृत में प्राप्त ज्ञाननिधि के अवलोकन, अनुशीलन एवं अनुसंधान से वह पुनः अपने अन्दर उच्च गुणों की स्थापना कर सकता है। इसी मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के चतुर्दश अङ्क का प्रकाशन किया जा रहा है

संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के प्रस्तुत अङ्क के विधिवत् प्रकाशनार्थ लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के माननीय कुलपति प्रो० आलोक कुमार राय महोदय ने अपने शुभ सन्देश द्वारा आशीर्वचनों से अनुगृहीत किया। हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते हैं। संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के इस अङ्क में संस्कृत हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में

मूल्याङ्कन समिति द्वारा मूल्याङ्कित कुल 42 शोध पत्र प्रकाशित हैं। इनमें से संस्कृत भाषा के 15 हिन्दी भाषा के 20 तथा अंग्रेजी भाषा के 7 शोध पत्र इस अङ्क में स्थान प्राप्त कर सके हैं। इन सभी शोधपत्रों में विषय के अनुरूप तथ्यों का विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से विद्वानों द्वारा उपस्थापन करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। हम सरस्वती समुपासक सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनकी असीम प्रतिभा से प्रसूत शोधपत्र रूपी पुष्पों से अलङ्कृत यह संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका पल्लवित एवं पुष्पित है। हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका संस्कृत ज्ञान परम्परा की समुन्नति में निश्चित रूप से सहयोग प्रदान करेगी। इन्हीं सदुद्गारों के साथ हम अपने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के गुरुओं की गौरवमयी परम्परा को नमन करते हैं जिनके आशीर्वाद से यह पत्रिका नवीन प्रतिमानों को स्थापित कर रही है। हम इस सद्भाव सहित अब और अधिक न लिखते हुए प्रस्तुत अङ्क को सुधिजनों को समर्पित करते हैं।

अलमति विस्तरेण विपश्चिद्वर्येषु।

सीतानवमी
वि०सं० 2081

डॉ० अभिमन्यु सिंह

प्रो. आलोक कुमार राय
कुलपति

Prof. Alok Kumar Rai
Vice-Chancellor

लखनऊ विश्वविद्यालय
(नैक द्वारा **A++** ग्रेड प्रत्यायित)
लखनऊ–226007 (उ.प्र.) भारत
University of Lucknow
(Accredited **A++** by NAAC)
Lucknow-226007 (U.P.) India

सन्देश

संस्कृत देवभाषा है। संस्कृत वेदभाषा है। संस्कृत संस्कृति, संस्कार तथा सभ्यता की भाषा है। संस्कृत भारत की मनोभाषा है। विश्व को परिवार के रूप में मानने वाली भाषा भी संस्कृत ही है। आध्यात्मिक चेतना से लेकर वैश्विक चेतना ही नहीं अपितु ब्रह्माण्डीय चेतना से तादात्म्य के विषय संस्कृत में वर्णित हुए हैं जहाँ व्यष्टि से समष्टि और सृष्टि तथा सृष्टिकर्ता की तात्त्विक मीमांसा दृष्टिगत होती है। आज इसके अनुसन्धान की महती आवश्यकता है। संस्कृत भाषा में वर्णित न केवल साहित्य काव्यशास्त्र अपितु विविध-विज्ञान, गणित, चिकित्सा, अभियान्त्रिकी, विधि, वास्तु आदि ज्ञान की समस्त विधाओं से सम्बन्धित गहन शोध की आवश्यकता है। अनन्ता वै वेदाः ज्ञान का विस्तार अनन्त है। उसकी कोई सीमा परिधि नहीं है। मानव द्वारा आज तक किया हुआ ज्ञान भी इसका प्रमाण है कि ज्ञात से अज्ञात की ओर बढते हुए हम ज्ञान की अनेक शाखाओं का विस्तार करते जा रहे हैं। इससे उपनिषदों में वर्णित नेति नेति सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है।

यह शैक्षिक संस्थान के रूप में हमारे लिये अत्यन्त गर्व तथा हर्ष का विषय है कि गतवर्ष संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग की शोध पत्रिका संस्कृतवाङ्मयी का चयन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मानकीकृत यू.जी.सी. CARE List में हो गया है। मैं विश्वविद्यालय परिवार का कुलगुरु होने के कारण संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के सभी शिक्षकों को उनके इस सत्प्रयास हेतु बधाई देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि संस्कृत में अनुसन्धान की यह पावन ज्ञानगङ्गा सतत प्रवहमान होकर पाठकों को ज्ञान के नवीन आयामों में अवगाहन का अवसर प्रदान करती रहेगी। संस्कृतवाङ्मयी के आगामी अङ्क के लिये सम्पादक मण्डल को बधाई एवं शुभकामनाएं। संस्कृतं विजयतेतराम् ...

दिनांक 15.05.2024

(प्रो0 आलोक कुमार राय)

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक/लेखिका	पृ.सं.
1.	पाणिनीयधात्वन्तरनिर्देशस्य भाषावैज्ञानिकं समीक्षणम्	डॉ.प्रियव्रतमिश्रः	9
2.	अर्वाचीनसंस्कृतकथानामायतिः	डॉ. नारायणदाशः	17
3.	सादृश्यतत्त्वपरकाः केचित् अङ्काकारशास्त्रसिद्धान्ताः	डॉ. शुभ्रजित् सेनः	27
4.	सर्वादीनि सर्वनामानीति सूत्रस्य भाष्यार्थविचार:	डॉ. अजयकुमारदाश:	36
5.	आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कवेः सूर्यमणिरथस्य योगदानम्	डॉ. रचनारस्तोगी	44
6.	काणादं वस्तुसंज्ञानं सर्वशास्त्रोपकारकम्	डॉ. भुवनेश्वरी भारद्वाज	52
7.	समीक्षाया निकषग्राव्णि “निर्याति नैव स्मृतिः”	डॉ. सन्तप्रकाशतिवारी	57
8.	शून्यवादविमर्शः	डॉ. नन्दिघोषमहापात्रः	63
9.	ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायविमर्शः	डॉ. देवनाथ-पालः	71
10.	ब्राह्मणग्रन्थेषु उपलब्धस्य यजमानशब्दस्य अर्थसमीक्षणम्	डॉ. प्रतापचन्द्रायः	80
11.	अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रस्य प्राचीनाः नवीनाश्च सन्दर्भाः	डॉ. सन्दीपकुमारमिश्रः	88
12.	संस्कृतसाहित्यवाङ्मये रूपकपरम्परा	डॉ.रुद्रनारायणनरसिंहमिश्रः	95
13.	अमरेन्द्रमोहनभाट्टाचार्यस्य जीवनं तत्कृतयश्च	आलोक सेनः	105
14.	अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य आद्यप्रस्थानाचार्यः श्रीरूपगोस्वामी	बाबनपालः	110
15.	स्वप्नदूते नदीमातृकाः	कपिलेश्वर साहु	121
16.	पर्यावरण विज्ञान के वानस्पतिक आयाम	डॉ. प्रयागनारायणमिश्र	129
17.	ब्रह्मानन्द सहोदरः	डॉ. अभिमन्यु सिंह	138
18.	महाभाष्य में अर्थविज्ञान का स्वरूप	डॉ. करुणा आर्या	144
19.	बांग्लादेशोदयम् में प्रयुक्त वर्णसङ्कर शब्दों का भाषावैज्ञानिक औचित्य	डॉ. विनोद कुमार	150
20.	वाक्यार्थ चिन्तन परम्परा में क्रियावाक्यार्थ	डॉ. सत्यकेतु	155
21.	शाङ्कर अद्वैतवाद एवं ईश्वराद्वयवाद का तुलनात्मक स्वरूप	डॉ. गौरव सिंह	162
22.	ज्योतिषशास्त्र का आधार ऋग्वेद - एक अध्ययन	डॉ. ऋचा पाण्डेय	166
23.	वैदिक स्वर-प्रक्रिया : एक विमर्श	डॉ. रश्मि यादव	172

24.	कालिदास के साहित्य में संवेदना विमर्श	डॉ. कुलदीपक शुक्ल	181
25.	ऋग्वेदीय रहस्यात्मक प्रहेलिकाएँ : एक दृष्टि	डॉ. देवेन्द्र पाल	187
26.	'इकोऽचि विभक्तौ': एक विश्लेषण	डॉ. रवि प्रभात	194
27.	ज्योतिषशास्त्रोक्त त्रिप्रश्न में 'देश' की अवधारणा का सैद्धान्तिक विमर्श	डॉ. अनिल कुमार पोरवाल	203
28.	आयुर्वेदीय आर्षग्रन्थों में जलचिकित्सा विज्ञान	डॉ. रोशन सिंह	211
29.	संस्कृत साहित्य में स्त्री-स्वातन्त्र्य के उल्लेखनीय सन्दर्भ	डॉ. अरविन्द कुमार	217
30.	अग्निमहापुराण में ब्रह्मज्ञान : एक विमर्श	डिम्पल जैसवाल	224
31.	संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध कविशिक्षा ग्रन्थ	सोनाली बाजपेई	231
32.	संस्कृत रूपकों में वाचिक अभिनय की भाषाएं	आशमा	239
33.	पाञ्चरात्रसम्प्रदाय के क्रमविकास में आलवार सन्तों का स्थान	अजय सिंह	245
34.	पं. सांवरमल शास्त्री विरचित 'यौतुकम्' नाटक का महिला सशक्तिकरण में योगदान	राकेश कुमार गोरा	252
35.	सत्रहवीं शताब्दी के साहित्यिक परिदृश्य में मुक्तक काव्य	सौरभ मिश्र	257
36.	Cross-cultural Influence of Indian Knowledge Tradition: A Critical Exposition of Ralph Waldo Emerson's Literary Works	Dr. Prashant Shukla Dr. Richa Shukla	263
37.	Attention, Stillness and Compassion: The Cessation of Longings and the Practice of Dispassion in Zen Sayings	Adarsh Narayan Parbat	272
38.	Arithmetic series in the jaina works Ganita Sāra Sangraha (G.S.S) and Pāti¯gaṇita	Dr. P.M.Mini	279
39.	The Interstate Relation and Diplomacy in Kautilya Arthasastra and its Application in Modern India	Dr. Sudipta Bhakat	286
40.	Genealogy of Viśvanātha, the author of Sāhityadarpan - A Study	Dr. Ashok Kumar Satapathy	292
41.	Spiritual Enlightenment through Guru Gītā	Mintu Upadhyaya	299
42.	Sanskrit Texts, Artificial Intelligence, and the Future	Dr. Pritam Panda	305

पाणिनीयधात्वन्तरनिर्देशस्य भाषावैज्ञानिकं समीक्षणम्

• डॉ. प्रियव्रतमिश्रः*

शोधसारः - लघुनोपायेन महान्तं शब्दसंसारं स्वोरसि धारयत् पाणिनीयं व्याकरणं नितरां चमत्करोति चित्तं शब्दजालचिन्तनपरायणानाम् तत्र बहुभिरुपायैः निर्दुष्टशब्दान्वाख्यानं सहजेन सरलया रीत्या प्रतिपादितं महर्षिणा। उपायेषु तेषु धात्वन्तरख्यापनमिति कश्चन उपायविशेषः प्रकल्पितः। यथा – घ्राधातोः जिघ्रादेशः पाधातोः पिबादेश इति। आर्षवाङ्मये पाणिनीयव्याकरणे च प्रयुक्ता अपि केचन धातवः पाणिनेः सूत्रविषया न भवन्ति। तेषामेव साधुत्वायात्र धात्वन्तरसाधनं क्रियते। अतोऽत्र धात्वन्तरस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं धात्वन्तरसाधनं सभेदं सप्रमाणं च प्रस्तूयते।

बीजशब्दाः - धात्वन्तरम्, वर्णविपर्ययः, घस्लादेशः, काशिकावृत्तिः, न्यासः,क्षीरतरङ्गिणी

वाङ्मुखम् :

यस्य धातोर्निष्पत्तिः केनचिदन्येन समानार्थकधातुना प्रदर्श्यते स धातुर्धात्वन्तरं भवति। पुरा "घ्रा जिघ्र" इति समानार्थकं धातुद्वयं लोकविदितमासीत्। कालान्तरेऽनयोः "जिघ्र" इति धातुर्लुप्तप्रायोऽभवत्। अतः पाणिनिः स्वधातुपाठे "घ्रा" इति धातुं पठति "जिघ्र" इति धातुञ्च तदादेशरूपेण निर्दिशति। अत्रादेशरूपो जिघ्रधातुर्धात्वन्तरम्। इदं धात्वन्तरसाधनं सर्वादेशेन, वर्णादेशेन, आगमेन, वर्णलोपेन,वर्णविपर्ययेण,स्वार्थिकप्रत्ययप्रयोगेन च सम्पाद्यते।

सर्वादेशेन धात्वन्तरसाधनम् –

सर्वादेशेन निष्पन्ना धातवो धात्वन्तराणि भवन्ति। अत्र कञ्चित् प्रत्ययमाश्रित्य कस्यचिद् धातोः स्थाने सर्वादेशो विधीयते। डा.रमाशङ्करभट्टाचार्यः, डा.मङ्गलदेवशास्त्री पातञ्जलमहाभाष्यञ्च सर्वादेशरूपधातून् धात्वन्तररूपेण स्वीकुर्वन्ति। भट्टाचार्यमतानुसारेण आर्धधातुकप्रत्ययविषये येषां सर्वादेशानां विधानमुपलभ्यते ते सर्वे स्वतन्त्रधातवः सन्ति, पाणिनिना तु प्रक्रियालाघवायैव ते स्थान्यादेशभावेन कल्पिताः[1]। डा. मङ्गलदेवशास्त्रिमहोदयोऽपि अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः इत्यादिसूत्रैर्विधीयमानादेशान् स्वतन्त्रधातुरूपेण कल्पयति। तन्मते पुरा "अस भुवि" "भू सत्तायाम्" इत्युभयविधधातुसत्ता आसीत्,तयोश्च सर्वलकारेषु प्रयोगा भवन्ति स्म। कालान्तरे अस्-धातुप्रयोग आर्धधातुके लुप्तोऽभवत्,तत्स्थाने च तत्समानार्थको भूधातुः प्रयुक्तोऽभवत्। अतः पाणिनिना

* सहाचार्यो विभागाध्यक्षश्च, स्नातकोत्तरव्याकरणविभागः, श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, पुरी

आर्धधातुकेऽस्तेर्भूरादेशं विधाय अयं लोकव्यवहारः प्रदर्शितः। "ब्रुवो वचिः" इति पाणिनिसूत्रविषयेऽपि तस्येदमेव मतम् [2]।

पतञ्जलिरप्यादेशं शब्दान्तरत्वेन निर्दिशति। अत एवोक्तं तेन "दाधा घ्वदाप्" इति सूत्रव्याख्याने –"अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः। बाढं युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता" इति। कालप्रवाहे केषाञ्चिद् धातूनां प्रयोगः केषुचित् प्रत्ययेषु पुरुषेषु वचनेषु च लुप्तोऽभवदित्यत्र कानिचित् प्रमाण्यन्यपि लभ्यन्ते। न्यासपदमञ्जर्यादीनां मतेन भक्षणार्थकोऽद् धातुर्लुङि सनि च न प्रयुज्यते। अदनार्थको घस्-धातुराशिषि लिङि न प्रयुज्यते। व्यक्तवागर्थको ब्रूधातुरार्धधातुके न प्रयुज्यते[3]। भट्टोजिदीक्षितमतेन प्रकथनार्थकः ख्याधातुरार्धधातुके न प्रयुज्यते। परिभाषणार्थको वच् धातुः कस्यचिन्मतेन अन्तिपरो न प्रयुज्यते, कस्यचिन्मतेन बहुवचने परे कस्यचिच्च मतेन झिपरे[4]। पाणिनीयं व्याकरणमदेर्घस्लादेशं जग्ध्यादेशं च वेञो वयिरादेशं हन्तेर्वधादेशम् अस्तेर्भूरादेशं ब्रुवतेर्वच्यादेशमाहादेशं च चक्षिङः ख्याञादेशम् अजेर्वीभावम् श्रातेः शृभावम्, प्यायः पीभावं चायः कीभावं घ्रो जिघ्रादेशं ध्मो धमादेशं सर्तेश्च धावादेशं निर्दिशति। एत आदेशाः सर्वादेशा धात्वन्तराणि च।

घस्लादेशेन जग्ध्यादेशेन च धात्वन्तरसाधनम् –

लुङ्लनोर्घस्लृ, घञपोश्च, बहुलं छन्दसि, लिट्यन्यतरस्याम् इति सूत्राणि घस्लृभावेऽच्युपसंख्यानम् इति वार्त्तिकं च लुङादिप्रत्ययेषु "अद भक्षणे" इति स्थाने घस्लादेशं निर्दिशन्ति। तेन अघसत्, जिघत्सति, घासः, प्रघसः, घस्तान्नूनम्, जघास, प्रघसः इति प्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमानो घस्लादेशो धात्वन्तरम्। पाणिनिः गणपाठे "अद भक्षणे" "घस्लृ अदने" इत्युभयविधं समानार्थकधातुं पठति। अयं गणपाठो घस्लृधातोः स्वतन्त्रसत्तां दर्शयति। अद्मरः, घस्मरः, इत्यत्र तच्छीलादिकर्त्तृषु अद्-घस्-धातुभ्यां क्मरच् इति प्रत्ययो विधीयते। सृघस्यदः क्मरच् (३-२-१६०) इति सूत्रेण घसेर्यत् क्मरच्प्रत्ययो विधीयते,तदप्यस्य प्रकृत्यन्तरत्वं प्रमाणयति।

जिनेन्द्रबुद्धिमतेन घस्धातुः प्रकृत्यन्तरमेव घस्लादेशविधानं च ज्ञापकम्। तदुक्तं न्यासे – "ननु च घस्लृ अदने इत्येतस्य जघास, जक्षतुः, जक्षुरिति भविष्यति, अद भक्षणे इत्यस्य आद आदतुः आदुरिति अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम्। "सृघस्यदः क्मरच्" इति क्मरज्विधानात्। तत्कथमिह लिटि विकल्पविधानम्? घसेः प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधतुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च तत्र प्रयोगो न भवति[5]।

हरदत्तोऽपि पूर्वोक्तमतं समर्थयते। तदुक्तं पदमञ्जर्याम्- "ननु सृघस्यदः क्मरजिति वचनाद् घसिः प्रकृत्यन्तरमस्ति। सत्यम्, अदेरात्सीत्, अत्सिषतीत्यनिष्टं रूपं मा भूदिति योगारम्भः" इति। हरदत्तमतेन शपि परस्मैपदे, लिटि वलादावार्धधातुके क्मरचि च घसेः प्रयोगो भवति आशिषि चास्याप्रयोगः। तदुक्तं पदमञ्जर्याम्- *"प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थमिदम्। तेन यत्र लिङ्गं वचनं वा नास्ति तत्र तस्य प्रयोगो न भवति। तत्र लृदित्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम्,घसिश्च सान्तेष्वित्यनुदात्तपाठो वलादावार्धधातुके*

"सृघस्यदः क्मरच्" इति वचनं क्मरचि भूवादौ परस्मैपदिषु पाठात् परस्मैपदे प्रयोगः"[6] इति। तदेवं घसेः प्रकृत्यन्तरत्वे पाणिनीयं सूत्रं, गणपाठः, न्यासवचनं पदमञ्जरीवचनं च प्रमाणम्।

वयादेशेन धात्वन्तरसाधनम् – वेञो वयिः (२-४-४१) इति सूत्रं लिटि परतो विकल्पेन वेञो वयादेशं निर्दिशति। तेन उवाय, उवयिथ, उवय इति प्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमानो वयादेशो धात्वन्तरम्। "ग्रहिज्यावयिव्यधि....(६-१-१६) लिटि वयो यः (६-१-३८) इति सूत्रयोर्निर्दिष्टो वय्-धातुरेवास्य धात्वन्तरत्वे प्रमाणम्। वयादेशस्य धात्वन्तरत्वात् वयादेशविधायकसूत्रस्यायमर्थः कार्यः

वेञो वयिः – वेञः स्थाने विधीयमानो वयादेशो धात्वन्तरम्,तच्च लिटि विकल्पेन प्रयुज्यते इति।

वधादेशेन धात्वन्तरसाधनम् *:* हनो वध लिङि, लुङि च, आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्, हनश्च वधः इति सूत्राणि हनो वा यद् वधश्च वक्तव्यः इति वार्त्तिकं च लिङादिप्रत्ययेषु हन्तेर्वधादेशं निर्दिशन्ति। तेन वध्यात्, अवधीत्, अवधिष्ट, वधश्चौराणाम्, वध्य इति प्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमानो वधादेशो धात्वन्तरम्। पाणिनीयं सूत्रं, काशिकावृत्तिः, हरदत्तः, दीक्षितः, हेमगणिप्रभृतयः वैयाकरणाश्च स्वतन्त्रवधधातुं स्वीकुर्वन्ति। जनिवध्योश्च इति सूत्रे पाणिनिना वधधातुः स्वतन्त्रवधधातुरूपेण पठितः। काशिकाकारोऽपि तथैवाङ्गीकुरुते। तदुक्तं काशिकावृत्तौ-

"वधिः प्रकृत्यन्तरं व्यञ्जनान्तोऽस्ति, तस्यायं प्रतिषेधो विधीयते, भक्षकश्चेन्न विद्येत, वधकोऽपि न विद्येत इति हि प्रयोगो दृश्यते"[7]**।**

भूभावेन धात्वन्तरसाधनम् *:* अस्तेर्भूः (२-४-५२) इति सूत्रमार्धधातुकेऽस्तेर्भूरादेशं निर्दिशति। तेन भविता, भवितुम्, भवितव्यमित्यादिप्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमानो भूरादेशो धात्वन्तरम्। धातुपाठे "भू सत्तायाम्" "अस भुवि" इति समानार्थकं धातुद्वयं लभ्यते। अयं धातुपाठ एव भूरादेशस्य प्रकृत्यन्तरत्वं गमयति। भूरादेशविधायकसूत्रं तु ज्ञापकमात्रम्। तथा ह्यत्रेदं विचारणीयमस्ति, यद्यदा पाणिनिर्धातुपाठे उभयविधं धातुं पठत्येव तदा भूरादेशरूपप्रयोगाणां निष्पत्तिर्भवतेरेव सम्भवति, पुनः किमर्थं तेनात्रास्तेर्भूरादेशो विहितः? सूक्ष्मचिन्तनेन ज्ञायते यद्यदि भूरादेशरूपप्रयोगाणां निष्पत्तिर्भूधातोरेव क्रियते तदा आर्धधातुकेऽस्तेर्निवृत्तिं भवतेश्च प्रवृत्तिं दर्शयितुम् "अस्तेर्भूः" इति सूत्रं निर्दिष्टम्। तदेवमस्तेर्भूरिति सूत्रं ज्ञापकमात्रम्। हरदत्तोऽस्तेर्भूरिति सूत्रस्येदमेव प्रयोजनं दर्शयति- *भवतेरेव भवितेत्यादौ सिद्धेऽस्तेरसितेत्यादिनिवृत्तये योगारम्भः इति।*

वचादेशेन आहादेशेन च धात्वन्तरसाधनम् : ब्रुवो वचिः (२-४-५३) इति सूत्रमार्धधातुकविषये ब्रुवतेर्वचादेशं निर्दिशति। तेन वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यमिति प्रयोगा निष्पद्यन्ते।

अत्र वचिरादेशो धात्वन्तरम्। धातुपाठे "ब्रुञ् व्यक्तायां वाचि" "वच परिभाषणे" इत्युभयविधः समानार्थको धातुरुपलभ्यते। अयं धातुपाठ एव वच्यादेशस्य धात्वन्तरत्वं प्रमाणयति। "ब्रुवो वचिः" इति सूत्रानुसारेण आर्धधातुके सर्वत्र ब्रूधातुस्थाने वचेः प्रयोग आवश्यकः, परञ्च कुमारिलकृते तन्त्रवार्त्तिके उद्धृते "ब्रवणात्"इति पदे आर्धधातुकेऽपि नायं वचिरादेशो दृश्यते। "ब्रवणात्" इति पदं ल्युट्प्रत्ययान्तम्। कुमारिलभट्टः पदमिदं साधु मन्यते। अत एवोक्तं तेन तन्त्रवार्त्तिके-

"कार्स्न्येऽपि व्याकरणस्य निरुक्ते हीनलक्षणा बहवो यद् ब्राह्मणो ब्रवणादिति.... ब्रुवो वचिरिति वच्यादेशमकृत्वैव ब्रवणादित्युक्तम्"[8] इति। तदेवमयं वचिरादेशो यत् स्वप्रवृत्तियोग्यस्थलेऽपि न प्रवर्त्तते तदेवास्य धात्वन्तरत्वे प्रमाणम्।

वचेर्धात्वन्तरत्वे सिद्धे तस्यादेशरूपेण प्रदर्शनं ज्ञापनमात्रम्। तथा ह्यत्रेदं विचारणीयमस्ति यद्यदा पाणिनिः "ब्रु वच्" इति समानार्थकमुभयविधं धातुं पठत्येव तदा वच्यादेशरूपप्रयोगाणां निष्पत्तिर्वचेरेव सम्भवति पुनः किमर्थं तेनात्र वचिरादेशो निर्दिष्टः? सूक्ष्मचिन्तनेन ज्ञायते यद्यदि वच्यादेशरूपप्रयोगाणां निष्पत्तिर्वचेरेव क्रियते तदा आर्धधातुकेऽपि ब्रुवतेः प्रयोगा आपद्येरन्। न च तथोपलभ्यन्ते \ अत आर्धाधतुके ब्रुवतेर्निवृत्तिं वचेश्च प्रवृत्तिं दर्शयितुं "ब्रुवो वचिः" इति सूत्रमारब्धम्। हरदत्तोऽस्य सूत्रस्येदमेव प्रयोजनं दर्शयति। अत एवोक्तं तेन पदमञ्जर्याम् – "ब्रुव आर्धधातुके प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम्"। वक्तेत्यादिकं तु वचेरेव सिद्धम्" इति।

ब्रूधातोर्लटि परस्मैपदे आदिभूता ये तिबादयः पञ्च प्रत्यया भवन्ति तेषां स्थाने "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः (३-४-८४)" इति सूत्रेण विकल्पेन णलादयः पञ्च प्रत्यया भवन्ति। तेन आह, आहतुः, आहुः, आत्थ, आहथुरिति प्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमान आहादेशो धात्वन्तरम्।

ख्याञादेशेन धात्वन्तरसाधनम् *:* चक्षिङः ख्याञ् (२-४-५४) इति सूत्रमार्धधातुके चक्षिङः ख्याञादेशं निर्दिशति। तेन आख्याता, आख्यातुम्, आख्यातव्यमिति प्रयोगा निष्पद्यन्ते। अत्र विधीयमानः ख्याञादेशो धात्वन्तरम्।

चक्षिङः ख्याञिति सूत्रानुसारेण आर्धधातुके सर्वत्र चक्षिङः ख्याञादेशेन भाव्यम्, परञ्च दुर्जनाः संचक्ष्याः[9] विचक्षणः पण्डितः[10], नृचक्षा राक्षसा इत्यत्र ण्यत्-अन-असिति आर्धधातुकप्रत्ययेष्वपि नायं ख्याञादेशो दृश्यते। यदयं ख्याञादेशः स्वप्रवृत्तियोग्यस्थलेऽपि न प्रवर्त्तते तदेव तस्य धात्वन्तरत्वे प्रमाणम्। वार्त्तिकाकारस्तु वर्जने प्रतिषेधो वक्तव्यः, असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्य इति वार्त्तिकाभ्यां पूर्वोक्तप्रयोगान् साधयति। न्यासकारो "न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम् (८-२-५७)" इति सूत्रपठितख्याधातुना "ख्या ख्याञ्" इत्युभयविधधातोर्ग्रहणं करोति। तथा हि न्यासः- "ख्या प्रकथने" "चक्षिङः ख्याञ्" इति च द्वयोरपि ग्रहणम्" इति। न्यासकारस्येदं व्याख्यानं ख्याख्याञोरैक्यं दर्शयति। येन चक्षिङः ख्याञादेशस्य धात्वन्तरत्वं सिद्ध्यति।

वीभावेन धात्वन्तरसाधनम् *:* अजेर्व्यघञपोः (२-४-५६) इति सूत्रं घञमपं च वर्जयित्वा आर्धधातुके अजेर्वीभावं निर्दिशति। अजिर इत्यत्र "अजिरशिशिरशिथिर..." इत्यौणादिकसूत्रेण अजधातोः किरच्प्रत्ययो निपात्यते। अयं किरच्प्रत्यय आर्धधातुकः। अत्रार्धाधातुकेऽपि नायं वीभावो दृश्यते। यदयं वीभावः क्वचित् स्वप्रवृत्तियोग्यस्थलेऽपि न प्रवर्त्तते तदेवास्य धात्वन्तरत्वे प्रमाणम्। भाषेण काशिकया च संज्ञायां बाहुलकेन वीभावः कल्प्यते। अत्र प्रमाणं " बहुलं तणि" इति भाष्यवचनं "संज्ञाच्छन्दसोरिति वक्तव्यम्" इति काशिकावचनं च। वीभावस्य धात्वन्तरत्वे "अजेर्व्यघञपोः" इति सूत्रस्यायमर्थः कर्त्तव्यः – "अजेर्विधीयमानो वीभावो धात्वन्तरम्, तच्चार्धधातुके प्रयुज्यते" इति।

शृभावेन धात्वन्तरसाधनम् *:* श्रुतं पाके (६-१-२७) इति सूत्रेण क्तप्रत्यये परतः पाकार्थे श्राधातुस्थाने विकल्पेन शृभावो निपात्यते। परञ्चायं शृभावो न सर्वत्र क्तप्रत्यये विकल्पेन लभ्यते। अयं शृभावः क्वचिन्नित्यत्वेन लभ्यते क्वचिच्च सर्वथा तदभावो दृश्यते। शृतं क्षीरम्, शृतं हविरित्यत्र नित्यमेव शृभावो दृश्यते,श्राणा यवागूरित्यत्र च सर्वथा तदभावः। सूत्रार्थविरुद्धा एते प्रयोगाः श्राधातोः शृभावस्य च स्वतन्त्रसत्तां दर्शयति।

शृभावस्य धात्वन्तरत्वे शृतं पाके इति सूत्रस्यायमर्थः कर्त्तव्यः – "श्रास्थाने विधीयमानः शृभावो धात्वन्तरम् तच्च क्तप्रत्यये पाकार्थे विकल्पेन प्रयुज्यते इति।

पीभावेन धात्वन्तरसाधनम् : प्यायः पी (६-१-२८) इति सूत्रेण निष्ठायां विकल्पेन प्यायः पीभावो भवति परञ्चायं पीभावो निष्ठायां न सर्वत्र विकल्पेन लभ्यते। अयं पीभावः क्वचिन्नित्यत्वेन लभ्यते क्वचिच्च सर्वथा तदभावो दृश्यते। पीनं मुखम्, पीनौ बाहू पीनमुर इत्यत्र प्यायधातोर्नित्यमेव पीभावो दृश्यते आप्यानश्चन्द्रमा इत्यत्र च सर्वथा तदभावो लभ्यते। आपीनोऽन्धुः, आपीनमूध इत्यत्र च आङ्पूर्वादन्धूधसोरपि नित्यं पीभावो भवति[11]। सूत्रार्थविरुद्धा एते प्रयोगाः पीभावस्य धात्वन्तरत्वं प्रमाणयन्ति।

कीभावेनधात्वन्तरसाधनम् *:* "चायः की (६-१-२१) इति सूत्रं यङि परत एव चायः कीभावं निर्दिशति परञ्चायं कीभावश्चेकीत इत्यत्र यङ्लुक्यपि दृश्यते ।अयं सूत्रार्थविरुद्धप्रयोगः कीभावस्य धात्वन्तरत्वं प्रमाणयति। अत एव चायः की इति सूत्रस्यायमर्थः कर्त्तव्यः – "चायः स्थाने विधीयमानः कीभावो धात्वन्तरम् तच्च प्रायेण यङि प्रयुज्यत इति।

जिघ्रादेशेन धात्वन्तरसाधनम् *:* पाघ्राध्मा....(७-३-७८) इति सूत्रं शित्येव घ्रो जिघ्रादेशं निर्दिशति। तदनुसारेण घ्राधातुप्रयोगः सार्वधातुके न सम्भवति जिघ्रादेशप्रयोगश्चार्धधातुके। परञ्च क्वचित् सार्वधातुकेऽपि घ्राधातुप्रयोगो लभ्यते आर्धाधातुकेऽपि च जिघ्रादेशप्रयोगः। " न पश्यति न चाघ्राति"[12] "घ्रातेश्च जातौ"[13] इत्यत्र महाभारते पञ्चपाद्युणादिवृत्तौ च सार्वधातुकेऽपि घ्राधातुप्रयोगो लभ्यते "मूर्धन्यभिजिघ्राणम्"[14] वर्चसे हुम्" इति मूर्धन्यभिजिघ्र्य"[15] इत्यत्र च गोभिलगृह्यसूत्रे हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रे चार्धधातुकेऽपि जिघ्रादेशप्रयोगः। साहित्ये प्रयुक्ताः सूत्रार्थविरुद्धा एते प्रयोगा जिघ्रादेशस्य धात्वन्तरत्वं प्रमाणयन्ति।

धमादेशेन धात्वन्तरसाधनम् : पाघ्राध्मा....इति सूत्रं शिति ध्मो धमादेशं निर्दिशति। तदनुसारेणार्धधातुके धमादेशप्रयोगो न सम्भवति परञ्च विधमिष्यामि जीमूतान्[16], धम्यमानः[17] विधम्यः[18] धान्तो धातुः पावकस्येव राशिः[19] धमः काञ्चनस्येव राशिः[20] इत्येवादिसिद्धं भवति । ध्मो धम च (३.७) इति। क्षीरस्वामी "अर्तिसृधृधमि" इति सूत्रेण बाहुलकाद् धमादेशं विधाय धमनिशब्दं निष्पादयति। वस्तुतस्त्वत्र बाहुलकेन धमादेशविधानापेक्षया धात्वन्तरकल्पनं श्रेयस्करम्।

धावादेशेन धात्वन्तरसाधनम् : पाघ्राध्मा.... इति सूत्रं गत्यर्थकसृधातुस्थाने गत्यर्थकं धावादेशं निर्दिशति। अयं धावादेशः शिति भवति। अतोऽनेन सूत्रेण शिति सृधातुप्रयोगोऽपि प्रतिषिध्यते परञ्च लोके वेगितायामेव गतौ धावादेशो लभ्यते शित्यपि च सृधातुप्रयोगो दृश्यते। तदुक्तं काशिकायाम्-

"सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति। अन्यत्र सरति अनुसरतीत्येव भवति । काशिकावृत्तेरिदं वचनं सर्त्तेधावादेशस्य च स्वातन्त्र्यं दर्शयति। न्यासस्तु लुग्वा दुहदिह...(७-३७३) इति सूत्राद् वेति पदमनुवर्त्त्य व्यवस्थितविभाषया धावति अनुसरतीत्यादिप्रयोगान् साधयति[21]। अत्र व्यवस्थित विभाषाकल्पनापेक्षया धात्वन्तरकल्पनमेव श्रेयस्करम्।

वर्णादेशेन धात्वन्तरसाधनम् : वर्णादेशेन निष्पन्नो धातुर्धात्वन्तरं भवति। अत्र कञ्चित् प्रत्ययमाश्रित्य धातुवर्णस्थान आदेशो विधीयते। अस्य साधनं नानाप्रकारेण भवति। यथा – छान्तादेशेन तान्तादेशेन सम्प्रसारणदेशेन एच ईकार-मकार-नकाराणां चाऽऽकारदेशेन उपधादीर्घेण वकारस्याऽकारदेशेन च। एतेषां संक्षिप्तवर्णनमुपरिष्टात् प्रस्तूयते

छान्ततान्तादेशेन धात्वन्तरसाधनम् – "इषु गमि यम्" इति धातूनां छान्तादेशेन हन्तेश्च तान्तादेशेन निष्पन्ना इच्छ् गच्छ् यच्छ् हत् इति धातवो धात्वन्तराणि। एतेषां धात्वन्तरत्वे सूत्रार्थविरुद्धप्रयोगाः प्रमाणम्। यथा –

इषुगमियमां छः (७-३-७७) इति सूत्रेण शित्येव इषेः षकारस्य छकारादेशो विधीयते, परञ्च "दातृप्रतीच्छकौ"[22] इत्यत्र मनुस्मृतौ ण्वुल्यप्ययं छकारादेशो लभ्यते। इषुगमि.....इति सूत्रार्थानुसारेण गमेर्यमेश्च शिति छकारादेशेन भाव्यम् परञ्च "त आगमन्तु त इह श्रुवन्तु[23]" "यस्तान् संयमते बुद्ध्या[24]" इत्यत्र ऋग्वेदे महाभारते च शित्यपि नायं छकारादेशो दृश्यते। पालिभाषायां गमेर्लृटि "गच्छिस्सन्ति" इति रूपं निष्पद्यते झेलमक्षेत्रस्थभाषायां च ल्युटि "गच्छणा" इति रूपं निष्पद्यते। उभावेवप्रयोगौ गच्छिष्यन्ति गच्छनमिति प्राचीनसंस्कृतप्रयोगयोरपभ्रंशरूपाविति केषाञ्चित् भाषावैज्ञानिकानां विश्वासः[25]। इषुगमि.....इति सूत्रं शित्येव गमेश्छान्तादेशं निर्दिशति परञ्च गच्छिष्यन्ति, गच्छनमित्यत्राशित्यप्ययं छान्तादेशो दृश्यते।

हनस्त च (३-१-१०८) इति सूत्रं सोपपदस्य हन्तेर्नकारस्य तकारादेशं निर्दिशति परञ्च *हत्याशतं पानसहस्रम्* इत्यत्रानुपपदस्यापि हन्तेर्नकारस्य तकारादेशो दृश्यते। वैयाकरणानां मतेनायं प्रयोगः आर्षः। तदुक्तं माधवीयधातुवृत्तौ – हत्याशतं पानसहस्रम् इत्यादावनुपपदे क्यबार्षः इति। अत्रार्षप्रयोगकल्पनमगतिकगतिः। तदेवं सूत्रार्थविरुद्धप्रयोगाः वर्णादेशेन निष्पन्नानामिच्छ्-गच्छादिधातूनां धात्वन्तरत्वं प्रमाणयन्ति।

वर्णविपर्ययेण धात्वन्तरसाधनम् : यत्र कञ्चित् प्रत्ययमाश्रित्य कस्यचित् धातोर्वर्णव्यत्ययो भवति तत्र वर्णव्यत्ययेन धातोर्यद्रूपं निष्पद्यते तद्रूपं धात्वन्तरं भवति। यथा –

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६-३-१०९) इति सूत्रमचि परतो निपातनेन हिंसेर्वर्णव्यत्ययं करोति। तेन सिंह इति रूपं निष्पद्यते। अत्र हिंसेर्वर्णव्यत्ययेन यत् "सिंह्" इति रूपं जायते तद्धात्वन्तरम्। अत्र प्रमाणं काशकृत्स्नव्याकरणम्। व्याकरणमिदं सिंह्धातुं स्वतन्त्रधातुरूपेणैव पठति। तथा हि काशकृत्स्नं धातुव्याख्यानम् –" षिहि हिंसागत्योः"। सिंहति विदारयति सिंहः वनराजः [26]इति।

स्वार्थिकप्रत्ययोगेन धात्वन्तरसाधनम् : यत्र कस्माच्चिद् धातोः कश्चित् स्वार्थिकप्रत्ययो विधीयते[27] तत्र स्वार्थिकप्रत्ययोगेन धातोर्यद्रूपं निष्पद्यते तद्रूपं धात्वन्तरं भवति। यथा – सत्यापपाश ....(३-१-२५)

इति सूत्रेण चुर् धातोः स्वार्थिको णिच्प्रत्ययो भवति। अत्र स्वार्थिकणिच्प्रत्ययप्रयोगेन चुरेर्यच् "चोरि" इति रूपं निष्पद्यते तद्धात्वन्तरं भवति।

अस्य धात्वन्तरत्वे त्रिविधं प्रमाणमुपलभ्यते – "चुरेः स्वार्थिकणिच्प्रत्ययविधानम् "चोरि" इति स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य धातुसंज्ञाविधानम्, चुर् धातुप्रयोगस्य भ्वादिगणेऽपि दर्शनं चेति। चुर् धातोः स्वार्थे णिच्प्रत्ययो भवति स एव "चुर् चोरि" इति समानार्थकधातुद्वयस्य स्वतन्त्रसत्तां दर्शयति। स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य "चोरि" इत्यस्य सनाद्यन्ता धातवः (३-१-३२) इति सूत्रेण धातुसंज्ञापि भवति। इयं धातुसंज्ञापि स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य "चोरि" इत्यस्य धात्वन्तरत्वं प्रमाणयति।

पाणिनीयधातुपाठे चुर् धातुश्चुरादिगणे पठितो वर्त्तते अतो गणव्यवस्थानुसारेणास्य चुरादिगणीया एव प्रयोगाः सम्भवन्ति परञ्च क्षीरतरङ्गिणी **बहुलमेतन्निदर्शनम्** इति गणसूत्रव्याख्यानम्, सारस्वतव्याकरणं चास्यान्यगणीयत्वमपि दर्शयन्ति। क्षीरतरङ्गिणी चुर् धातोः "चोरयति चोरति चोरयतः चोरतः इत्युभयविधप्रयोगान् दर्शयति[28]। येनास्य धातोर्भ्वादिगणीयत्वमपि सिद्ध्यति। "एवं तर्ह्यनित्यण्यन्ताश्चुरादयः (न्या. ३-१-११०) इति न्यासकथनमपि पूर्वोक्तं समर्थयते।

बहुलमेतन्निदर्शनम् (ग.सू. २०८) इति गणसूत्रव्याख्याने कैश्चिद् वैयाकरणैश्चुर्धातोर्णिज्विधिर्बाहुलकेन दर्शितः। तदुक्तं सिद्धान्तकौमुद्याम् – *"चुरादिभ्य एव बहुलं णिजित्यर्थ इत्यन्ये[29] इति।* सारस्वतव्याकरणे स्वार्थिकणिच्प्रत्ययविधानस्थले ञिप्रत्ययविधानमुपलभ्यते। तत्रायं ञिप्रत्ययः केषाञ्चिन्मतेन विकल्पेन भवति। तदुक्तं सारस्वतव्याकरणे – "चुरादेर्ञि वेति केचित्[30]" इति। उक्तं द्विविधव्याख्यानं चुर् धातोश्चुरादिगणीयत्वं भ्वादिगणीयत्वं च दर्शयति। "चुर् चोरि" इति धात्वोश्च पृथक् सत्तां प्रमाणयति। अत एव **सत्यापपाश....** इति सूत्रस्यायमर्थः कार्यः – "सत्यापपाश....इति सूत्रेण चुरादिधातुभिः स्वार्थिकप्रत्ययप्रयोगेन यच्चोरि इत्यादिकं रूपं निष्पद्यते तद्धात्वन्तरमिति।

सन्दर्भाः -

---

[1] पा.व्या.अनु, पृ. २२-२३

[2] भा.वि.टिप्पणी पृ. ११०

[3] न्या. २-४-३७ पद. २-४-३७, २-४-४०, २-४-५३

[4] सि.कौ.सू. ३२७६

[5] न्या.२-४-४०

[6] पद. २-४-४०

[7] काशि.७-३-३५

[8] तं.वा १.३.८(पू.सं) पृ. २५८

[9] ऋहलोर्ण्यत् ३.१.१२४

[10] कृत्यल्युटो बहुलम् ३.३.११३

[11] न्या.६.१.२८

[12] महा. शा.१८७.१७

[13] प.उ.वृ.५.६३

[14] गो.गृ. २.८.२४

[15] हि.के.गृ. २.४.१७

[16] वा.रा.सुन्दर.६७.१२ उद्धृतमिदं क्षीर.त. पृ१३६

[17] महा.कर्ण ८.८

[18] महा.कर्ण. १४.३६

[19] क्षीर.त.१.६५९

[20] द.उ.वृ.३.९

[21] न्या. ७.३.७८

[22] मनु. ४.१९४ अज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ

[23] ऋ.सं ६.४९.१

[24] महा.स्त्री७.१५

[25] द्र.युधि.मी. सं.व्या.इति भा १ पृ ४८

[26] का.धा.व्या.१.३१६

[27] द्र.पा.३.१.२५.२७-३१

[28] क्षीर. १०.३२५

[29] सि.कौ.सू.३४२३

[30] चु.प्र.

अर्वाचीनसंस्कृतकथानामायतिः

• डॉ. नारायणदाशः

शोधसारः –

कस्याः अपि भाषायाः प्रथमवाग्व्यापारः सरसगद्येन संवादेन संलापेन सत्कथया एव भवति। कथाश्रवणस्य इयमेव प्रथमा प्रवृत्तिः। एषा काचित् पुरातनी चिरन्तनी सनातनी च प्रवृत्तिः। अतः कथायाः प्रारम्भः कदा अभवत् इति इदमित्थतया निर्णयः सुकरः नास्ति। एतत्तु सत्यं यत् भाषायाः प्रवर्तनकालादेव कथायाः प्रवर्तनं जातम्। यतो हि कथया अनुस्यूता लोकयात्रा प्रवर्तते। अस्मिन् प्रबन्धे संस्कृतकथानाम् आयतिः समासतः आलोचिता वर्तते।

बीजशब्दाः- कथा, लघुकथा, दीर्घकथा, कथासाहित्यम्, कथालक्षणम्

उपक्रमः

अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्ये अप्पाशास्त्रियुगमतिक्रम्य अम्बिकादत्तव्यासस्य कथाभिः सुसंस्कृता, भट्टमथुरानाथस्य विविधविधाभिः विमण्डिता, वेङ्कटराघवस्य युगं प्रविश्य रामकान्तशुक्लयुगोत्तरा संस्कृतकथानामायतिः पुष्कला सर्वसम्भावनासम्भाविता च दृश्यते। वस्तुतः तदा तदा संस्कृतचन्द्रिका-विद्योदय-संस्कृतरत्नाकर-संस्कृतसाहित्यपरिषत्पत्रिका-मञ्जूषादिभिः संस्कृतपत्रिकाभिः समेधितेयं संस्कृतसम्भाषणसन्देशयुगे सुप्रतिष्ठिता, संस्कृतप्रतिभा-उशती-रसना-सुधर्मा-कथासरिद्भिः शिखराधिरूढा वर्तते।

समग्रं संस्कृतसाहित्यं चतुर्दशविद्याभिः अष्टादशविद्यास्थानैश्च वर्गीकृतं वर्तते। एतेषु सर्वेषु विद्यास्थानेषु कथायाः विस्तारः द्रष्टुं शक्यः। भरतात् स्वीकृते वस्तुनि धनञ्जयेन उत्पाद्यत्वं योजितं, भामहेन कथायाः व्यापकत्वं प्रकाशितं, दण्डिना गद्यप्राधान्यं स्वीकृतं, वामनेन काव्यगुणैः संस्कृतं, रुद्रटेन महा-लघु-भेदैर्विभक्तम्, आनन्दवर्धनेन रसभावेन रसानुगुण्यं कल्पितं, कथाप्रकाराः योजिताः, अग्निपुराणे ते परिवर्धिताः, हेमचन्द्रेण विकसिताः, विश्वनाथेन च वस्तुप्रधानत्वं रसवद्वस्तुत्वं योजितम्। परन्तु एते सर्वे गुणाः कथायाः सन्ति एव। परन्तु कोऽपि कथायाः सर्वाङ्गीणं लक्षणं न लक्षितवान्। कदाचिद् भरतस्य नाट्यप्रधानत्वं परवर्तिकाले काव्यप्राधान्येन पर्यवसितं, न कदापि कथाप्राधान्यं जातम्। अतः कथायाः विकासाय लक्षणाय वा न कस्यापि प्रयत्नः।

* सहाचार्यो विभागाध्यक्षश्च, रामकृष्णमिशन्-आवासीय-स्वयंशासित-महाविद्यालयः, कोलकाता

अर्वाचीनकथालक्षणकाराः - अर्वाचीनकाव्यशास्त्रिणः स्वयं कथां लिखन्ति, कथायाः गौरवं विचारयन्ति, अन्येषां मतानि सङ्कलय्य स्वमतानि पुरस्कुर्वन्ति, क्वचित् सर्वथा नूतनं लक्षणं प्रतिपादयन्ति। विविधभाषायाः कथासौन्दर्यं तत्र द्रष्टुं शक्यम्।

अम्बिकादत्तव्यासः - गद्यकाव्यमीमांसायाम् अत्र केचन उपन्यासादिनूतनभेदाः स्वीकृताः। स्वकीयं शिवराजविजयं स उपन्यासभेदे स्थापयति। ततः कथा, कथानिका, कथनम्, आलापः, आख्यानम्, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा, सङ्कीण इति भेदान् परिगणयति।

गद्यैर्विद्योतितं यस्माद् गद्यकाव्यं तदीरितम्।
ग्रन्थरूपं तदेवात्र श्रव्यं किञ्चिन्निरूप्यते॥
उपन्यासपदेनापि तदेव परिकल्प्यते।
यथा कादम्बरी यद्वा शिवराजजयो मम॥

राजेन्द्रमिश्रः

राजेन्द्रमिश्रमहोदयः चित्रपर्णीति स्वस्य कथासङ्ग्रहस्य भूमिकायां वदति- खण्डकाव्यं लक्षयता विश्वनाथेन साहित्यदर्पणे लिखितं यत् खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि यत्। अनेन एतदुक्तं भवति यन्महाकाव्यस्यैव एकदेशस्य खण्डविशेषस्य वानुसारिणी कृतिः खण्डकाव्यं भवति। तत्साम्येनैव वक्तुमेवमुचितं प्रतिभाति यत्कथाखण्डस्य कथांशविशेषस्य वा प्रस्तोत्री रचना लघुकथा भवति। .. .. कामं लघुकथायाः कलेवरं (कदाचित्) पृष्ठमितं स्यात्, पृष्ठद्वयमितं वा। परन्तु मूललघुकथा तु एकवाक्यमितैव भवति। ... पुनः कथानिकायां भवन्ति अनेकपात्राणि। तेषां समवेतवृत्तवर्णनमेव कथाया विस्तारं सृजति। परन्तु लघुकथायामेकपात्रतानिर्वहणमनिवार्यमिति मन्मतम्। ..मनोभावस्य चिररूढस्याऽतर्कितं परिवर्तनम्, कस्यचित्सङ्कल्पस्य झटित्येव सृष्टिः, भावोन्मेषः, भावविवर्त्तः, मनोवैज्ञानिकं विश्लेषणम्, चिरसंस्तुतवर्त्मनोऽकस्मादेव परिहारः, अग्राहस्य ग्रहणम्, ग्राह्यस्योपेक्षा-वसरोचिता इत्येवं शतशतोल्कापिण्ड-सदृक्षाश्चमत्कारसृष्टिक्षमा भावा लघुकथां वितन्वते।[1] इदमेव लक्षणं तस्य यशोभूषणे कारिकारूपेण वर्तते।[2]

राधावल्लभत्रिपाठी

राधावल्लभत्रिपाठिनः अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे- जीवनस्यैकदेशनिरूपणपरमाख्यानं कथा। गद्यबन्ध उपन्यासो महाकाव्यमयी कथा।[3]

रहसविहारीद्विवेदी

रहसविहारीद्विवेदिनो लघुकथां लक्षयन्तीत्थम्-
उपन्यासस्य चैकांशश्चारुगद्यसमन्वितः।
प्रायशः कल्पितं वृत्तं समाश्रित्य प्रवर्तते॥
स्थाने काले क्रियायाञ्च यत्रैक्यं तथ्यगर्भितम्।
प्रेरणादायि सोद्देश्यं यस्या लघुकथा च सा॥[4]

वनमालिविश्वालमहोदयस्य सम्मतं यत् एकेन वैठकेन समापनयोग्या कथा लघुकथा इति मानितुं शक्या। सः सर्वान् भेदान् सम्यक् आकलय्य तस्य काव्यतत्त्वसमन्वितिः इति ग्रन्थे कथालक्षणं परिभाषां भेदांश्च सविस्तरं वर्णयति।

कथाया बहुभेदास्तु चाधुनिके युगे मताः। लघ्वी लघुतरा काचिल्लघुतमा काचित् पुनः॥
उपन्यासस्य दृष्ट्या तु लघुभूता कथा मता। जीवनस्यैकदेशस्तु निरूपितो भवेद् यतः॥
सोद्देश्यं रचिता चैषा लोकाभ्युदयकारिणी। चरित्रचित्रणञ्चात्र कथासंवर्धकं मतम्॥
शिल्प-प्रतीक-बिम्बैश्च निबद्धेयं कथा क्वचित्। लघु-दीर्घस्वरूपञ्च साहित्ये समकालिके॥
कथायां घटनावृत्तं सविस्तारञ्च वर्ण्यते। चरित्राणां विकासेऽत्र स्थानं पर्याप्तमिष्यते॥
उपन्यासांशभूतायां चारुगद्यचमत्कृतिः। भूमिका नैकपात्राणां कथाविस्तार-सर्जने॥

एतत्सर्वं विचारणात्पूर्वं ज्ञातव्यं वर्तते यत्, लघुकथायाः लघुतरं कथाभेदत्रयं वर्तते, पुटकथा(एकस्मिन् पुटे समाप्ता कथा), पत्रकथा(एकस्मिन् समपत्रे लिखिता कथा), टुप्कथा(एकस्मिन् अनुच्छेदे लिखिता कथा) इति। अतः द्विचतुरपृष्ठासु परिव्याप्ता, एकपात्रविषयीकृता, विंशतिनिमेषाभ्यन्तरे पठनक्षमा, चमत्कृतिजनिका कथा लघुकथा इति कथ्यते।

वस्तुतः संस्कृतकथासाहित्यम् अति विस्तृतं वैचित्र्यविमण्डितं च। परन्तु आधुनिकसंस्कृतकथासाहित्यमपि विविधविषयवैचित्र्येण सम्भृतमनल्पञ्च। आधुनिकसंस्कृतकथाकाराणां कथावस्तुचयनेऽभिनवभावना, उपस्थापनविधौ अन्ताराष्ट्रिया, भाषाप्रयोगदृष्टौ आधुनिकता, भावाभिव्यक्तौ सावलीलता, साहित्यमीमांसापरिसरेऽनवद्यप्रयोगशीलता, संस्कृतकथासाहित्यवाचकानां रुच्युत्पादनेऽनितरसामान्यनिपुणतादिगुणाः अवलोक्यन्ते। अर्वाचीनसंस्कृतकथासंसारे नैके कथाकाराः सन्ति। तेषु अग्रगण्याः भवन्ति – आचार्यः राजेन्द्रमिश्रः, आचार्यः राधावल्लभत्रिपाठी, आचार्यः कलानाथशास्त्री, आचार्यः केशवचन्द्रदाशः, एस्.वि.नागराजरावः, पूजालालः, डॉ.कृष्णलालः, इच्छारामद्विवेदी, पद्मशास्त्री, तारापदभट्टाचार्यः, वि.शास्त्री, सत्यदेवचौधुरी, नोदनाथमिश्रः, ओम्प्रकाशठाकुरः, रामकिशोरमिश्रः, जनार्दनहेगेडे च। परवर्तिपर्यायेऽपि सन्त्येनेके संस्कृतकथाकाराः, संस्कृतकथावाचकेषु येषां महान् समादरः, किञ्च प्राक्तनैरपि सबहुमानं समादृतं तेषामभिनवकथासाहित्यं, समालोचकैश्च भृशं प्रशंसितम्। तादृशेषु प्रसिद्धसंस्कृतकथाकारेषु विलक्षणाः समधिकख्याताश्च सन्ति डॉ. हर्षदेवमाधवः, डॉ.वनमाली विश्वालः, डॉ.विश्वासः, डॉ.गोपबन्धुमिश्रः, डॉ.प्रमोदकुमारनायकः, डॉ.अरुणरञ्जनमिश्रः, डॉ.सुकान्तसेनापतिः, डॉ.रवीन्द्रकुमारपण्डाः, डॉ.नरेन्द्रः, डॉ.सावित्रिप्रतापः, डॉ.प्रमोदभारतीयः इत्यादयः। तदनन्तरपर्याये येषां नवोदितकथाकाराणामवदानं वर्तते, तेषां नामानि चेत्थमाविर्भवन्ति- डॉ. नारायणदाशः, डॉ.सम्पदानन्दमिश्रः, डॉ.पराम्बा श्रीयोगमाया, डॉ.चन्द्रकान्तपण्डाः, डॉ.गिरिधारी पण्डाः, , डॉ.धर्मेन्द्रकुमारसिंहदेवः, उदयनः, डॉ.रूपा, राधिकारञ्जनदासः, अर्चना, गुप्तचन्द्रः, ऋषिराजजानिः, आशाअग्रवालवर्या, पूजा उपाध्याया, गणेशपण्डितश्चेत्यादयः। 2003 संवत्सरे सागरविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे आधुनिकसंस्कृतगद्यसाहित्यमिति शोधसंगोष्ठ्यामाचार्याच्युतानन्ददाशमहोदयेन प्रदत्तस्य

प्रास्ताविकभाषणस्यान्तिमे केचन प्रश्नाः समुन्मिषन्ति मनसि, तानपि भवतां पुरस्तात् उपस्थापयितुमुत्सहे।

ते सन्ति -अपि अस्त्यद्य कश्चिद् अभिनव-विष्णुशर्मा यदीया रचना सार्वकालिकी कालतिबाह्या च स्यात्? अपि अस्ति कश्चित् काचिद् वा हरिकुम्भकार इव चरित्रनिर्माता संस्कृते येन चरित्रेण विश्वमनः सम्मोहितं स्यात्, स्याच्च आबालेभ्यः आ च देवर्षितुल्यविद्वतल्लजेभ्यः तन्मनोविनोदाधायकम्? अपि शक्यमस्माभिः यथातथ्येन निर्णेतुम् इव ‘‘संस्कृतरचनाधर्मिणः” इति मानं प्रतिष्ठापयितुम्।[5]

अस्मिन् नातिदीर्घप्रबन्धे समग्रकथासंसारस्याकलनं न सम्भाव्यते। स्थालिपुलाकन्यायेन केवलं केषाञ्चन परिचयप्रदानेन आधुनिकसंस्कृतकथानामायतिः सुप्रतिष्ठिता भविष्यति इति भावयामि।

कथाकारः अच्युतानन्ददाशमहोदयः “मा गामनागाम्”- वैदिकमन्त्रभागमेव कथायाः शीर्षकं कुर्वन् अनया कथया कमपि विशिष्टं सन्देशं दातुमिच्छति। कथायाः शैली विचित्रा। आधुनिकनगरीषु निवसद्भिः कृतपरिवेशदूषणेन पीडितायाः भोज्यलाभार्थमश्रुभिः परिप्लुतायाः कस्याश्चिद् गोरात्मकथां श्रावयति। सा एव इयं कथा। कथायामियं धेनुः कैश्चिन्नीतिरहितैः पीड्यमाना तथा च कैश्चित् सम्प्रदायेषु बद्धश्रद्धैः कदाचित् सेव्यमाना कथञ्चिदात्मनो जीवितस्य रक्षायै प्रयतते भृशम्। स्वमातुः दुर्गतिं दृष्टवत्या अनया जगतः बहूनि मुखानि भृशं परिलक्षितानि। मन्दिरपरिसरेषु अनाहूतप्रविशन्त्याः तस्याः लगुडहस्तेन ताडनं कुर्वतां भक्तंमन्यानां मुखानि, श्याली गोमाता इति निरीहं जीवं दुर्वचनैर्विध्यतां मुखानि च यथा लक्षितानि तथैव शुष्कमालिन्यावलिप्तशरीराया अपि च जलेन तस्याः पादं प्रक्षालयन्त्याः, तिलकैः भालं लिम्पन्त्याः तथा तस्यै स्वादुसुपक्वभोजनप्रदात्र्याः श्रद्दधानायाः मुखमपि दृष्टम्। गोर्दिव्यत्वे पौराणिकं किमपि रहस्यं गोर्मुखेनैव प्रतिपादितम् आचार्येण “मनुष्यलोक-गोलोकयोः मध्ये अस्ति कश्चन दिव्य-सम्बन्धः। अत एव मन्ये परमेष्ठिलोकादुपरि वर्तमानं परब्रह्मणः लोकं गोलोकनाम्ना जनाः व्यवहरन्ति। गोलोकस्य स्वामी गोपालकः। गोलोकप्राप्तिरेव मनुष्यलोकस्य परम् अभीप्सितम्। अत एव वयमपि मनुष्यसंसर्गं विना जीवनं निरर्थकं मन्यामहे। ये नाम अस्मत्कुलीनाः मनुष्यलोकसंसर्गे निवसन्ति तेषां जन्म सफलं निरापदं च चिन्तयामः।” पूर्वं जन्तवः यस्मिन् देशे भूतवल्यादिभिः पाल्यन्ते स्म, यत्र वृक्षलतानद्यादयः प्रपूज्यन्ते स्म नित्यं, यत्र गोः सम्पूजनेन दिनमारभन्ते स्म अग्निहोत्रिणः, तस्मिन्नेव देशे सभ्यताया नाम्ना प्रगतेश्च नाम्ना परिवेशस्य दूषणं कुर्वताम्, आत्मनः मूल्यबोधराहित्यं सम्पादयतां, स्वार्थनिमग्नानां विवेकरहिततया भविष्यतः स्वापत्यस्यापि जीवितस्य विपदमाकारयतामविमृश्यकारितायाः कारणात् काचिद्गोमाता प्लाष्टिक्-भक्षणेन आसन्नमरणा ध्वनिवर्धकयन्त्रमहिम्ना शृणोति मन्दिरे उच्चारितं वैदिकं मन्त्रं “मा गामनागाम्” इति। ऋजुवर्णनं, कौटिल्यराहित्यं चास्याः कथाया अपूर्वं वैशिष्ट्यम्। कथावस्तुनि चमत्कृतिप्रदायकानां कौटिल्यानामभावेऽपि कथायाः काचनाद्भूता गतिरस्ति यया आन्तं कथापठनस्योत्साहे न किञ्चन नैयून्यं जायते पाठकस्य।

कवेः कथाकारस्य केशवचन्द्रदाशमहोदयस्य समग्रं साहित्यं प्रतिभाप्रकाशनेन[6] अधुना पुनः प्रकाशितम्। प्रो.दाशमहोदयस्य सकलमौलिककृतीः एकीकृत्य चतुर्भिः खण्डैः विभज्य

केशवकाव्यकलानिधिः इति शीर्षकेण डा.राधेश्यामशुक्लेन प्रकाशितः। तत्र प्रथमखण्डे प्रणयप्रदीपम्, हृदयेश्वरी, महातीर्थम्, अलका, ईशा, भिन्नपुलिनं च षडकाव्यसङ्ग्रहात्मकग्रन्थाः विद्यन्ते। द्वितीयखण्डे दिशाविदिशा, महान्, एकदा, ऊर्मिचूडा, शून्यनाभिः, निम्नपृथिवी च सङ्ग्रहात्मकाः षड्लघुकथाग्रन्थाः सन्ति। कवेः बहवः उपन्यासाः सन्ति। अतएव तृतीयखण्डे क्रमशः तिलोत्तमा, शीतलतृष्णा, प्रतिपद्, आवर्त्तम्, अरुणा, निकषा, ऋतम् चेति सप्त उपन्यासाः सङ्कलिताः सन्ति। चतुर्थखण्डे मधुयानम्, अञ्जलिः, विसर्गः, शिखा, शशिरेखा, ॐ शान्तिः चेति सङ्कलिताः सन्ति।

तस्य दिशा विदिशा इति संग्रहे गुञ्जा इति कथायां योतुकसमस्या वर्ण्यते। यत्र यौतुकहेतोः कथानायिकायाः विलासवत्याः दुहितुः गुञ्जायाः मृत्युः सञ्जातः। रजमहोत्सव इति कथायां द्वयोः सख्योः रमायाः नलिन्याश्च परस्परम् अबाधप्रेम वर्ण्यते। परन्तु आभिजात्यसम्पन्नगृहे विवाहादनन्तरम् उभयोः प्रेम दूरीभवति।

ऊर्मिचूडा इति तस्य सर्वश्रेष्ठकथासङ्ग्रहः। अत्र मुख्यतः मनुष्यस्य आत्मविश्वासः वर्ण्यते। कथानायिका जेमादेवी आत्मनः वध्वां कदापि न विश्वसिति। परन्तु रेलस्थानके एका अपरिचितव्यक्तिः स्वद्रव्यं द्रष्टव्यमिति कथयित्वा विहाय च बहिर्गतवान्। तदानीं जेमादेव्याः मनसि वधूं प्रति समादरः जागर्ति। तद् यथा- मातः! मम पेटिका अस्ति.... द्रष्टव्या ...। अहम् अनुपदम् आगच्छामि। वचनेऽस्मिन् जेमादेवी चकिता। जेमादेवी निजपेटिकां पुनः संस्पृश्य चिन्तयितुमारब्धा- किमियं मयि विश्वसिति? कथं वा विश्वसिति? अविश्वासपूर्णेऽस्मिन् लोकव्यवहारे केयं विश्वासभूमिः? यदि सर्वत्र अविश्वासः तर्हि संसारः चलति कथम्? सत्यं, व्यवहारो विश्वासेनैव चलति। सहसा वृद्धाया मनसि वधूं प्रति समादरः प्रगुणितः। तस्या आकृतिः सम्मुखे स्पष्टाऽभवत्।

निम्नपृथिवी इति कथासङ्ग्रहे केशवचन्द्रदाशेन विरचिताः सप्तत्रिंशत् लघुकथाः सन्ति। अस्य कथासंग्रहस्य कथाः वस्तुदृष्ट्या भागद्वयेन विभक्तुं शक्यन्ते। अत्रत्याः कतिपयाः कथाः संकेतेन कथाविषयं प्राप्नुवन्ति। एताः प्रायेण कस्माच्चित् चिन्तनात् तर्काद् वा उद्भूताः। आसु कथासु सहजमनायासं वर्णनमेव न वर्तते अपितु कालविशेष- परिस्थितिविशेषाभ्यां प्रभावितपात्राणां मनोदशानां सूक्ष्मचित्रणमस्ति। कथाः एताः विशालकायाः न सन्ति, परन्तु पाठकस्य मनसि गभीरं प्रभावं पातयन्ति। अतीतेन सह वर्तमानस्य सन्तोलनपूर्वकवर्णनेन कथाः बहुत्र अत्युत्तमाः जाताः यथा- युगान्तिका, स्मितस्यन्दा, श्वेतवसन्तः, निर्वासनम्, इदं वनम्... इयं ज्योत्स्ना .. इत्यादिकथाः। पुरातनविषयाः अपि नवप्रयोगैः नव्यतां गताः।

जनार्दनहेगडेवर्येण १८ ग्रन्थाः रचिताः, ८ ग्रन्थाः सम्पादिताः, ८ ग्रन्थाः अनूदिताः सन्ति। व्यूह्यभेदः अन्याश्च कथाः, संसक्तिः, बालकथासप्ततिः, अनुबन्धः, जीवनदृष्टिः, आश्रमं परितः इत्यादयः कथाग्रन्थाः। जीवनदृष्टिसम्पन्नस्य कथाकारस्य विविधानुभवानां जीवितेन संस्कृताः कथाः भवन्ति। कारणमन्तरा इति कथायामाधुनिकशैल्यां संगणकीयव्यवस्थायां प्राचीनताडग्रन्थानां छायाचित्रं मन्त्रमयस्थित्यां संरक्षणकार्यस्य विवरणम् अस्ति। संस्कृतजगति उत्तमकार्ये ज्येष्ठानां निःस्वार्थं प्रोत्साहनम्, सम्पादनादिक्षेत्रे साम्याहरणं च सम्यग्निरूपितं तत्र। वसन्तः इति कस्यश्चित् सद्यस्वदेशागतस्य

प्रवासिभारतीयस्य स्वप्नमय-निःस्वार्थ-ताडग्रन्थ-सम्पादनकार्यनिरतां पश्यामः। ममापि नीड एषः इति कथायां विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व इति वदन् पूजकः रङ्गभट्टः कथं वर्णहीन-गन्धहीन-स्वादहीनद्रव्यैः देवं पूजयति इति सम्यक् निरूपितं कथाकारेण। रहसि किञ्चन ... धरसि किञ्चन इति कथायाम् उत्तराखण्डस्य मर्मन्तुदं प्रलयस्याधारेण लिखिता कथा यत्र आलेख्यमेकम् एव अस्ति। अपरं नाम इत्यस्याः कथायाः सार्थकता तु युवक-युवत्योः उभयोरेव द्वितीयनाम्नः अस्तित्वे वर्तते। गृहजनानां समीपे येन नाम्ना आख्यायेते द्वौ एव, परस्परयोः कृते तु भिन्नभिन्ननाम्ना एव परिचयः क्रियेते उभाभ्यामेव। अत्र नामवैचित्र्यं कदाचित् सहृदयानाम् अवधानकष्टाय भवेदिति चिन्तयामि। गृहजनानां प्रस्तावितं सम्बन्धं निराकृत्य आन्तर्जालपुटे ई-मेलमाध्यमेन परिचितौ परस्परमनुरागवन्तौ प्रेमिणौ आदौ प्रणयाबद्धौ, कथायाः अन्ते च विवाहितौ जातौ। सुखान्तकथायां कदाचिदान्तर्जालपुटस्य अपरम् असौविध्यं नाम किमित्यवगमयति लेखकः।

तारापदभट्टाचार्यस्य श्रेष्ठकृतिः कथाद्वादशः। कथाद्वादशः इत्यस्मिन् कथासंकलने द्वादशः कथाः सन्ति याः २००१ ख्रीष्टाब्दे संस्कृतसाहित्यपरिषत्, कोलकातातः संग्रहरूपेण प्रकाशिताः, संस्कृतपुस्तकभाण्डार, कोलकातातः मुद्रिताश्च। तस्य शैवली – काचित् रसोत्तीर्णा सफला कथा। तस्मादेव रसोत्तीर्णा सफला लघुकथा शैवली। कारुण्यं यस्याः अङ्गीरसः एव। पश्यामः तावत् शैवल्याः प्रारम्भः- "आसीत् काचित् कन्यका शैवली नाम। केकरा, कृष्णा, खर्वा, च। विधाता यथा तिलोत्तमां सृजति तथा तिलाधमामपि, अन्यथा विभुत्वं व्याहन्यत। तां माता निन्दति, नाभिनन्दति पिता। वर्धते च दिने दिने, न शुक्लपक्षे यथा शशी, किन्तु कृष्णायां निस्तारका अमानिशेव।" कथा आपतिता करुणारहितायां वास्तवतायां यस्याः क्षणमपि स्थातुम् अवसरः नास्ति। वाचकाः शैवल्याः उद्विकाशस्य प्रतीक्षावसाने सति एव तस्य वर्धनस्य विपरिणामस्य प्रतीक्षायां निमग्नाः भवन्ति। इदानीं द्वित्रा वाक्यं, त्रीणि चत्वारि आभासाः इङ्गितमेव अपेक्षितानि। शैवल्याः पिता मातरं वदति- सर्वं विक्रीणाति चेदपि शैवल्याः विवाहव्ययः न आगमिष्यति, माता वदति ...कः ग्रहीष्यति एताम्? कथञ्चित् विवाहः तु भवतु, तदनन्तरं श्वशुरकुले दासीरूपेण एव जीवेत्। लघ्वी शैवली किमपि नावगम्यापि उक्तवती तिष्ठ तिष्ठ द्रक्ष्यति यथाकालं राजपुत्रः आगम्य मां स्वीकृत्य गमिष्यति बहुदूरम्। तदनन्तरं क्रन्दन्तः एव स्थास्यन्ति।

अथ भेजालकथा इत्यत्र भेजाल इति शब्दस्तु बङ्गीयरूढशब्दः। यस्मात् संस्कृते बङ्गव्यवहारादेव अपद्रव्याणां संमिश्रणार्थे एव गृहीतः। तस्मात् आधुनिके जीवने भेजालसर्वस्वतायाः चित्रं, द्विराचारः, पाखण्डम् आदि दार्शनिकतत्वेन व्यङ्ग-विद्रूपेण च सह सुचारुतया सरसतया चित्रितं तारापदभट्टाचार्येण अथ भेजालकथा इति कथायाम्। कथायां जम्बुद्वीपकथां जिज्ञासुभ्यः मुनिभ्यः भेजालकथां वक्तुकामः नारदः वदति उत्तमेन सह अधमस्य संमिश्रणमेव भेजालः, अपि च तं मिश्रितद्रव्यमपि भेजालमिति कथयति, यथा ब्रह्ममुहूर्तम्। नारदमते तत्र आलोकेन सह अन्धकारस्य मिश्रणात् तदपि भेजालमिति।

अहो हास्यरसनिपुणा कथाप्रतिभा प्रकटिता तेन गदाधरविवाहकथायाम्। वाक्यगतः, वेशगतः, क्रियागतः इत्येतेषु त्रिविधेषु हास्यरसेषु सः वाक्यगतहास्यरसमेव परिवेशितवान् अत्र। क-तः क्षं यावत् पठित्वा यदा गदाधरः दीर्घश्वासं त्यक्तवान् तदा माता पुत्रं गुरोः सकाशमानीतवती। तस्य कथायां "श्रुतञ्च

बहुनिर्मलम्" दरीदृश्यते। "गदाधरविवाहकथा" इत्यस्यां कथायां हास्यरसः स्फुरणं वाचकानां निर्मलानन्दाय भवति लेखकस्य निर्मलज्ञानम्। चतुर्दश-माहेश्वरसूत्राणां प्रसङ्गमानीय अध्यापक-गदाधरयोः परिप्रश्ने पर्यवेक्षणे च हासविच्छुरणं जनयति। "केन कृतम्" इति पृष्टे सति अध्यापकेनोक्तम् "नृत्यावसाने नटराजो नवपञ्चवारान् ढक्कां ननाद। तत एतानि उत्पन्नानि" इति। अहो सुपरीक्षाकामी विद्यार्थी गृहमागम्य ढक्कां च संगृह्य वादयित्या आविष्कृतवान् यत् तस्मात् अ इ उ ण् इति ध्वनिः न निर्गच्छति। अनन्तरं गुरवे अनुयोगं करोति यत् गुरुणा सः मिथ्या अववोधितः इति।

प्रभुनाथद्विवेदिनः कथाः समाजस्य विविधपक्षान् उद्घाटयन्ति। अत्र लेखकः आदर्शवादी दृश्यते, मानवीयमूल्यानां पुनप्रतिष्ठार्थं यतते। प्रतिकथं कथासारः कथान्ते पुनः श्लोकाकारेण प्रदीयते। कथाशैली तथैव, दीर्घदीर्घवाक्यानि काव्यमयानि क्वचित् बाणभट्टीयशैलीमनुहरन्ति। यद्यपि पारम्परिकशैल्या दीर्घवर्णनानि अस्य विरक्तजनकानि न सन्ति, तथापि आधुनिकपाठकानां धैर्यसीमा त्रुट्यति। तथापि सामाजिकमूल्यानां मानवीयव्यवहाराणां विश्लेषणे लेखकस्य शैली महीयते। विविधवर्णमय्यः इमाः कथाः संस्कृतलघुकथासंसारे स्वीयं वैशिष्ट्यम् अङ्कयन्ति।

प्रमोदकुमारनायकस्य हास्यरससमन्विताः कथाः कस्य मोदाय न सन्ति। ताः सन्ति-शिक्षकसङ्ग्रामसमितिः, केलिकदम्बकस्य इस्पातशिल्पम्, क्रन्दति अनुनासिकः, कादम्बिनी-निरोधिनी समितिः, अहो राजधानी, हासयोगाणकार्यक्रमः, कवितापाठोत्सवः, प्रगतिपथे, तृतीयनयनम्, श्रीकृष्णस्य दुर्गतिः, उवाच कण्डुकल्याणः, वाए डाडि वाए, प्रौढशिक्षाकेन्द्रम्, उपाधिः, दुर्दृशा देवगुरोः, नेत्रीरूपेण संस्थिता, अधिवेशनम्, बजेट्, डङ्किप्रस्तावः, कीलकानन्दः, अथच कृषकः, मिलितमन्त्रिमण्डलम्, नाटकम्, प्रतियोगिता, लोकलीला, पुनर्नवीकरणम्, पशुपाललनीतिः, साक्षात्कारः, वनभाषा चेति। समाजे बहवः खाद्यवासवसनविहीनमनुष्याः दारिद्र्यस्य शक्ताघातैः रोगजर्ज्जरिताः सन्तः बहुकष्टमनुभवन्ति। परन्तु कुक्कुरस्तथा नास्ति। लेखकस्य श्रीमतो नायकस्य भाषया

.....विदेशिकुक्कुरजन्मनः माहात्म्यम् अपूर्वम्। चरितम् अनन्तम्। ..... परन्तु अधिकधनप्रदानपूर्वकं क्रीतः विदेशिकुक्कुरः प्रत्यहं स्नेहसागरे सन्तरति। ... न खलु साधारणमानवाः परन्तु वित्तशालिनः, उच्चपदाधिकारिणः ज्ञानिनः सयत्नं पालयन्ति। एतस्य प्रथमागमनदिने गृहे उत्सवः भवति। यत्र कुत्रापि गच्छन्ति, प्रथमतः अस्यैव विषये आलोचयन्ति। अस्यैव कीर्त्तिं विचारयन्ति। मिटु, पपु, डन्, जन् इत्यादि नाम्ना आह्वयन्ति। ... प्रातर्भ्रमणं सायं भ्रमणं वा भवतु। यानेन कः गच्छतु वा न गच्छतु। स्नेहपालितः मिटुः (कुक्कुरनाम) अवश्यं गमिष्यति। गृहस्वामिनी तु तं विना क्षणाय जीवितुमसमर्था। ..... गृहस्वामिन्याः प्रकोष्ठमपि एतस्य कृते उन्मुक्तम्। महाविद्यालयपाठिनी कन्या तु गमनागमनकाले अवश्यम् अस्य मुखे चुम्बं प्रददाति। तस्याः उद्धतवक्षोदेशे वारं वारम् आलिङ्गति।

कुक्कुरस्य खाद्यपेयस्य विषये- अस्माकं कृते शुष्का रोटिकाऽपि कदाचित् न लभ्यते परन्तु एतस्य कृते मांसादिकम् अवश्यं प्रत्यहं मिलिष्यति। सूपकारः सयत्नं करिष्यति पाककार्यम्। तत्रैव, पृ.३२।

कुक्कुरस्य स्नानविषये- .....परन्तु विदेशिकुक्कुरशरीरं सुगन्धफेनकैः प्रक्षालितं गृहभृत्येन नातिशीतोष्णजलेन।तत्रैव, पृ.३२।

ऋषिराजस्य रक्तशाटीधारिणी माता इति कथा मानवीयमूल्यमूलभूतायाः शिशोः मातृभक्तेः विशदीकरोति। जीतुः उत्सवदिनेषु सज्जिता माता, मन्दिरे विराजमाना देवीमाता इत्यनयोः साम्येन प्रभावितः मातुः अवर्तमाने देवीं स्मरति। तत्र स्थितं सिंहं कथाकारः पितुः पितामह्याश्च क्रूरतायाः प्रतीकं मनुते। मध्यरात्रौ अग्निदाहेन मृतां मातरं स न विस्मरति। पितरं पितामहीं च आरक्षकाः नीतवन्तः। अनाथं तं मातृष्वसा कानिचित् दिनानि पालयित्वा क्रैस्तमिशने त्यजति। अस्य हस्ते स्थितां रक्तशाटीधारिण्याः मातुः चित्रं दृष्ट्वा धर्मीयासहनाभावेन बलात् अधिग्रहणं, पुनः भगिनीमागरिटायाः वात्सल्ये स पुनः मातृत्वमाविष्करोति। तत्रत्या धवलवसनवृतां मूर्त्तिं पश्यन् रक्तशाटीधारिणी माता धवलवसनावृता जाता इति चिन्तयति। देव्याः मानव्याः वा, हिन्दोः क्रैस्तीयस्य वात्सल्यं समानं भवति पुत्रं प्रति, पुत्रः अपि सर्वत्र समानं मातृत्वं पश्यतीति कथाकारः दृढं निरूपयति।

ऋषिराजस्य कथाः विविधजीवनरागरञ्जिताः सन्ति। शत्रुः, मातरौ, गर्भपातः, कैकयी आदि कथाः नार्याः मातृत्वरूपानुभूतिगम्यं चित्रणं कुर्वन्ति। 'रुधिरकूपः' कथा भारतीयसमाजे अद्यापि दलितानां दुःखदां स्थितिं तथा अस्पृश्यताप्रथां सामाजिकासमानतां च अभिव्यनक्ति। इदमेव कारणम्- सामाजिकशोषणेन अस्पृश्यतापीडनेन वा हिन्दुसमाजस्य बहवः जनाः इसाईधर्मं स्वीकृतवन्तः। 'वसन्तपञ्चमी' कथा साम्प्रतिकसमाजे स्वपादमूले स्थितायाः निमीषायाः कथा या मातुः दायित्वं वहन्ती अपि स्वविवाहव्ययमर्जितवती। परन्तु तस्य व्यवस्थानिमित्तं कति वसन्तपञ्चम्यः अतीताः कः जानाति? 'गणितम्' कथा प्रमितेः जीवनमपि गणितसमीकरणमिव समीकृतं भवति परन्तु कथाकारः निष्कर्षरूपेण वदति, जीवने सम्बन्धानां गणितं भिन्नमेव भवति – तत्र भावनानामपि स्थानमस्ति। कैकयी तथा 'गणितम्' इति कथाद्वये नायिकाद्वयस्य विशालपरिवारात् भिन्नस्य एकलपरिवारस्य तथा नगरं प्रति धावमानस्य युववर्गस्य कथा वर्तते। 'यन्त्रम्' कथायां यन्त्रायमानस्य लौहायमानस्य मनुष्यहृदयस्य कथा वर्तते। अद्य मनुष्यः मानवीयभावविरहितः केवलं यन्त्रवत् कार्यं करोति। एवं तस्य सर्वाः कथाः वर्तमानजीवविसङ्गतिभिः विडम्बनाभिः ओतःप्रोताः सन्ति। कथानां भाषा सहजा सर्वत्र कथासु अनिर्वचनीया नित्यनूतना शैली तथा पठनोत्सुकता, जिज्ञासा, अचिन्तितान्तिमपरिणतियुक्तता इत्यादिगुणाधाने अन्तिमपङ्क्तिं यावत् पाठकानां मनोनुरञ्जने, कथाकारः स्वोद्देश्यपूरणे सफलः प्रतीयते।

शेषकथांशः इति प्रवीणपण्ड्यामहोदयस्य। अत्रत्या प्रथमा कथा चोरः इति यत्र स्वशिष्यं चोरमिति सम्बोध्य, तथाकरणे सन्ताड्य वस्तुस्थितिं ज्ञात्वा पश्चात्तपति प्राचार्यः कालिकाप्रसादशास्त्री। अकथा इति द्वितीयकथायां कविः साम्प्रतिकधरायाः कथामेव प्रस्तौति। तदा तदा वेनराजस्य अत्याचारेण अन्येषां परिपीडनेन च पौराणिकसाहित्ये पृथिवी एव पृथ्वीवासिनां प्रतिनिधिः रूपेण देवानां पार्श्वे प्रार्थनां करोति। अत्र कविः साम्प्रतिक्या पृथ्व्या अतीतस्य भव्यतां स्मरति। अतीतेन च वर्तमानं परामृशति राम-विभीषणादिरूपकल्पैः। नार्याः नासिकाकर्तनं योग्यमयोग्यं वा विचारयन् वक्ति तदेव नार्याः असम्माननमेव मूलं सकलस्यापि युद्धस्य - अन्याय्यप्रतीकारस्य मुहूर्तं दैवज्ञा नावलोकन्ते, वीरश्चिनुते। "स हतः, असौ मारितः, ते नष्टाः, स आहतः ।" चर्चेयं लङ्कायाः प्रतिवार्तापत्रं मुखपृष्ठे मुद्रितामैषमः पठितुमारभन्त दितिजाः। एकस्मिन् दिने तु सर्वासां दिनपत्रिकाणां सदृशमेव शिरोवाक्यम्- "राजभगिन्या

नासिकायाः कर्तनम् ।" राजभगिन्याः शूर्पकल्पानां नखानां कर्तनं क्षम्यं स्यात् कदाचित्, परमहो धृष्टता रामानुजस्य, येन तस्याश्छिन्ना नासिका। सम्पादकीयलेखेषु पृष्टः प्रश्नो यद् राजभगिनी छिन्ननासिका चेल्लङ्का वर्तते वा सम्प्रति सुनासा। प्रश्नमिमं पठित्वा रावणस्य दशस्वपि मस्तकेषु तीव्रो विषसञ्चारः कश्चित्। अथ च सीताहरणम्। हनुमल्लीला। अङ्गदप्रस्तावः। युयुत्साया बलीयान् सम्मोहः। अन्ततो रामरावणयोर्युद्धम्। किं ब्रूमः, रामरावणयोर्युद्धं नाम रामरावणयोयुद्धम्।

आधुनिककथाकारेषु विशिष्टं स्थानं वर्तते राधावल्लभत्रिपाठिवर्यस्य। स्मितरेखा इति तस्य कथासंग्रहस्य एकरूप्यकम् इति कथा यथा लेखकस्य मर्म स्पृशति, तथैव पाठकाना मर्माणि छिनत्ति। एकरूप्यकाभावात् भीष्मायिते ग्रीष्ममध्याह्ने यानात् बलादवतारिते बृद्धे कस्यापि हृदयं न द्रवतीति अत्र सामाजिकानां ताटस्थ्यं झाङ्करोति सहृदयानामपि हृदयानि।

वनमालिविश्वालस्य "धूमायितं कैशोरम्' इत्यस्यां कथायां दौर्भाग्येन, अर्थाभावेन च जीवनस्य प्रत्येकं पथि सङ्घर्षरतायै बाल्यावस्थायै लेखकस्य सूक्ष्मदृष्टिभिः संवेदनशीलः संस्पर्शः प्रदत्तः। अस्यां कथायां समाजस्य असमान-वर्गाणां भिन्न-भिन्नासु विचारधारासु संघर्षरतायाः बाल्यावस्थायाः दृश्याणि सुष्ठु प्रकाशितानि। "मध्येस्रोतः' इत्यस्यां कथायां मत्स्यजीवीनां जीवनस्य अन्तर्बाह्य-दशानां दुर्दशानां जीवन-संघर्षस्य च यथार्थभूमौ सफलं चित्रणं कृतमस्ति। "उन्मुक्त-द्वारस्य पराहतश्चीत्कारः' इत्यस्यां कथायां समाजस्य कुत्सित-भावैः, तिरस्कारैः, विरोधैश्च असफलं संघर्षं कुर्वती नायिका समाजस्य कुटिलामानवीया-तत्त्वानां बलिः भवति। विविध-संघर्षाणां मध्ये कण-कण-जीवनम् अन्विष्यन्त्याः उद्दामजीवन्तताया: प्रतीक-भूताया: अदम्यसाहसिन्याः सेवत्याः दुर्दमजिजीविषायै स्वराः प्रददत्यां "जिजीविषा' इत्यस्यां कथायां यथार्थस्य तापे अधिकाधिक-जाज्वल्यमानस्य स्त्रीसङ्घर्षस्य साहसस्य च सशक्ताभिव्यक्तिरस्ति।

राकेशकुमारदाशस्य आशा इति कथासंग्रहः संस्कृते नवनवविषयाधारितानां समाजसमस्याप्रपीडितानां कथानां नूतनामाशां सञ्चारयति। 1.आत्महत्या ,2.इन्दोश्चन्द्रिका , .3.चरमश्वासः .4,कातमिस्रा .5.का मे जननी, 6. अशिक्षितः, 7.निर्वासनम्, 8.आशा इति। तस्य आत्महत्या इति कथायां यदा समाजरक्षणनाम्ना बालविवाहं निरोध्य कश्चन समाजसंस्कारकः कस्याश्चित् प्रगतिमिच्छति, शिक्षणं प्रयच्छति तेन जातेन परिवर्तने स्वसमाजात् च्युतस्य परवर्तिकालिकीं दुर्गतिं वीक्ष्य सः आत्महत्यां कर्तुं विवशः भवति।

प्रथमपर्याये क्षमाराववर्या पद्येन एव कथां लिखति स्म। गच्छता कालेन सा गद्येन एव ताः कथाः पुनः लिखितवती। राजेन्द्रमिश्र-इच्छारामद्विवेद-राधावल्लभ-शिवप्रसादभारद्वाजादीनां मर्यादितं प्रौढं संस्कृतं यथा पाठकैः आद्रियते, स्वल्पसमासयुक्ता बनमालिबिश्वाल-नारायणदाश-कलानाथशास्त्रि-नारायणशास्त्रिकांकर-राकेशदाशादीनां शैली तथैव समादृता। प्रमोदकुमारनायक-जनार्दनहेगडे-पूजोपाध्याय-केशवदाशादीनां कथासु यत्र तत्र समयस्य चङ्क्रमणं द्रष्टुं पारयामः। शताधिकाः नवसृजननिरताः कथाकाराः आविर्भवन्ति प्रतिदिनम्। शतसहस्राः अनूदितकथाः, कथासङ्ग्रहाश्च आधुनिककथासाहित्ये नवसम्भावनाः सृजन्ति।

वस्तुत उत्तरपुरुषेषु सम्भावनागर्भं पुष्कलं सर्जनं सुप्तायितं वर्तते। सम्भावनाया विद्युच्चमत्कृतिं वयमाविष्कुर्मः सम्पदानन्दमिश्र-रणजितवेहेरा-शिवशरणकरण–नैनिहालगौतम-हेमचन्द्रवेलवालः-केशवदवे-विश्वजित् प्रामाणिक-विवेककर्मकार-बुद्धेश्वरषडङ्गि-पूजोपाध्याया-सावेरीपुरकायस्थानां कथासु। अतः एकविंशशतकीयं संस्कृतकथासाहित्यं पुनः स्वमर्यादां प्रतिष्ठापयितुं गच्छतीति निश्चप्रचम्। तेन अर्वाचीनसंस्कृतकथानामायतिः नूनमुज्ज्वलतरा स्यादिति विश्वसिमः।

सन्दर्भाः -

---

[1] भूमिका, चित्रपर्णी।

[2] अभि. यशो., 4.113-21।

[3] अभि.काव्यालं., 3.1.12-13।

[4] दूर्वा, जून्, 2005।

[5] सागरिकायाः आधुनिकसंस्कृतगद्यकाव्ये स्वर्णकालविशेषाङ्क इति (37/3-4/) अङ्कात्।

[6] केशवकलानिधिः भागः-१, कविः-केशवचन्द्रदाशः, सम्पादकः प्रकाशकश्च-डा.राधेश्यामशुक्लः, प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, प्रकाशितसम्वत्सरः-२०१३, पृष्ठासङ्ख्या-३३३, मूल्याङ्कः-९९५रूप्यकाणि।

केशवकलानिधिः भागः-२, कथाकारः-केशवचन्द्रदाशः, सम्पादकः प्रकाशकश्च-डा.राधेश्यामशुक्लः, प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, प्रकाशितसम्वत्सरः-२०१३, पृष्ठासङ्ख्या-३७६, मूल्याङ्कः-९९५रूप्यकाणि।

केशवकलानिधिः भागः-३, उपन्यासकारः-केशवचन्द्रदाशः, सम्पादकः प्रकाशकश्च-डा.राधेश्यामशुक्लः, प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, प्रकाशितसम्वत्सरः-२०१३, पृष्ठासङ्ख्या-५००, मूल्याङ्कः-११९५रूप्यकाणि।

केशवकलानिधिः भागः-४, उपन्यासकारः-केशवचन्द्रदाशः, सम्पादकः प्रकाशकश्च-डा.राधेश्यामशुक्लः, प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, प्रकाशितसम्वत्सरः-२०१३, पृष्ठासङ्ख्या-५००, मूल्याङ्कः-१३९५रूप्यकाणि।

सादृश्यतत्त्वपरकाः केचित् अलंकारशास्त्रसिद्धान्ताः

• डॉ. शुभ्रजित् सेनः*

शोधसारः – 'सदृशस्य भावः ष्यञ्। सादृश्यं खलु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मरूपे उपमानधर्मे। काव्यप्रयोजनप्रसङ्गे उपदेशस्वरूपमाह मम्मटः सादृश्यमुखेन रामादिवदिति। काव्यकारणप्रसङ्गे अपि दण्डचक्रादिप्रसङ्गेन सादृश्यतत्त्वं प्रत्यक्षतया आलोचितम्। रसस्य रूपान्तरपरिणमनं प्राचीनैरालंकारिकैः सादृश्यमाश्रित्यैव सदृष्टान्तमुक्तम् – रसाः प्रतीयन्ते इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहार इति। गुणलक्षणे शौर्यादिपदप्रयोगात् प्रतीयते यत् शब्दार्थमये काव्यशरीरे रसाङ्गिधर्माः गुणाः नित्यं वर्तन्ते। सादृश्यमुपजीव्यैव दृष्टान्तेन विषयोऽयं व्याख्यातुं चेष्टते वामनाचार्यः। इत्थं रीतिप्रस्थानेऽपि बहुत्रैव सादृश्यतत्त्वमाधारीकृत्य शास्त्रकृद्भिः वामनेन तथा च तदनुयायिभिः रीतितत्त्वं सारल्येन व्याख्यातम्। सादृश्यपरकाः अर्थालंकाराः सोदाहरणमत्र विचार्यन्ते इह प्रबन्धे। न ह्यत्र सर्वे सिद्धान्ता प्रतिपाद्याः, केचिद् विशिष्टाः काव्यशास्त्रीयसिद्धान्ताः, ये सादृश्यतत्त्वसम्भूतास्ते अत्र विवेच्यन्ते।

बीजशब्दाः – सादृश्यम्, उपमा, अनुप्रासः, शौर्यादिगुणः, दण्डचक्रादिन्यायः चेति।

'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'[1] इति काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकृत्। सूत्रान्तर्गते अलङ्कारादिति पदप्रसङ्गे द्वितीयसूत्रे प्रोक्तं – *'सौन्दर्यमलङ्कार'*[2] इति। सूत्रस्यास्य व्याख्यानावसरे वृत्त्यंशे तेनोक्तम् – *'अलङ्कृतिरलङ्कारः। कारणव्युत्पत्त्या पुनः अलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते'*[3]। अत्र स्पष्टमिदं यत् वामनेन आदौ भाववाच्यनिष्पन्नो व्यापकार्थः साधारणार्थो वेति उल्लिखितः। ततः करणवाच्यनिष्पन्नसंकीर्णार्थः अलङ्कारशास्त्रसम्मतः पारिभाषिकार्थो वा उक्तः। वामनस्यायम् अभिप्रायो व्यक्तः *कामधेनुटीकायाम्* – *'अत्र भावव्युत्पत्तेर्विवक्षितत्वात् अलङ्कारशब्दो भावार्थमाचष्ट इत्याह अलङ्कृतिरलङ्कार इति। अलङ्कारशब्दस्य करणव्युत्पत्तिपक्षे तु न गुणानां काव्यग्रहणहेतुत्वमिति.....तस्मात् पद्मे पङ्कजशब्दवदलङ्कारशब्दः कटकमुकुटादिष्विव यमकोपमादिषु योगरुढ इत्यवगन्तव्यम्'*।

साधारणदृष्ट्या सौन्दर्यविषयकं शास्त्रं निगद्यते अलंकारशास्त्रमिति। परम् अलंकारपदेन शब्दार्थालंकार-गुण-रस-रीति-दोष-ध्वन्यादिकाव्यशोभायाः उत्पादकानां वर्धकानाञ्च उपादानाञ्च ग्रहणं भवति। *काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्,*

*सहायकाध्यापकाः, संस्कृतविभागः, गौडवङ्गविश्वविद्यालयः, मालदा, पश्चिमवङ्गः।

रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराश्च कटककुण्डलादिवत् इति उक्तम् विश्वनाथेन *साहित्यदर्पणे* प्रथमे परिच्छेदे।

ननु किं नाम सादृश्यमिति पृच्छायां *वाचस्पत्यम्* इति कोषग्रन्थे उक्तम् – '*सदृशस्य भावः ष्यञ्। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मरूपे उपमानधर्मे। तच्च सादृश्यं सप्तपदार्थातिरिक्तः पदार्थः इति मीमांसकाः। तन्मतमुक्तं मुक्तावल्यां सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थः इति मीमांसकाः। तन्मतञ्च उपमानचिन्तामणौ निराकृतम्। सादृश्यवाचकाः इवादिनिपाताः पदृशादिशब्दाश्च तत्र इवादिभिर्निपातैः सादृश्यस्याभिधाने प्रतियोग्यनुयोगिनोः समानविभक्तिकत्वं, गौरिव गवयः चन्द्रमिव मुखं पश्यतीत्यादि। अन्ये तु गवादिशब्दा एष गोसादृश्ये लाक्षणिकाः इवादिशब्दास्तथा लक्षणायां तात्पर्यग्राहका इत्याहुः। तुलोपमाभिन्ननाम्ना तस्याभिधाने प्रतियोगिनि तृतीया षष्ठी च। तुलोपमाभ्यां योगे तु षष्ठ्येव। सादृश्ये च एकस्य प्रतियोगिता अन्यस्यानुयोगिता तत्र प्रतियोगिन उपमानत्वमनुयोगिनः उपमेयत्वमिति। उपमानोपमेयभावस्य द्वयोः सम्भवे अपि प्रसिद्धस्यैव प्रमाणता। तत्र काव्ये केषाञ्चिद्वस्तूनां कुत्रचिदुपमानतया वर्णनं युक्तं तन्निर्णीतं कविकल्पलतायाम्...'। शब्दकल्पद्रुमे* अप्युक्तं प्रायः सममेव – '*सदृशस्य भावः इति विग्रहे सदृशशब्दादुत्तरं ष्यञ्प्रत्ययेन सादृश्यमिति पदं सिद्धम्। सदृशत्वं नाम सादृश्यमिति। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति सिद्धान्तमुक्तावली*'।

यः शब्दः कयाचित् शक्या साधर्म्य-सादृश्य-साम्यादिशब्देषु अन्यतरस्य बोधं सम्पादयितुं सक्षमः, स उपमावाचकः। अतः साधर्म्य-सादृश्य-साम्यविशिष्टशब्दानां धर्मेषु अन्यतरबोधकस्तावत् उपमावाचक इत्युच्यते। 'मुखं कमलमिव मनोज्ञ'मिति वाक्ये इवशब्देन मुख-कमलयोः मनोज्ञत्वरूपेण साधारणधर्मेण सह सम्बन्धो बुध्यते। अतः, मुख-कमलयोः साधर्म्यस्य ज्ञानाय इवशब्दः अत्र उपमावाचकः। रस-गुण-दोष-रीत्यलंकाराद्युपादानविशेषान् व्याख्यातुम् आलंकारिकेण विश्वनाथेन औपम्यवादिशब्दाः प्रयुक्ताः। साधारणतया शब्दार्थालंकारेषु प्रतिपदमेव औपम्यवाचि सादृश्यतत्त्वं निहितं वरीवर्ति, परम् विशेषार्थे प्रयुज्यमानेषु सौन्दर्यसाधकवर्धकोपादानेषु क्वचित् सादृश्यसिद्धान्ताः सन्निहिता वर्तन्ते। इह बन्धे मया सादृश्यतत्त्वपरकाः अलंकारशास्त्रगर्भसिद्धान्ताः विचार्यन्ते। न ह्यत्र सर्वे सिद्धान्ता प्रतिपाद्याः, स्थालीपुलाकन्यायेन केचिद् विशिष्टाः काव्यशास्त्रीयसिद्धान्ताः, ये सादृश्यतत्त्वसम्भूतास्ते अत्र विवेच्यन्ते।

मम्मटेन *काव्यप्रकाशस्य* प्रथमोल्लासे काव्यप्रयोजनानि उक्तानि षट्। तत्र कान्तासम्मिततयोपदेशस्तावत् अन्यतमं प्रयोजनं काव्यस्य। वृत्तौ उक्तम् – *तत् कान्तेव सरसतापादानेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोग्यं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्* इति। कान्तेव कामिनीव। सरसतेत्यादिना कान्तासादृश्यं दर्शितम्। उपदेशस्वरूपमाह मम्मटः सादृश्यमुखेन रामादिवदिति। *हितकर्तव्यत्वाहिताकर्तव्यत्वपरमेतत्। तेन रामकृतवालिवधसदृशस्यापि अकर्तव्यत्वम्, रावणकृतहरपूजादेश्च कर्तव्यत्वं बोध्यमिति* उद्द्योते स्पष्टम्।

काव्यस्योत्पत्तौ को नाम हेतुरिति पृच्छायां मम्मटेन कारणत्रयमुक्तम्। शक्तिर्निपुणता अभ्यासश्चेति त्रयो हेतवः काव्यप्रकाशकृता उक्ताः। तथाहि वृत्तौ उक्तम् – *काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति*

तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुण्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः इति। व्याख्यातमिदं चक्रवर्त्यादिभिः – समुदिताः दण्डचक्रादिन्यायेन परस्परसापेक्षाः। व्यस्ताः तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकं कार्यजनकाः। कारणत्रयमिदं करणे उक्तरूपतया निष्पादने योजने प्रबन्धरूपतया संघटने इति जयन्तभट्टोक्तनियमानुसारं तृणारणिमणिन्यायेन मिथः न पृथक्तया, दण्डचक्रादिन्यायेन मिलिततया काव्यनिर्माणे हेतुः। प्रदीपटीकायामुक्तम् – *इतिशब्दो मिलितोपस्थापनाय। अन्यथा तद्वैयर्थमेव स्यात्। तथा च काव्यस्योद्भवः उत्कृष्टोत्पत्तिः। न तु मिलितत्वेन कारणतैवेति भ्रमः कार्यः*। तथाहि रुद्रटेनोक्तं काव्यालंकारे – *त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्ति -रभ्यासः*। अत्रापि काव्योत्पत्तौ कारणत्रयसत्त्वेऽपि एक एव हेतुरिति व्याख्यातुकामेन मम्मटेन दण्डचक्रादिन्यायः आश्रितः। अत्रापि दण्डचक्रन्यायोल्लेखात् सादृश्यमेवोक्तम्।

मम्मट-विश्वनाथादिभिः आर्थी शाब्दी चेति व्यञ्जनायाः द्वैविध्यमुक्त्वा शाब्दीव्यञ्जनायाः पुनः अभिधामूलत्वेन लक्षणामूलत्वेन च भेदौ प्रदर्शितौ। तत्र *अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते..*[4] इत्यादिना अभिधामूलां व्यञ्जनामाह। संयोगाद्यैरित्यत्र संयोगपदेन समभिव्याहृतानां पदार्थानां सम्बन्धो बोध्यव्यः। आदिपदेन विप्रयोगादयो गृह्यन्ते। ते च के इति आकाङ्क्षायामुक्तं भर्तृहरिणा –

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

उद्द्योतकारास्तु साहचर्य्ये सादृश्यम्, सदृशयोरेव प्रायेण सहचरणदर्शनात्, शब्दयोरपि सदृशार्थयोरेव सहप्रयोगः इत्युपसर्गाच्चेत्याहुः।

रसस्वरूपं विवक्षुणा विश्वनाथेन *साहित्यदर्पणे* उक्तम् –

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ।। इति।

रसोत्पत्तौ रूपान्तरपरिणामे दृष्टान्तः – *अम्लसम्बन्धेन दुग्धस्य दधिभाव* इति। अर्थात् दुग्धं यथा अम्लयोगात् दधिरूपेण परिणम्य आत्मानं दधित्वेन व्यनक्ति तथा सहृदयवृत्तिविभावादिज्ञानमेव युगपद्रसरूपेण प्रकाशते इति भावः। अयमाशयः अत्र यत् दुग्धमेव अम्लद्रव्ययोगेन दध्यादिरूपतया परिणमते। मृत्तिका एव कुलालव्यापारात् घटरूपेण परिणम्य आत्मानं घटत्वेन व्यनक्ति। एवं दध्यादिन्यायेन सामाजिकवृत्तिरत्यादिस्थायिभावः काव्योपस्थापितविभावादियोगेन रूपान्तरपरिणतश्चिदानन्दचमत्कारस्वरूपं प्राप्तः रसात्मकत्वेन आत्मानं प्रकाशयति।

रसस्य रूपान्तरपरिणमनं प्राचीनैरालंकारिकैः सादृश्यमाश्रित्यैव सदृष्टान्तमुक्तम् – *रसाः प्रतीयन्ते इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहार* इति। यद्यपि रत्यादीनां नायकादिनिष्ठतया पूर्वसिद्धत्वम् अस्त्येव तथापि सामाजिकनिष्ठतया ज्ञानात् पूर्वमिह असत्त्वं विवक्षितम्। रत्यादीनां प्रत्ययात् पूर्वन्तु रसत्वं नास्तीत्यर्थः। एतेन प्रतीयते पूर्वं रससत्ता न वर्तते इति कृत्वा दीपदृष्टान्तो न युज्यते किन्तु पूर्वोक्तो दध्नः सादृश्यमेव युक्तम्।

भट्टलोल्लटस्य व्याख्याने अनुकार्ये रामादौ एव रसनिष्पत्त्या सामाजिके रसनिष्पत्त्यभावात् सामाजिकानां चमत्कारान् आपत्तिरित्यभिरुचिं मनसि निधाय *स्थायिनो विभावादिभिरुक्तरूपैः संयोगात् अनुमाप्यानुमापकभावरूपात् संबन्धात् रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरिति सूत्रार्थः* इति श्रीशङ्कुकसम्मतं द्वितीयं व्याख्यानम् आह - *राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयम् इत्यौत्तरकालिके वाधे .....*इत्यादिना। वृत्तौ उक्तासु सम्यक्-मिथ्या-संशय-सादृश्यादिप्रतीतिषु *राम एवायम्, अयमेव रामः* इति उदाहरणद्वितये सम्यक्प्रभृतीनां दृष्टान्ताः दत्ताः श्रीशङ्कुकेन। *अयमेव राम* इत्युदाहरणे एवपदस्य विशेषार्थः अनुधावनीयः। इयं सम्यक्प्रतीतिः द्विविधा भवितुम् अर्हति। तद्यथा – (क) विशेष्यविशेषणयोः अयोगः (ख) विशेषणे विशेषान्तरसम्बन्धस्य अवच्छेदस्य अवग्रहणम्। पूर्वोक्ते उदाहरणे *राम एवायम्* इत्यत्र विशेष्ये विशेषणस्य अयोगात्मिका प्रतीतिः। अपि च, *अयमेव रामः* इत्युदाहरणे विशेष्यस्य योगात्मकव्यवच्छेदस्य अवग्रहणात्मिका प्रतीतिर्भवति। अपि च, वृत्तौ मम्मटाचार्येण सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतयः उक्ताः। ताश्च प्रतीतयो यथा – (क) राम एवायमेव राम इति (ख) न रामोऽयम् (ग) रामः स्याद् वा न वायमिति (घ) रामसदृशोऽयमिति। प्रतीतिचतुष्टयमध्ये रामसदृशोऽयमित्यत्र सादृश्यप्रतीतिमूलकं शब्दज्ञानं भवति।

काव्यप्रकाशस्य पञ्चमोल्लासे मम्मटेन गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अष्टविधत्वमुक्तम्। तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाष्टकमध्ये आद्यं तावत् अगूढमिति। अगूढस्य व्यङ्ग्यस्य वाच्यत्वाभावात् मुख्यत्वमेव, न तु गुणीभूतत्वम् इति आशङ्कां निवारयितुं गूढस्य मुख्यत्वं सदृष्टान्तं सादृश्येन आह मम्मटः – *कामिनीकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव*। कामिनीकुचकलशन्यायेन इत्यर्थः। गूढं नाम किञ्चिद् गूढमित्यर्थः। यथा कामिनीकुचकलशस्य किञ्चिद्गूढतानिबन्धनमेव चारुत्वं तथा व्यङ्ग्यस्यापि इति भावः। एवं कामिनीकुचकलशन्यायेन सहृदयैकवेद्यमेव व्यङ्ग्यं ध्वनित्वम् उपयाति, सहृदयैरपि दुःखसंवेद्यम् असहृदयैरपि वेद्यं वेति उभयमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेवेति बोध्यम्।

भट्टमतोपजीविनां भट्टलोल्लटादीनाम् अभिमतं पक्षम् आशङ्कते मम्मटाचार्यः – *ये त्वभिदधति..*इत्यादिः। यथा बलवता प्रेरित एक एव इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपोः वर्मच्छेदं मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते, तथा सुकविप्रयुक्तः एक एव शब्दः एकेनैव अभिधाख्यव्यापारेण पदार्थोपस्थितिम् अन्वयबोधं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च जनयतीति कृत्वा व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्य अर्थस्य वाच्यत्वमेव इत्यर्थः। अर्थात् अभिधाव्यापारस्य प्राधान्यं प्रकटीकर्तुं सादृश्यमेव अवलम्बते मम्मटाचार्यः।

मुख्यार्थहतिर्दोषः इति मम्मटमते दोषलक्षणम्। मुख्यार्थस्य अपकर्षो यस्मात् स दोष इत्युच्यते। काव्ये दोषाभावः प्रधानम्, सति दोषे गुणादेर्मूल्यं न स्यात्। तथाहि आह – *स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्* इति। रमणीशरीरं सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन तदाननम् असुन्दरं भवतीति। अत्रोपमामुखेन शब्दार्थमयस्य काव्यस्य दोषयोगादकाव्यत्वापत्तिर्भवतीति व्याख्यातम्। सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि किञ्चिद् आह्लादसम्भवात्, *अपदोषतैव विगुणस्य गुण* इति न्यायात्। आदौ दोषस्य निराकरणम् ततः गुणस्यादानम्। तस्मादेव वामनेनोक्तम् – स *दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्* [5] ।

मम्मटस्य काव्यलक्षणे अदोषौ इति पदमुल्लिख्य बहुधा आलोचनं कृतं विश्वनाथेन। ननु ईषदर्थे नञ् गृह्यताम् इति चेन्न। नञः ईशदर्थस्वीकारे अदोषौ इत्यस्य ईषद्दोषौ इत्यर्थः। एवञ्च, ईषदल्पो दोषो ययोस्तौ एवम्भूतौ शब्दार्थौ काव्यमिति लक्षणे उक्ते सति निर्दोषयोः कदाचित् कविना दोषाभावेन रचितयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वं न स्यात्, ईषद्दोषत्वरूपकाव्यलक्षणस्य तत्र अव्यापनात्, अथ उक्ताव्याप्तिं परिहर्तुं पुनः शङ्कते - सति सद्भवे ईषद्दोषौ इति चेत्। न एतद्वक्तव्यं काव्यलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। यथा रत्नलक्षणं चिकीर्षुणा महामूल्यं तैजषत्वं रत्नत्वम् इत्येव लक्षणं क्रियते, कीटानुवेधादिरहितत्वे सतीति विशेषणन्तु परित्यज्यते, तथा काव्यलक्षणं चिकीर्षुणा त्वयापि गुणालंकारवच्छब्दार्थत्वं काव्यत्वम् इत्येव लक्षणं वाच्यं दोषाभाववत्त्वे सतीति विशेषणन्तु परित्यज्यम् इत्यर्थः। उक्तम् अर्थं युक्त्या प्रतिपादयति औपम्यमुखेन नाम सादृश्येन – यथा कीटानुवेधादयः रत्नस्य रत्नादिकं व्यावर्त्तयितुं न शक्ताः, किन्तु उपदेयतारतम्यमेव कर्तुमीशाः तद्वत् विवादविषयीभूतस्यापि विद्यमानाः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः तस्य काव्यस्य काव्यत्वं व्याहन्तुं नेशाः किन्तु उपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्।

बलवद्दोषसद्भावेऽपि रसप्रतीतौ काव्यत्वम् अस्त्येव इत्यत्र प्राचीनसम्मतिं प्रदर्शयितुं काचन कारिका उपस्थापिता –

कीटानुबिद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः[6]।।

तेषु वाक्येषु कीटानुविद्धानां कीटदष्टानां रत्नादीनां साधारण्येन काव्यता काव्यवेदिभिः स्वीकृता। कीटदष्टरत्नादिष्वपि यथा रत्नादित्वं नासङ्गतम्, तथा बलवद्दोषसत्त्वेऽपि रसप्रतीतौ काव्यत्वं प्राचीनैः स्वीकृतम्।

अलंकारमूलाः दोषाः मम्मट-विश्वनाथादिभिः स्वीकृताः। तत्र केचिदलंकाराः उपमागर्भाः, केचिच्च उत्प्रेक्षामूलाः चान्ये अनुप्रासगताः।

1. तत्र अनुप्रासालंकारस्य त्रयो दोषाः सम्भवन्ति – (क) प्रसिद्ध्यभावः (ख) वैकल्यम् (ग) वृत्तिविरोधश्चेति। एतेषाम् अन्तर्भावः प्रसिद्धिविरुद्ध-अपुष्टार्थ-प्रतिकूलवर्णदोषेषु भवन्ति क्रमेणैव।

2. यमकस्य त्रिषु चरणेषु प्रस्थापनम् अयुक्तदोषत्वेन दूषितं भवतीति कृत्वा अस्यान्तर्भावः अप्रयुक्तदोषे एव भवति।

3. उपमादोषः -

- उपमायाम् उपमानस्य जातिगतः प्रमाणगतो वा न्यूनताजन्यदोषः। वस्तुतः अनुचितार्थत्वदोष एवास्ति।
- साधारणधर्मस्थिते न्यूनत्वम् अधिकञ्चेति दोषः न्यूनपदत्वम् अधिकपदत्वञ्चेति दोष एवास्ति।
- उपमानोपमेययोः वा लिङ्गभेददोषः वचनभेददोषो वा भवितुम् अर्हति। अयञ्च भग्नप्रक्रमो दोष एवास्ति।
- उपमायाः कालभेद-पुरुषभेद-विध्यादिभेददोषाणाम् अन्तर्भावः अस्ति। अयमपि भग्नप्रक्रमदोषान्तर्गतः।

- उपमायाम् असादृश्यदोषस्तावत् अनुचितार्थत्वदोषः एवेति।

4. उत्प्रेक्षादोषः –

- उत्प्रेक्षायामपि मन्ये, शङ्के, ध्रुवम् एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथा अशब्दोऽपि केवलस्य अस्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् तस्य च अस्याम् अविवक्षितत्वादिति तत्र अशक्तिरस्य अवाचकत्वं दोष इति।
- उत्प्रेक्षायाम् उत्प्रेक्षितस्य निर्विषयत्वदोष अनुचितार्थत्वदोष एवास्ति।

अतः, अनुप्रास-यमकयोः द्वयोः शब्दालंकारयोः तथा च उपमा-उत्प्रेक्षयोर्थालंकारयोः सादृश्यमूलकत्वात् तत्र तत्र निहितदोषात् दोषेष्वपि सादृश्यमूलकत्वमस्तीति कृत्वा एते दोषाः सादृश्यमूलदोषा इति वक्तुं शक्यन्ते।

एवं व्यस्ततया अलंकारशास्त्रस्य बहुत्रैव सादृश्यमुपजीव्य अलंकारशास्त्रीयसिद्धान्ताः उपलभ्यन्ते। अधुना अलंकारशास्त्रस्य प्रस्थानानुसारं सादृश्यं विचार्यते।

5. गुण-रीत्योः आलोचनायां सादृश्यतत्त्वम्

गुणः खलु शब्दार्थमयस्य काव्यस्यान्तरङ्गधर्मविशेषः। अयञ्च धर्मो नित्यः। काव्यशोभायाः कर्ता तावत् गुणः। मम्मटेन काव्यप्रकाशे गुणस्वरूपमुक्तम् –

रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः[7]।।

काव्यप्रकाशस्य इमां कारिकाम् अनुसृत्य तस्य व्याख्यातारो कथयन्ति –

क). रसधर्मत्वे सति रसोत्कर्षकत्वम्।

ख). रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारि स्थितित्वम्।

ग). अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वमिति च।

वस्तुतः, रस आत्मस्थानीयः शब्दार्थौ शरीरमिति फलितम्। अत्र औपम्यमुखेन समुचितं दृष्टान्तमाह – शौर्यादय इवात्मन इति। शौर्ये ज्ञानविशेषः। स च यथा चेतनस्य आत्मनः जीवात्मन एव नाचेतनस्य शरीरस्य इत्यर्थः। तथा च अङ्गिनः शरीरे आत्मवत् काव्ये प्राधान्येन स्थितस्य रसस्य ये धर्माः साक्षात्तदाश्रिताः ते गुणा इत्यर्थः। आत्मधर्मेष्वेव गुणव्यवहारो मुख्यः, सत्यपि शरीरसौन्दर्यादौ शौर्यपाण्डित्यादिरहिते निर्गुणत्वव्यवहारात्। काव्यं खलु अङ्गम्, रसश्चाङ्गी इत्येव बोध्यते न तु अङ्गिपदाद् अङ्गरसव्यावृत्तिः, तत्रापि माधुर्याद्यनुभवात्।

रीतेरात्मा गुणः। अतः काव्यस्यात्मनो रीतेर्धर्मत्वादत्र गुणास्तु नित्याः, अनित्याश्चालंकाराः। अलंकाराद्दते गुणा यद्यपि काव्यस्य शोभासम्पादने समर्थाः, तथापि गुणस्य साहचर्यं विना अलंकाराः काव्यस्य सौन्दर्यविधानेऽसमर्था इति वामनस्याभिमतम्।

गुणलक्षणे शौर्यादिपदप्रयोगात् प्रतीयते यत् अस्माकं शरीरे यथा शौर्य-वीर्यादिधर्मा नित्यम् अचलरूपेण च विराजन्ते तथैव शब्दार्थमये काव्यशरीरे रसाङ्गिधर्माः गुणाः नित्यं वर्तन्ते। अर्थात् गुणाः

शौर्यादिधर्मवत् नित्यधर्माः। गुणाभावे काव्यं न प्रसज्यते, प्रसृतं वा उपहासास्पदं स्यात् इति तत्त्वं व्याख्यातुम् आलंकारिकैः सादृश्यतत्त्वमुपजीव्यैव गुणविवेचनं विहितम्।

पुनश्च, वामनेन काव्यालंकारसूत्रवृत्तौ गुणालंकारयोः सम्पर्कं व्याख्यातुं सादृश्यमुखेन श्लोकौ उक्तौ –

युवतेरिव रूपमङ्गं काव्यं स्वदते तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकरणविकल्पकल्पनाभिः।।
अपि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते[8]।।

अर्थात् गुणमात्रविशिष्टं काव्यं युवते रूपमिव रोचते रसिकेभ्यः। विहितप्रणयं रचितानुबन्धं सत् काव्यं युवते रूपमिव अतिमात्रं स्वदते। एवम् अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह वामनाचार्यो यत् काव्यात्मकं गुणेभ्यः च्युतं यदि, तद्वचो यौवनबन्ध्यं लावण्यशून्यम् अङ्गनाया वपुरिव विभाति। तदा जनदयितान्यपि लोकप्रियाण्यपि अलंकरणानि अवश्यमेव दुर्भगत्वं सौन्दर्यवैधुर्याद् अनादरणीयं संश्रयन्त इति श्लोकद्वयार्थः[9]।

- वामनोक्तयोर्गुणालंकारयोर्भेदं समालोच्य काव्यादर्शस्य टीकाकारस्तरुणवाचस्पतिराह - "*शोभाहेतवो गुणाः शोभातिशयहेतवः अलंकाराः इति कैश्चिदुक्तम्। शोभातिशयहेतुत्वस्याविवक्षित्वान्नायं भेदहेतुः*[10]"। गुणालंकारयोर्भेदप्रसङ्गेन भामहाचार्यस्याभिमतमपि उद्भटस्य भामहविवरणाद्ग्रन्थादवगम्यते। काव्यप्रकाशस्य अष्टमोल्लासे उल्लिखितम् -
- "समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय इत्ययन्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनानुप्रासोपमादीनां च उभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डारिकाप्रवाहेनैवैषां भेदः[11]"। भरतो *नाट्यशास्त्रे* दश गुणान् स्वीचकार –

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमौजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य चाव्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते[12]।।

तेषु गुणेषु अन्यतमं प्रसादगुणं विवृण्वतोदितमाचार्येण भामहेन - "*आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्*"[13] इति। अर्थात् काव्यस्य यदर्थः सर्वैरपि सुखेनावबुध्यते तादृशं काव्यं प्रसादवत् प्रसादगुणयुक्तम् इति। *मयूखटीकाकृता* विष्णुपदभट्टाचार्येण स्वकीयकृतौ विषयोऽयं प्रपञ्चितः - "*आविद्वदङ्गनावालं प्रतीतः प्रसिद्धः सुबोधत्वाद् अर्थो यस्य तत्। आविद्वदङ्गनावालप्रतीतार्थम्। बालस्त्रीपण्डितैः सर्वैरपि यत्र अर्थः सुखेनावबुध्यते इति भावः। एतादृशं काव्यं प्रसादवत् प्रसादगुणयुक्तमिष्यते इति पूर्वेणान्वयः। दूरुहार्थकशब्दाभाव एव प्रसाद इति भावः*"[14]। अत्रापि प्रसादगुणः स्त्रीबालादिभिः अनायासेन बोध्यः इति व्याख्यातुं दण्डी सादृश्यवाचकशब्दान् अनुक्त्वापि सादृश्यं प्रकटीकृतवान्। प्रसादवदित्यत्रापि वतिप्रत्ययः प्रयुक्तः आलंकारिकैः। मम्मटेनापि प्रसादगुणलक्षणं लक्षयितुमुक्तम् – *शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः*[15] इति। अर्थात् मम्मटोक्ते प्रसादगुणलक्षणे सादृश्यतत्त्वोल्लेखात् प्रसादगुणो यथा सर्वेषां कृते स्पष्टः अनायासगम्य इति प्रतीयते।

किञ्च, माधुर्यगुणं व्याख्यातुकामेन दण्डिनोक्तम् – मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः[16]। अर्थात् रसवत् वाक्यं मधुरं माधुर्यगुणवत्। लक्षणेनानेन माधुर्यमेव रस इति पर्यायेण प्रत्यपादि। माधुर्यं नाम गुणः, गुणास्तावत् शब्दार्थनिष्ठतया साक्षात् परस्परया वा रसोपकारकाः अभ्युपगताः, न तु रसाभिन्नतया गुणानां तत्कथमत्र माधुर्यगुणस्य रसात्मकत्वमुच्यते। रसवदिति पदेन वतिप्रत्ययप्रयोगात् सादृश्यं संनिहितं वर्तते।

प्रथमेवोक्तं *काव्यादर्शे* दण्डिना यत् रीतयः अवयवसंस्थानविशेषवत् प्रतीयन्ते। अशरीरभूतस्य आत्मावच्छेदकत्वासम्भवाद् इति आशङ्क्य शब्दार्थयुगलं शरीरं, तस्याधिष्ठिता रीतिः नामात्मा इति उपपत्तिमुन्मीलयितुम् आकाङ्क्षितपदमापूरयति। अत्र रीतेरात्मत्वमिव शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिकमित्यवगन्तव्यम्[17]। ननु का नाम रीतिरिति चेदुच्यते *विशिष्टा पदरचना रीतिः*[18]। अर्थात् अर्थेषु औपचारिकी रीतिरङ्गीकार्या। अन्यथा अर्थानाम् आत्मभूतरीतिवैधुर्ये काव्यशरीरान्तःपातः दुष्करः।

वामनेन *काव्यालंकारसूत्रवृत्तेः* प्रथमाधिकरणस्य द्वितीयाध्याये अधिकारिनिरूपणार्थमुक्तम् – *अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः*[19]। *अर्थात् इह खलु संसारे कविद्वयं सम्भवति – अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति। अरोचकि-सतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ* इति वृत्तिः। कामधेनुटीकायामुक्तम् – *कृष्णसर्पपदन्यायेन अरोचकशब्दस्तत्पुरुषमेवावगमयति। कृष्णसर्पवदरण्यमितिवदरोचकिनः इति प्रयुक्तम्, न त्वरोचका इति। ....अरोचको नाम व्याधिविशेषः। यथाह वाग्भटः – अरोचको भवेद्दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रितैः इति। ...सादृश्यमूललक्षणाव्यापारेण लक्षितावर्थावित्यर्थः। अरोचकिपदप्रयोगात् सादृश्यमुखेन विवेकीत्यर्थो लभ्यः। सतृणाभ्यवहारी नाम अविवेकी। ननु किमनेन प्रकृतानुपयोगिना रोचकित्वादिविचारेण इति चेदाह अरोचकीति।*

ननु एवं न हि शास्त्रं सर्वत्र अनुग्राहि स्यात्, को वा मन्यते, तदाह [20] वामनाचार्यः – *न शास्त्रमद्रेष्वर्थवत्*[21] इति। अर्थात् न खलु शास्त्रम् अद्रव्येषु अविवेकिषु अर्थवत् इति। शास्त्रोपदेशद्वारा आधीयमाना गुणाः संक्रामन्ति तद् द्रव्यं नाम विवेकिपदमत्र विवक्षितम्। अद्रव्येषु नाम अविवेकिषु इति। ते अविवेकिनो भवन्ति गुणहीनाः। सादृश्यमुखेन नाम औपम्येन निदर्शनमाह वामनः – *न कतकं पङ्कप्रसादनाय*[22] इति। कतकं नाम अम्भःप्रसादनबीजम्। न हि कतकं पयस इव पङ्कस्य प्रसादनाय प्रभवति। अत्रापि सादृश्यमुपजीव्यैव दृष्टान्तेन विषयोऽयं व्याख्यातुं चेष्टते वामनाचार्यः। इत्थं रीतिप्रस्थानेऽपि बहुत्रैव सादृश्यतत्त्वमाधारीकृत्य शास्त्रकृद्भिः वामनेन तथा च तदनुयायिभिः रीतितत्त्वं सारल्येन व्याख्यातम्।

प्रायः सर्वे अर्थालंकाराः सादृश्यविच्छित्तिपरकाः, अनुप्रासयमकादिशब्दालंकारा अपि सादृश्यतत्त्वोपजीव्यभूताः। एतेषामलंकाराणां मुख्यं प्रतिपाद्यं तावत् सादृश्यमेव। बन्धे इह स्थानाभावात् शब्दार्थालंकाराः सादृश्यपरकाः नात्र विचार्यन्त इति शिवम्।

सन्दर्भाः -

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (1.1.1)
2. तत्रैव (1.1.2)

3. तत्रैव (1.1.2, वृत्तिः)
4. काव्यप्रकाशः (2.19)
5. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (1.1.3)
6. साहित्यदर्पणः (प्रथमपरिच्छेदः)
7. तत्रैव (8.1)
8. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, (3.1.2-3)
9. तत्रैव, कामधेनुः।
10. काव्यादर्शः (प्रभा). (2.3)
11. काव्यप्रकाशः (अष्टमोल्लासः)
12. नाट्यशास्त्रम्, (17.96)
13. तत्रैव (2.3)
14. काव्यालंकारः (मयूखटीकासमेतः) (द्वितीयपरिच्छेदः)
15. काव्यप्रकाशः (8.70)
16. काव्यादर्शः (प्रभा) (1.51)
17. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (1.2.6, वृत्तिः)
18. तत्रैव (1.2.7)
19. तत्रैव (1.2.1)
20. न कश्चिदपि तथा मनुते इति फलितार्थः।
21. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (1.2.4)
22. तत्रैव (1.2.5)

सर्वादीनि सर्वनामानीति सूत्रस्य भाष्यार्थविचारः

• डॉ. अजयकुमारदाशः*

शोधसारः -

सर्वनामसंज्ञाविधानाय सूत्रमिदं सूत्रकारेण निर्मितम्। सर्वादीनि इत्यत्र बहुव्रीहिसमासस्य प्रतिपादनं, निपातनस्य स्वरूपचिन्तनम्, सर्वनामानि इत्यत्र निपातनाण्णत्वाप्राप्तिप्रसङ्गः, सर्वनामसंज्ञाविचारे संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधकार्यम्, संज्ञास्वरूपनिर्धारणम्, उभशब्दस्य सर्वनामत्वे तथा च भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनम् इत्येते विषयाः सन्दर्भेऽस्मिन् समाहिताः सन्ति।

बीजशब्दाः - सर्वनाम, संज्ञा, चित्रगुः, अतद्गुणः, तद्गुणसंविज्ञानम्, निपातनम्, विभाषा, उपसर्जनम्, पर्युदासः, व्यवस्था।

षड्विधेषु सूत्रेषु संज्ञासूत्रमिदम्। समुपसर्गपूर्वकं ज्ञाधातोः भावे अङि स्त्रीत्वविवक्षायां संज्ञाशब्दो निष्पन्नः। संज्ञा नाम नामकरणम्। द्विपदात्मकसूत्रमिदम्। अष्टाध्यायीग्रन्थस्य परिकल्पनावसरे भगवता पाणिनिना प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्य सप्तविंशतितमे स्थाने सर्वादीनि सर्वनामानि इति सूत्रं सर्वनामसंज्ञासाधनाय समुच्चारितम्। **सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः**[1]। येन **सर्वनाम्नः स्मै**[2], **आमि सर्वनाम्नः सुट्**[3], **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ**[4] इत्यादीनि सर्वनामसंज्ञापेक्षितानि शास्त्राणि लक्ष्यसिद्धौ विलसन्ति।

तत्र सर्वादिगणे **सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि** व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। **स्वम**ज्ञाति-धनाक्षायाम्। **अन्तरं** बहिर्योगोपसंव्यानयोः। **त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्** इत्येते पञ्चत्रिंशत् (३५) शब्दाः पठिताः[5]।

<u>अत्र विचारणीयाः अंशाः -</u>

१. सर्वादिनीत्यत्र बहुव्रीहिसमासविचारः।
२. सर्वनामानीत्यत्र णत्वाप्राप्तिविचारः।
३. प्रतिषेधे रूपमेकस्यसमीक्षा।
४. संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधविमर्शः।

* सहायकाचार्यः, स्नातकोत्तरव्याकरणविभागः, श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, श्रीविहारः, पुरी - ७५२००३ (ओडिशा)

५. सर्वनामकार्योद्दिष्टसूत्राणां प्रवृत्तिविचारः।

६. महत्याः संज्ञाकरणे हेतुः।

७. उभशब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनविचारः।

८. भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनविचारः।

१.सर्वादिनीत्यत्र बहुव्रीहिसमासविचारः -

सर्वशब्दः आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनीति बहुव्रीहिसमासः। प्रसङ्गेऽस्मिन् प्रायः अन्यपदार्थप्रधानत्वादत्र सर्वनामसंज्ञाग्रहणे सर्वादिगणपठितानां सर्वेषां ग्रहणं केवलं सर्वशब्दं विहाय भवति अर्थात् सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न सिद्ध्यति। चित्रगुरित्यत्र यस्य ता गावो भवन्ति स एवानीयते न गावः इत्यादिस्थले बहुव्रीहेः दर्शनात् सर्वादीनीति पदं संगच्छते। अतस्तद्दोषवारणायात्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासश्चोपदिष्टः। अयमर्थः अन्यपदार्थस्य गुणाः तद्गुणाः, तेषामपि कार्ये संविज्ञानं तद्गुणसंविज्ञानमित्यर्थः[6]। चित्रवाससमानय, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति। यत्र समस्तपदविद्यमानयोः पदयोः संयोगसमवायादिसम्बन्धः तदा तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः[7]। परन्तु एतद्भिन्नसम्बन्धेन अर्थात् स्वस्वामिभावादिना समस्तपदविद्यमानयोः पदयोः यदि सम्बन्धो दृश्यते तत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिरिति। यदि विग्रहवाक्येऽपि यत्र सर्वनामद्वयोर्विद्यमानता तर्हि तत्रापि तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः, यथा सर्वशब्दः आदिर्येषां **तानीमानि** इति। उद्योतग्रन्थे षष्ठितत्पुरुषकर्मधारयसमासपक्षः समालोचितः। किन्तु अन्ततो गत्वा सर्वादीनि इति नपुंसकाद् बहुव्रीहेरेव ग्रहणेन समाहितम्।

२.सर्वनामानीत्यत्र णत्वाप्राप्तिविचारः -

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात्संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने इत्यर्थकेन **पूर्वपदात्संज्ञायामगः**[8] इति सूत्रेण सर्वनामानि इत्यादौ णत्वकार्यं प्राप्नोति। तस्य पुनः **सर्वनामसंज्ञायां निपातनाण्णत्वाभावः** इति वार्त्तिकाश्रयेण निपातनाण्णत्वं वार्यते। किं नाम निपातनम्। **निपातनं नाम अविशेषेण(सामान्येन) किंचिदुक्त्वा विशेषेण नेत्युच्यते। तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवति**। अत्र अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण अणत्वं क्रियते निपातनात्। यत्र निपातनकार्यं सम्पाद्यते तत्र विकल्परूपस्य दर्शनं नैव जायते।

निपातनाच्चाणत्वं स्यात्, यथाप्राप्तं च णत्वम् इति पक्षद्वयस्य विचारप्रसङ्गे **इको यणचि**[9] इति सूत्रस्य यणादेशो यथाप्राप्तश्चेक् इति कार्यद्वयदर्शनात् निपातनाच्चाणत्वं स्यात्, यथाप्राप्तं च णत्वम् इति प्रत्यक्षीकृतम्। तत्र दोषवारणाय इको यणचि इति सूत्रे षष्ठीनिर्दिष्टो विहितः। षष्ठी विभक्तिश्च स्थानिनो निवृत्तिं साधयति। यथा दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्। तथैवादेशेन इको निवृत्तिरिति।

कर्त्तरि शप्[10] **दिवादिभ्यः श्यन्**[11] इत्यादौ शपः प्रथमान्तत्वात् कथमत्र इति जिज्ञासायां **तस्मादित्युत्तरस्य**[12] इति परिभाषया दिवादिभ्यः पदे पञ्चमीविभक्तिमाश्रित्य शबिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्प्य स्थानिनो निवर्तयति। अतः शपं बाधित्वा श्यन्नादयो विधीयन्ते। प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिका

न भवन्ति। अत्र तु प्रत्ययविधेरभावः। यतोहि श्यनः प्राक् शप् प्रत्ययः कर्त्तरि शप् इति सूत्रेण प्रचोदितः। अतः श्यन्नादेशेन एकः एव रूपः संसाधितः।

काकचोः सन्दर्भे तु **येनानाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति**[13] इति ग्रहणेन नाप्राप्ते हि के अकच् प्रत्ययस्य प्रारम्भः, अतः अकचा कप्रत्ययस्य बाधः। निपातनमपि एवं जातीयकं भवति। सर्वनामानि इत्यादौ **पूर्वपदात्संज्ञायामगः**[14] इत्यनेन नाप्राप्ते णत्वे निपातनं प्रारभ्य णत्वनिषेधो विधीयते। रघुनाथपदेऽपि संज्ञाशब्दभङ्गभिया णत्वं न।

३.प्रतिषेधे रूपमेकस्यसमीक्षा –

निपातनं यदि बाधकं स्यात् समस्तते इति स्थले दोषो दृश्यते। अत्र अन्ये वैयाकरणाः विकल्पेन लोपकार्यं विधाय **समो हिततत्तयोर्वेति** ग्रहणेन सततम्, संततम्, सहितम्, संहितम् इति स्वीकुर्वन्ति। अपि च **अपरस्पराः क्रियासातत्ये**[15] इत्यत्र निपातनेन मकारस्य लोपे सति संततमित्यस्य सिद्धिर्न। केवलं सततस्य सातत्यस्य वा दर्शनम्। अतो निपातनानि बाधकानि भवन्तीति।

सर्वादिषु ये खलु संज्ञावाचकाः उपसर्जनीभूताश्च शब्दाः सन्ति तेषां सर्वनामसंज्ञा नैव कांक्षति। तेन गणपठितेषु यः सर्वशब्दो विद्यते तस्य संज्ञापरिकल्पनेन सर्वनामसंज्ञा नैवोदेति। अतः सर्वो नाम कश्चित्, तस्मै सर्वाय देहीति प्रयुज्यते। उपसर्जनं नाम गौणम्। उपसर्जनीभूतानमपि सर्वनामसंज्ञा नैव क्रियते। यथा अतिसर्वाय देहीति प्रयोगः।

४.संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधविमर्शः -

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः कर्तव्यः इति जिज्ञासायां पाठात् पर्युदासः पठितानां संज्ञाकरणमित्याह। येन यानि खलु संज्ञोपसर्जनीभूतानि सन्ति तानि न सर्वादीनि। अवशेषाणि सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति। अत्र एतत् कार्यं विशेषेण क्रियते सर्वाद्यनन्तरकार्यार्थम्, प्रयोजनं डतरादीनामद्ङ्भावे एव। अतिक्रान्तमिदं ब्राह्मणकुलं कतरत् अतिकतरं ब्राह्मणकुलमिति। अतिकतरमित्यत्र प्रादिसमासे कतरपदमुपसर्जनं विद्यते। अतिक्रान्तार्थस्यात्र प्राधन्यम्। येन कतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाभावात् अद्डादेशो न प्रसंगायते। पुनः अतिक्रान्तोऽयं ब्राह्मणस्तम् अतितद् ब्राह्मणः इत्यादौ अतितदः इत्यस्य प्रादिसमासत्वात् तद् शब्दो विद्यते अत्र उपसर्जनरूपेण। अत्र पुनः वाक्ये अतिक्रान्तार्थो मुख्योऽस्ति इति। अतः त्यददीनामः इत्यनेन अत्वकार्यं न प्राप्नोतीति।

संज्ञाप्रतिषेधाभावपक्षेऽपि **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायमसंज्ञायाम्**[16] इति सूत्रस्य पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्। असंज्ञायाम्। एवं भावेन (योगस्य) विभागेन असंज्ञायामिति योगबलेन अनुक्रान्तानां सर्वादीनां सर्वनामसंज्ञा विधेया।

तथैव अनुपसर्जनप्रतिषेधाभावो विधेयः। अत्र **अनुपसर्जनात्**[17] सूत्रं वार्तिककारेण प्रत्याख्याते सति भाष्यकारेण अनुपसर्जन अ अत्(अदड्) इति विवेचितम्। अत्र अकाराऽत्कारौ शिष्यमाणौ अनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ इति उपसर्जनप्रतिषेधप्रत्याख्यानभाष्यं दृश्यते।

यदि पूर्वोक्तविधिना अनुपसर्जनसर्वनाम्नः अकारकार्यं अद्ड्कार्यं च सम्पाद्यते तर्हि अति युष्मद्+ङस् अति अस्मद्+ङस् इत्यत्र **पञ्चम्या अत्**[18] इति सूत्रेण विभक्तेः अदादेशे **शेषे लोपः**[19] इत्यनेन

प्रकृते: अर्थात् अस्मच्छब्दस्य अत: लोपे अतियुष्मत् अत्यस्मत् इति प्रयोगद्वये युष्मद् अस्मद् इति शब्दद्वयं गौणरूपेण उपसर्जनरूपेण वा स्वार्थं प्रकाशयति। अत: अतियुष्मत् अत्यस्मत् इति प्रयोगद्वयं न सिद्ध्यति। युष्मान् अतिक्रान्तेभ्य: इत्यत्र अत्र तु प्रश्लेषनिर्देशेन अनुपसर्जन अ अ अदिति क्रियते येन अकाराद् अकारात्कारौ शिष्यमाणौ अनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ इति सर्वनामसंज्ञासाधनाय समाधानं प्रदत्तम्।

अपि च **अङ्गस्य**[20] इति अधिकारसूत्रेण यदुच्यते कार्यं तत् गृह्यमाणविभक्तिक्षेत्रे क्रियते। अर्थात् साक्षादुच्चारितत्यदादीनां संख्याकर्माद्यर्था: विभक्तिषु एव भवन्तीति। परमपञ्च परमसप्त इति पदसिद्धिप्रसङ्गे तु अत्र षट्प्रधानसमासत्वात् अत्र दोषो न। परमपञ्च परमसप्त इत्यत्र कर्मधारयसमासत्वात् षट्संज्ञकस्य पञ्चन् सप्तन् इत्यनयो: एव प्रधाने लुक् कर्मणि **षड्भ्यो लुक्**[21] इति सूत्रस्य प्रवृत्तौ बाधा न येन जस: लोपे परमपञ्च परमसप्त इति प्रयोगद्वयं सिद्धिमेति।

अत्र प्रियं सक्थि यस्य तेन, तादृशेन(ब्राह्मणेन) इति विग्रहे सक्थिशब्दार्थ: अप्रधान:। बहुव्रीहित्वात् अन्यार्थप्रधान:, अत: तत् पदमत्र उपसर्जनम्। पुन: बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो: इत्यनेन समासान्तषच्प्रत्ययोऽपि न। प्रकृते अत्र **समासान्तविधेरनित्यत्वात्**[22] षच्प्रत्ययो नोपपद्यत इति। अत्र विभक्तिना सह प्रियसक्थिन् इत्यस्य सम्बन्धो विद्यते न तु सक्थिन् इत्यस्य। अत: प्रियसक्था ब्राह्मणेन इत्यत्र अनङ: अप्राप्तिप्रसङ्गे **अस्थिदधिसक्थ्क्ष्णामनडुदात्त:**[23] इति सूत्रे अचि इति सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते कार्यं तत् प्रकृतविभक्तावेव इत्युच्यते। येन टाविभक्तौ परे सति अनङ् प्राप्तौ न क्लेश:।

यदि अङ्गाधिकारे यद् भवति तत् गृह्यमाणविभक्तेरेव स्यात् इति स्वीक्रियते तदा तम् अतिक्रान्त: इति विग्रहे अतितद् अतितदौ अतितद इति स्थलेषु त्यदादीनाम: इत्यनेन अत्वं प्राप्नोति सु, औ, जस् विभक्तौ परत:।

अत: अत्र दोषवारणाय अङ्गाधिकरे यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद् भवति, सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते प्रकृतविभक्तौ तद्भवति इति वचनद्वयं कथनीयं स्यात् येन प्रसङ्गे गौरवं भविष्यति।

उच्यते अत्र दोषवारणाय वचनद्वयं न वक्तव्यम्। कारणम् **अद्ड्डतरादिभ्य: पञ्चभ्य:**[24] इति सूत्रे पञ्चमी, तथा अङ्गस्य इति सूत्रे षष्ठी विभक्ति: निर्दिष्टा। अत्र सूत्रयो: पृथक् पृथक् विभक्ते: ग्रहणेन डतरादिभ्य: इति पञ्चमीविभक्त्या अङ्गं विशेषितं न जायते। परन्त्वत्र अगतिकत्वाद् डतरादिभ्य: इति पञ्चमीविभक्तिरेव विहितप्रत्ययस्य विशेषणरूपेण सम्भवं जायते। येन डतरादित: विहिता: सु,अमादिप्रत्यया:, तेषामेव अद्डादेशो भवति इति सूत्रस्यार्थ: भविष्यति। किन्तु अत्र स्वादिप्रत्यया: अतिकतरशब्दाद् विधीयन्ते इति कृत्वा अद्ड्प्रसङ्गोऽत्र नास्ति इति भाव:।

अस्थिदधिसक्थ्क्ष्णामनडुदात्त:, **त्यदादीनाम:**[25] इत्यनयो: सूत्रयो: अङ्गस्य इति सूत्रेण साकं अन्वय: क्रियते। अत्र अस्थ्यादीनामित्येषा षष्ठी, अङ्गस्येत्यपि षष्ठी। त्यदादीनामित्यपि षष्ठी, अङ्गस्येत्यपि षष्ठी अस्ति। सूत्रद्वये अनुवृत्तौ या षष्ठीविभक्ति: दृश्यते सा षष्ठीविभक्ति: अङ्गाधिकारस्य वर्तते। अत: अत्र कामचारेण अस्थिदधिसक्थ्क्ष्णामनडुदात्त: इत्यङ्गेन विभक्तिं विशेषयिष्याम: अस्थ्यादिभिरनङम्, येन अङ्गस्य विभक्तावनङ् भवति, अस्थ्यादीनामिति। सम्प्रति तर्हि अर्थो भविष्यति अङ्गविभक्तौ परे सति अर्थात् अङ्गात् टाविभक्तौ अस्थ्यादीनाम् अनङादेश: सिद्ध्यति। येन सक्थिशब्दस्य उपसर्जनत्वादपि

प्रियसक्था ब्राह्मणेन इत्यत्र अनङादेशे बाधा न प्राप्नोति। पुनः त्यदादीनामः इत्यादौ गृह्यमाणेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः अङ्गेनाकारम्। त्यदादीनां विभक्तावो भवति अङ्गस्येति। येन अतितद् इत्यत्र तद्रूपस्य अङ्गस्याभावात् अत्वविधानं न स्यादिति आशयः।

अङ्गसंज्ञकत्यदादेः अत्वं भवतीति स्वीकारेण अतिसः इत्यत्र अत्वं न प्राप्नोति। शोभनः सः इति प्रादिसमासः। अङ्गरूपेण अत्र अतिततो ग्रहणं न तु केवलस्य ततः इत्यस्य। तद्वारणाय त्यदादिप्रधाने एषः समासः इति कथनेन अतिसः इत्यत्र समाधानं प्रदत्तम्।

अथवा सर्वनामानि इति दर्शनात् सर्वनाम इति संज्ञारूपेण यत् प्राप्नोति तत्तु सर्वादिगणपठितानां विशेषणम्। सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि। अर्थात् यत् सर्वेषां वस्तूनां बोधकं भवति तत् सर्वनाम। परन्तूच्यते अत्र संज्ञावाचकशब्दाः उपसर्जनभूतशब्दाश्च विशेषेष्वर्थेषु तिष्ठन्ति, तत्र संज्ञावाचकस्य उपसर्जनवाचकस्य च सर्वनामसंज्ञायाः निषेधो विधीयते।

५.सर्वनामकार्योद्दिष्टसूत्राणां प्रवृत्तिविचारः -

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः कर्तव्यः इति वचनेन सर्वादिषु संज्ञाशब्दानां सर्वनामसंज्ञाभावे कथं सर्वनाम्नः स्मै, आमि सर्वनाम्नः सुट् इत्यादीनि सूत्राणि सर्वनामसंज्ञाकर्मणि प्रचरन्ति? सर्वनामसंज्ञाश्रितं कार्यं च तत्र कथं स्यात् ? इति प्रश्ने उच्यते यत् अन्वर्थग्रहणेन सर्वेषां यन्नाम तत्सर्वनाम इति भविष्यति, अतः सर्वनाम्नः स्मै आमि सर्वनाम्नः सुट् इत्यनेन प्रवृत्तानि स्मैसुद्भृतीनि कार्याणि तेषु भविष्यन्ति। परन्तु एवं स्वीकारे सकलं, जगत्, कृत्स्न इत्येतेषां सर्वनामसंज्ञायाः अपि आपत्तिः। अपि तु सर्वादिगणे पठितशब्देषु यो यो शब्दो यस्मिन् यस्मिन् विषये प्रवर्त्तते तस्मिन् तस्मिन् विषये यो यो वर्त्तमानः, तस्मिन् तस्मिन् विषये वर्त्तमानस्य तस्य तस्य शब्दस्यापि सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति। अतः अन्वर्थग्रहणमनुचितम्। एतस्याः विसंगतेः वारणाय एकेन यत्नेन पाठश्चैव विशेष्यते संज्ञा च। एकशेषनिर्देशादिति। अत्र सर्वादीनि च सर्वादीनि च = सर्वादीनि, सर्वनामानि च सर्वनामानि च = सर्वनामानि। एकशेषत्वात् लुप्यते। एकशेषसमासः एव अर्थद्वयस्य सूचको भवति। यथा – सर्वादिगणे पठिताः शब्दाः हि सर्वनामसंज्ञकाः भवन्ति। पुनः सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि। अत्र ज्ञातव्यं यत् ये खलु सर्वादयः संज्ञारूपेणाविर्भवन्ति, तथा उपसर्जनरूपेण भाषन्ते तेषु विशेषार्थस्य विद्यमानत्वात् तेषां सर्वनामसंज्ञा न सिद्ध्यति।

६.महत्याः संज्ञाकरणे हेतुः -

सर्वनामसंज्ञा महती संज्ञा विद्यते। संज्ञा नाम यतो न लघीयः। यथा – टि, भ, घु, घ इत्यादयः। लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थं हि सज्ञाकरणं सम्पाद्यते। महत्याः संज्ञायाः करणे प्रयोजनमेतत् यथा अन्वर्थसंज्ञा विज्ञायेत। अत्र निर्णयो जायते सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि। संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठत इति।

७.उभशब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनविचारः -

सर्वादिगणे उभशब्दस्य उभयशब्दस्य च पाठो विहितो विद्यते। अत्र ध्यातव्यं यत् उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः, उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। उभशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां फलं किमिति प्रश्ने

उभशब्दस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः इति वार्त्तिकं भाष्यकारेण प्रपञ्चितम्। फलतः उभशब्दात् **अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः**[26] इति सूत्रेण अकच्प्रत्यये उभकौ इति पदं सिद्धमेति। **अन्याभावो द्विवचनटाब्विषयत्वात्** इति वार्त्तिकदर्शनेन टापि द्विवचने च एव उभशब्दस्य कार्यं, अन्येषां सर्वनामप्रयुक्तकार्याणां तत्र अभावो जायते। टाब्द्विवचनं विहाय **उभयेऽन्यत्र** इति वार्त्तिकद्वारा अन्यत्र स्थलेषु उभशब्दस्य उभयं रूपं भवति। तद्यथा – उभये देवमनुष्याः, उभयो मणिः इति। अत्र प्रसङ्गे केचन प्राचीनवैयाकरणाः उभयत्र स्थले उभयपदमेव स्वीकृत्य **उभयस्य द्विवचनम् टाप् च लोपश्च यस्य** इति वचनेन लोपकार्यं संसाध्य पदनिष्पत्तिं साधयन्ति। तद्धितसमासादिवृत्तौ तु उभयशब्दस्य प्रयोगो जायते न तु उभशब्दस्य। यथा उभौ पुत्रौ यस्य सः - उभयपुत्रः, उभाभ्यां स्थानाभ्याम् – उभयतः इति। यदि प्रसङ्गे उभशब्दस्य अकजभावः क्रियते तर्हि **प्रागिवात्कः**[27] इति सूत्रेण उभशब्दात् कप्रत्ययः प्रसज्येत। अत्र अकच्प्रत्ययात्परं उभकौ इति रूपं तथैव कप्रत्ययात्परम् उभऽकौ इति एतावद्न्तरेण रूपद्वयम्। अतः काकचोर्विशेषः कः ? इति प्रश्ने उभशब्दोऽयं द्विवचनटाब्विषयः इत्युक्तम्। तत्र अकचि सति अकचः तन्मध्यपतितत्वात् द्विवचनपरोऽयमिति वक्तुं शक्यते। कप्रत्यये परे सति नायं द्विवचनपरः स्यात्। तत्र प्रत्ययविधानाय द्विवचनपरता वक्तव्या। टाप्प्रत्ययक्षेत्रे तु स्वार्थिकस्य टाप्प्रत्ययस्य हेतोः उभार्थस्य विद्यमाने **अवचनादापि तत्परविज्ञानम्** इति वार्त्तिकवचनेन तत्र स्वाभाविकरूपेण द्विवचनं सम्भवमेव। उभ आ(टाप्) इत्यत्र तु सवर्णदीर्घे एकादेशे कृते द्विवचनपरः अयं **अन्तादिवच्च**[28] इति सूत्रेण अन्तादिवद्भावेन(अतिदेशेन) क्रियते। अत्रापि टाप्प्रसङ्गवत् कप्रत्ययपरेऽपि अन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति। यतोहि स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टाः भवन्ति इति प्रकृतेः ग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति। **निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्** इति वचनानुसारं त्रिष्वर्थेषु सामान्यरूपेण सर्वासां विभक्तीनां प्रयोगसम्भवम्। अतः **सर्वनाम्नस्तृतीया च**[29] इति सूत्रेण तृतीयाविभक्तेः तथा षष्ठीविभक्तेः कृते उभशब्दस्य पाठः अनावश्यको जायते। अतः सामान्यरूपेण सर्वादिगणे उभशब्दस्य पाठो व्यर्थः इति।

८.भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनविचारः -

भवत्=भवतुशब्दः सर्वादिगणे पठितः। तस्य शब्दस्य सर्वनामत्वे **भवतोऽकच्छेषात्वानि** इति त्रीणि प्रयोजनानि उक्तानि। अकच्- भवकान्(भवत शस्, भव् (अक)अकच् शस्), स च भवान् च- भवन्तौ, भवान् इव दृश्यते- भवादृक् इत्येतेषां प्रयोगाणां प्रतिपत्तये भवच्छब्दस्य सर्वादिगणे पाठः कृतः। भवतः सर्वनामत्वे अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः, त्यदादीनि सवैर्नित्यम्, आ सर्वनाम्नः इति एतानि सूत्राणि उपर्युक्तेषु प्रयोगेषु सर्वादिगणे पठनादेव प्रवर्त्तन्ते। एतत् परिगणनं न, केवल्मुदाहरणमात्रमिति। भवत् शब्दः तृतीयादिविभक्तिषु दृश्यते। सर्वनाम्नस्तृतीया च इति सूत्र निर्देशात् भवता हेतुना, भवतः हेतोः इति प्रयोगद्वयदर्शनेन तृतीयाविभक्तेः षष्ठीविभक्तेश्च प्रतिपादनमेवात्र फलमिति शम्।

ग्रन्थसंकेताः -

वै.सि.कौ. - वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

पा.सू. - पाणिनीयसूत्रम्

ल.सि.कौ. - लघुसिद्धान्तकौमुदी

अ.भा.प्र. - अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

प.भा.शे - परिभाषेन्दुशेखरः

म.भा. - महाभाष्यम्

सन्दर्भाः –

[1]सर्वादीनि सर्वनामानि - वै.सि.कौ. (पा.सू. १/१/२६)

[2]अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/१४),भाग – ३, पृष्ठा - ३०४

[3]अवर्णान्तात् सर्वनाम्नः उत्तरस्यामः सुट् आगमो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/५२),भाग – ३, पृष्ठा - ३१८

[4]अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरयोः ङसि ङि इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/१५),भाग – ३, पृष्ठा - ३०४

[5]सर्वादीनि सर्वनामानि – ल.सि.कौ. – पृ. - ८७

[6]तस्य-अन्यपदार्थस्य गुणाः उपलक्षणानि तेषामपि कार्ये संविज्ञानं-तद्गुणसंविज्ञानम्।
सर्वादीनि सर्वनामानि – म.भा.प्रदीपे – प्रथमो भागः, पृ. - ३१८

[7]यत्र संयोगसमवायाऽन्यतरसम्बन्धेन सम्बध्यन्यपदार्थस्तत्र तद्गुणः, अन्यत्राऽतद्गुण इत्युत्सर्ग इति गोअलर्थः। सर्वादीनि सर्वनामानि – म.भा.उद्योते – पृ. - ३१९

[8]गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, संज्ञायां विषये।
अ.भा.प्र.(पा.सू. ८/४/३),भाग – ३ , पृष्ठा - ६०८

[9]इकः स्थाने यणादेशो भवत्यचि परतः, संहितायां विषये। अ.भा.प्र.(पा.सू. ६/१/७४),भाग – ३ , पृष्ठा - ३०

[10]कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतो धातोः शप्रत्ययो भवति।अ.भा.प्र.(पा.सू. ३/१/६८),भाग – १ , पृष्ठा - ३०७

[11]दिवादिभ्यो धातुभ्यः श्यन् प्रत्ययो भवति, कर्तरि सार्वधातुके परतः। अ.भा.प्र.(पा.सू. ३/१/६९),भाग – १ , पृष्ठा - ३०७

[12]पञ्चम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सत्युत्तरस्यैव कार्यं भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. १/१/६६),भाग – १ , पृष्ठा - ३२

[13]प.भा.शे. - ५८

[14]गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, संज्ञायां विषये।
अ.भा.प्र.(पा.सू. ८/४/३),भाग – ३ , पृष्ठा - ६०८

[15]क्रियासातत्ये गम्यमाने अपरस्परा इति सुट् निपात्यते। अ.भा.प्र.(पा.सू. ६/१/१३९),भाग – ३ , पृष्ठा - ५८

[16]पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इत्येतानि जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति संज्ञाभिन्नव्यवस्थायाम्।
अ.भा.प्र.(पा.सू. १/१/३३),भाग – १ , पृष्ठा - १८

[17]अधिकारोऽयम्, इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः स्त्रीप्रत्ययाः दैवयज्'जिशौचि...(४/१/८१) इति यावद् अनुपसर्जनाद् भवन्ति।
अ.भा.प्र.(पा.सू. ४/१/१४),भाग – २ , पृष्ठा - ६

[18]युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या भ्यसः स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू.७/१/३२),भाग–३,पृष्ठा -३०९

[19]शेषे विभक्तौ युष्मदस्मदोर्लोपो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/२/९०),भाग – ३ , पृष्ठा - ३७३

[20]अधिकारोऽयम्, आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। अ.भा.प्र.(पा.सू. ६/४/१),भाग – ३ , पृष्ठा - २२८

[21]षट्त्रिंज्ञकेभ्य उत्तरयोर्जश्शसोर्लुग् भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/२२),भाग – ३ , पृष्ठा - ३०६

[22]समासान्तविधिरनित्यः - प.भा.शे. – ८५, पृष्ठा -३४८

[23]अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानामङ्गानां तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स चोदात्तो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/७५),भाग –३ , पृष्ठा -३२६

[24]डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः परयोः स्वमोः अद्ड् इत्ययमादेशो भवति। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/१/२५),भाग –३ , पृष्ठा -३०७

[25]त्यदादीनामङ्गानामकारादेशो भवति विभक्तौ परतः। अ.भा.प्र.(पा.सू. ७/२/१०२),भाग – ३ , पृष्ठा - ३७८

[26]अव्ययेभ्यः सर्वनामभ्यस्तिङश्च प्राग्वीयेऽर्थेऽकच् प्रत्ययो भवति स च टेः प्राग् भवति।

अ.भा.प्र.(पा.सू. ५/३/७१),भाग – २ , पृष्ठा - ३७६

[27]इवे प्रतिकृतौ(५/३/९६) इत्येतस्मात् प्राक् कः प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः।

अ.भा.प्र.(पा.सू. ५/३/७०),भाग – २ , पृष्ठा - ३७५

[28]अतिदेशोऽयम्, एकः पूर्वपरयोः इति योऽयमेकादेशो विधीयते, स एकादेशः पूर्वस्यान्तवद्भवति परस्य चादिवद्भवति।

अ.भा.प्र.(पा.सू. ६/१/८२),भाग – ३ , पृष्ठा - ३३

[29]सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया विभक्तिर्भवति, चकारात् षष्ठी च।

अ.भा.प्र.(पा.सू. २/३/२७),भाग – १ , पृष्ठा - २१९

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कवेः सूर्यमणिरथस्य योगदानम्

• डॉ. रचनारस्तोगी*

शोधसारः - अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि काव्यसंसारे कविरेव सहृदयानां मनोमुकुरे विराजते चिरन्तनरूपेण। अर्वाचीनसंस्कृतकविषु अतिविशिष्टं स्थानम् आचार्यस्य सूर्यमणिरथस्य। तस्य काव्यानां समीक्षणं विहितमस्माभिः अस्मिन् शोधप्रबन्धे।

वीजशब्दाः- काव्यम्, शतकम्, अर्वाचीनम्, समकालिकम्, साहित्यम्, नाटकम्, लक्षणम्

उपक्रमः

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' इति शिष्टोक्त्या कविः स्वप्रतिभाबलेन सर्जनकौशलेन च सहृदयहृदयमधितिष्ठति। अत्र गृहीतनामा कविः आत्रेयगोत्रीयः आचार्यः सूर्यमणिरथः उत्कलेषु कटकमण्डले नरसिंहपुरजनपदे त्रिलोचनपुरशासने श्रीजनार्दनरथनेत्रमणिरथयोः ज्येष्ठपुत्रत्वेन 1958 संवत्सरे जुनमासस्य चतुर्थदिनाङ्के जनिं लेभे। 1983 संवत्सरे आचार्योपाधिं लब्ध्वा कविः पुरीस्थे श्रीजगन्नाथवेदकर्मकाण्डमहाविद्यालये अध्यापकरूपेण नियुक्तः। पुनः 1998 संवत्सरे राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य श्रीराजीवगान्धिपरिसरे शृङ्गगिरौ तस्य नियुक्तिर्जाता। कवेरस्य काव्यसंसार एवमस्ति- शृङ्गेरीशतकम्, परोपकारि, श्रीवेङ्कटेशशतकम्, समस्यापूर्त्तिशतकम्, आधुनिकभारतम्, काश्मीरोदयम् च। एतदतिरिच्य काव्यप्रकाश-रसगङ्गाधर-व्यक्तिविवेक-ध्वन्यालोकानां मणिटीका तेन विहिता। श्रीगीतगोविन्दस्य रसिकाङ्गदाटीकायाः सम्पादनमपि तेन कृतम्। अत्र तत्कृतकाव्यानां किञ्चित् समीक्षणं विधीयते जनेनानेन।

शृङ्गेरीशतकम्

शृङ्गेरीशतकम् इति काव्यं 108 श्लोकान्वितं कवेः सूर्यमणिरथस्य वर्णनपरकं काव्यं वर्तते। आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये अद्यत्वे मुक्तच्छन्दसः बहुलप्रचारो लक्ष्यते। पुरातनानि शतककाव्यानि अद्य विरलानि सन्ति। श्रीरथादयाः कवयः इमां परम्परां जीवयन्तो दृश्यन्ते। अत्र प्रारम्भिकश्लोकद्वयेन कविः मङ्गलाचरणं कृत्वा एकाधिकशतेन श्लोकेन शृङ्गेरीपीठस्य वर्णनं विधाय अन्तिमश्लोकपञ्चकेन स्ववंशपरिचयं प्रस्तौति। एवमाहत्य अत्र 108 श्लोकेषु कविः आदिशङ्कराचार्यस्य आदिपीठस्य शृङ्गेर्याः शोभां भव्यतया निरूपयति। एकतः कविः स्वप्रतिभया अनुरूपप्राकृतिकदृश्यानि ऐतिहासिकतथ्यानि

*संस्कृत विभाग, डायमंड हारबर वोमेन्स यूनिवर्सिटी, सरिषा, वेस्ट बंगाल

वर्णयति, अपरतः पारम्परिकसंस्कृतगीतिकाव्यस्य तन्नाम शतककाव्यस्य धाराम् अग्रे प्रसारयन् शार्दूलविक्रीडितेन छन्दसा गुणालङ्कारयुक्तान् काव्यिकविचारान् जागरयति। श्रीशारदाम्बायाः श्रीजगन्नाथस्य च वन्दनं विधाय नमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति कविः-

प्रणम्य शारदाम्बायाः पदाब्जं ज्ञानदायकम्। शृङ्गेरीशतकं हृद्यं मणिना रच्यते मया॥
नमामि तं जगन्नाथं प्राणिनां क्षेमकारकम्। तत्त्वतो मादृशो ज्ञातोऽप्यज्ञातो मादृशः तु यः॥[1]

काव्यारम्भे कविः शृङ्गेरीपीठस्य ऐतिह्यं नामकरणविषयं च आलोचयति। सपत्नीकस्य ऋष्यशृङ्गमुनेः तपश्चर्यया इदं शृङ्गगिरिः इति प्रसिद्धः आसीत्। तस्य अपभ्रंशरूपं वर्तते शृङ्गेरी इति यद् अत्यन्तं पावनक्षेत्ररूपेण प्रसिद्ध्यति। अत्र आदिशङ्कराचार्यस्य प्रथमपीठं तथा शारदम्बायाः मन्दिरञ्च विद्यते। शृङ्गेरीवासिनां जीवनशैली, वेषभूषणं, पानभोजनं, जनजीवनं, वैवाहिकादिमङ्गलाचाराः च कविदृष्ट्या प्रतिबिम्बिताः सन्ति।

सारुं शम्बरमम्लकं च चटणीं दोसाञ्च दोषेतरां, तक्रं पापडमीडिलिं दधिवरां लङ्कामरीचान्वितम्।
चित्रान्नं सघृतोदनं च बहुलं द्राक्षाङ्कितं पायसं, हृद्यं तेमनमात्मनीनमसकृद् खादन्ति यन्मानवाः॥[2]

कविः अलङ्कारयोगेन वर्णनवैभवेन च कालिदासकलां स्मारयति। हस्तिकुम्भापेक्षया नारीणां कुचकुम्भाधिक्याद् व्यतिरेकारङ्कारेण गजस्य वर्णनं यथा-

नारीणां कुचकुम्भयुग्मविजितो यत्रानिशं शङ्करं
दुष्प्रापं शरणं सुतेन सहितो लेभे परं स्वामिनम्॥

शृङ्गेरीपरिसरस्य अध्यापकस्य कवेः काव्ये विद्यापीठवर्णनं कथं नाविर्भवेत्। मण्डनमिश्रेण शङ्कराचार्यस्य वाग्युद्धं, सुरेश्वरादीनां शिष्यत्वग्रहणं, पीठस्थापना, सर्वाणि ऐतिहासिकतथ्यानि, शारदाम्बाया वर्णनं, भोजनमन्दिरवर्णनं, रथयात्रा, स्वर्णरथप्रसङ्गः, भारतीतीर्थस्य पाण्डित्यं, तस्य विद्वत्सभा, विद्वत्सम्माननं, विजयनगरे बुक्का-हरिहराभ्यां राज्यस्थापनम् इत्यादिकमत्र सविस्तरं वर्णितमस्ति। गभीरदर्शनतत्त्वस्य गीताज्ञानस्य अद्वैतवादस्य च प्रतिपादने कविः स्वयं दार्शनिकः प्रतीयते। श्रीमद्भगवद्गीतया साम्यं वहन् कविर्वदति-

नैनञ्छिन्दत एव शास्त्रपटलो दग्धुं न शक्तोऽनलः
नापः क्लेदयितुं कदाचिदपि च प्रोच्छोषणे मारुतः।
अच्छेद्योऽयमहो न दाह्य उत न क्लेद्यो न शोषास्पदं
नित्यः सर्वगतोऽचलोऽपि परितो व्यावृत्य राराज्यते॥[3]

आदिशङ्कराचार्यकृतस्य चर्पटपञ्जरिकाश्लोकस्य –यावद्वित्तोपार्जनशक्तः - वार्त्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे- इत्यादि सम्यक्तया प्रतिफलितं कवेः काव्ये-

संस्थाप्यङ्गतले मुहुर्मुहुरलं यस्मै शशी दर्शिता
बार्धक्ये स तु नैव पृच्छति कदा वार्त्तां गृहे तावकीम्॥[4]

एवमत्र कविना शृङ्गेरीशतकम् इति खण्डकाव्येन शृङ्गगिरेः प्राकृतिकं सामाजिकं च पर्यावरणं सुष्ठु वर्णयति।

श्रीवेङ्कटेशशतकम्

श्रीवेङ्कटेशशतकम् इति अन्वय-व्याख्या-विशदार्थसंवलितानां श्लोकानां शतकं वर्तते, यत्र कविः सूर्यमणिरथः तिरुमल्लातिरुपतिस्वरूपस्य भगवतः श्रीवेङ्कटेश्वरस्य स्तुतिं विदधाति। काव्यानुगुणं कविरत्र आन्ध्रप्रदेशस्य तिरुपतिनगरस्य, मन्दिरपरिवेशस्य, तत्सम्बन्धकथानां च वर्णनं विदधाति स्वकाव्यप्रतिभया संस्कृत्य। पर्वतदेशे भगवतः निवासकथां किम्बदन्तीपुरस्सरं कविः निरूपयति एकपञ्चाशच्छ्लोकैः। देवदर्शनेन प्राप्तं सुखमित्थं वर्णयति काव्यकारः-

यदा कदा वा सकृदीक्षते नरो गुणातीतं निर्विकृतिं विभुं शिवम्।
अलौकिकं स्वानुभवैकगोचरं सुखं तदाऽऽप्नोति परं निरर्गलम्॥[5]

अनुक्रमेण अत्र कविः दशावतारान् संक्षेपेण निरूप्य मन्दिरनिर्माणकथां देवमाहात्म्यं च विशदीकरोति। एवं काव्यरत्नमिदं सरसकाव्यकलालङ्कृतं विभुवर्णनेन महीयते। एवमत्र कविना श्रीवेङ्कटेशशतकम् इति खण्डकाव्येन तिरुपतिनगरस्य, मन्दिरपरिवेशस्य च आध्यात्मिकं प्राकृतिकं च पर्यावरणं सम्यक् वर्णयति।

आधुनिकभारतम्

आधुनिकभारतम् इत्यस्य केचन श्लोकाः कविना सूर्यमणिना पूर्णप्रज्ञविद्यापीठस्य सुवर्णजयन्तीपालनावसरे 2006 वर्षे मार्चमासस्य तृतीयसप्ताहे उडुपिपेजावरमठाधीशानां विश्वेशतीर्थमहदयानां सन्निधौ अपठत्। परवर्तिकाले 2009 संवत्सरे श्लोकैः पूरितमिदं काव्यं व्याख्या-सरलार्थ-हिन्द्यर्थसमन्वितं प्रकाशितम्। अत्र कविः प्रथमतः भारतमिति देशस्य नामकरणं विचार्य राज्ञः भरतस्य नामस्मरणेन तनाम्ना प्रथितस्य देशस्य वर्णनेन च मङ्गलमाचरति। तदनु प्रचुरालंकारविन्यासैः देशमहिमानं प्रथयतीत्थम्-

भरतनामकधार्मिकभूपतिर्विनयवान् गुणवान् मतिमान् कविः।
सुखसमृद्धिमयं चिरभास्वरमतिपवित्रितदेशमशादिमम्॥
यदमला बहुविश्रुतसंस्कृतिर्भुवनमण्डललोकमनोहरा।
मुनिवरैरखिलैः प्रतिपादिता कलुषहन्त्र्यपरत्र न लोक्यते॥[6]

क्वचित् कविः सत्यसन्धात् श्रीरामादारभ्य देशभक्तिपावितं सङ्ग्रामयोद्धारं यावत् लघुना वर्णयति।[7] अन्यत्र संक्षेपेण भारतसंविधानवैशिष्ट्यमित्थं वर्णयति कविः-

लोकेन लोकस्य च सर्वदैव लोकाय चेत्युच्चरवैर्जगत्याम्।
प्रतिष्ठितो वै गणतन्त्र एष इमं महामन्त्रमलं विरौति॥
धनी भवेद् वा स भवेद् दरिद्रो जात्योन्नतो वास्तु नवास्तु किञ्च।
इहाखिलो भारतवासिलोको विधानदृष्ट्या सततं समानः॥
दलितशोषितनीचनिरक्षराः सुसरलाः वनवासिजनाश्च ये।
नगरवासिजनो चितसौविधान्यनुभवेयुरनल्पमनारतम्॥[8]

परन्तु स्वाधीनतायाः षष्टिवर्षेभ्यः परमपि किं देशवासिनः तैः तैः पूर्वोक्तैरधिकारैरधिकृताः सन्ति वा इति प्रश्नः कविमानसं तुदति। कविः वरप्राप्तराक्षसेन सह पदप्राप्तानामयोग्यानां तुलनां करोति। यौतुकं विना यौतुकेन परिणेष्यामीति मिथ्याप्रतिश्रुत्या भोग-स्त्रीभृणहत्या-पुत्रविक्रय-वृद्धवरविवाह-पितरौ त्यक्तवन्तौ युवकः युवती च – समाजभयेन पापगर्भप्रक्षेपण- निरीहपतेरुपरि महिलानामत्याचारं-कामुकचिकित्सक-शिक्षक-नृत्यगुरुभिः धर्षितमहिलाः इत्यादीनां समसामयिक्यः समस्याः स्वलेखन्या प्रत्यग्रीकरोति कविः। मनुवचनमनुस्मरन् कविः शिशुश्रमिकाणां महिलानां दुःखं वारं वारं बहुधा निरूपयति।[9] सहजकर्मसु अपि साधारणजनानां नैपुण्यं ह्रसते अनुदिनमिति कवेः दुःखम्। जननायकानां मठाधीशानां विगर्हितकार्याणि एकैकशः गणयति साहसिकः कविः-

सुरपुराधिकभव्यमठे वसन् विभुपदात् च्युतचित्तमठाधिपः।
भि.सि.डि.यन्त्रकलामुपयजयन् युवतिनग्नतनुं मुहुरीक्षते॥
सरलजीवनयापनमीशितुर्भजनमात्मसमीक्षणमुज्जहत्।
मठपतिस्तरुणीपतिरूपतां व्रजति कोऽपि शठस्तमसावृतः॥
जनगणेन कृते चयनेऽपरो निजपराजयमाकलयन्पुरा।
परमचाटुकरः खलनायको हरति कोऽपि बलान्मतपेटिकाः॥[10]

उग्रवाद-सन्त्रासवाद-निरीहजनसंहार-संसदाक्रमण-मन्दिनध्वंसन-महात्मागान्धि-इन्दिरागान्धि-राजीवगान्धिमारण-नदीजलविवाद-मारण-लुण्ठन-हननादिकुकृत्यानां साक्षीभूतं वर्तते काव्यमिदम्। अधिकारिणां कृपाप्रसादात् चिरमेव लघुजनः श्रेष्ठासने विराजते, कवेः काव्यं चोरयन् कविः सुप्रतिष्ठितो जायते, अयोग्यैः सरस्वती एव हता। छलन-बलन-अपमिश्रण-धनापहरण-औषधमिश्रण-तेलगीवृत्त-गोपनतथ्यसन्तान्तरण-करादेयं-इन्दिरावास-दुर्नीति-पशुबलि-नरबलि-व्युटिपार्लरतरुणी-मादकद्रव्यव्यवसायी-मद्यपयानचालक-हरिण-गज-मारका-शिशु-अपहारका-वृक्षच्छेदनं-परिवेशप्रदूषकखनयः स्थानीयसमस्याः चापि कवेः लेखन्याः दूरे न सन्ति।

सुरतरूपमितान् कुसुमैः फलैर्नयनहारिभिरावृतपादपान्।
विविधपक्षिकुलैश्च समाश्रितान् धरणिवक्षसि कृन्तति मानवः॥
मनुसमानो विधिप्रविधायको दिवि वसन् सकृदेव विलोकय।
प्रतिदिनं जनतां नयवञ्चितामतितरां गणतन्त्रविनाशनम्॥[11]

द्रुतविलम्बितबहुलैः सम्पन्ने काव्येऽस्मिन् अन्तिमे उपजाति-वंशस्थविल-शिखरिणी-वसन्ततिलक-इन्द्रवज्रा-इन्द्रवंशा-स्वागतादिच्छन्दसां प्रयोगोऽपि जातः। एवं सहस्रप्रायश्लोकैः काव्यमिदं सत्यमेव आधुनिकभारतस्य समकालिक्याः स्थितेराकलने साफल्यं गतमस्ति।

काव्यसौन्दर्यवर्धनाय कविना स्वाभाविकतया अलङ्कारा योजिताः। श्लेषोपमोत्प्रेक्षाणां बाहुल्ये अपि कविः इतिहासमर्थान्तरन्यासैः समर्थयति। अर्थान्तरविन्यासेन कविः स्वकथितं वारं वारं पोषयतीत्थम्-

षड्ऋतवः क्रमशः स्वधनैः समं नियतिकृन्नियमेन नियन्त्रिताः।

स्वसमये विचरन्ति धरातले न हि महान् स्खलति स्वपथात् कदा ॥
प्रचलतुङ्गतरङ्गकरैर्दिवा निशि यदीयपदं लवणाम्बुधिः ।
अविरतं प्रविधौति मुदाऽऽदरात् न हि खलाः महतां खलु सेवकाः ॥
मलयपर्वतचन्दनपल्लवैर्मृदुभिरुज्ज्वलपाटलपङ्कजैः ।
भवति या ललितं परिवीजिता निजसुतैर्जननी किमु नार्च्यते ? ॥[12]

काश्मीरोदयम्

भारतभूस्वर्गभूतायाः काश्मीरभूमेरनन्याकर्षणेन को नाम रसिको मौनमाश्रयेत्। महाभारते सूत्रितस्यास्य राजवंशस्य सविस्तरं वर्णनं राजतरङ्गिण्यां कृतं कल्हणेन। अर्वाचीनस्य श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्रिणः काश्मीरेतिहासे अपि सैव परम्परा सुरक्षिता। परवर्तिकाव्यनाटकोपन्यासकथासु जेगीयते इयं भूमिः। कवेः सूर्यमणेः रथस्य 172 श्लोकान्वितं मणिव्याख्यायुतं 156 पुटविस्तृतं काश्मीरोदयं काव्यं पुलकयति सहृदयान्। राजतरङ्गिणी-काश्मीरेतिहासाद्यैतिहासिकग्रन्थाधारेण काव्यमिदं रचितमिति कविवचनात् ज्ञायते। 165 राज्ञां सूची, राजातरङ्गिण्या मुख्यांशः अपि अत्र कविः सन्दर्भरूपेण अयोजयत्। काव्यमिदं निशोदयः प्रातरुदयः इति भागद्वयेन विभक्तम्। प्रथमे निशोदये काश्मीरस्य अन्धकाराच्छन्न इतिहासः प्रकाशितः।

नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिवर्हणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत् सिद्धेः इति ध्वनिकारवचनप्रतीपं वदति काव्यकारः साहित्यवद् इतिहासोऽपि समाजस्य दर्पणः-

इतिहासोऽपि दर्पणः समाजस्य साहित्यवदिति सत्यम्।
सङ्गतिमसङ्गतिञ्च स पूर्वगतां प्रवदत्यविकलम् ॥[13]

नीलाचलाधीशस्य त्रिकूटाधिश्वर्य्याश्च कृपापरम्परां स्मरन् कविः आशीर्वादात्मकं मङ्गलं वितनोति-

नीलाद्रौ शङ्खतीर्थे जलदरुचिजगन्नाथदेवो विराजन्
अन्यस्मिंश्च त्रिकूटे त्रिभुवनजननी वैष्णवी राजमाना।
अस्मिन्मत्काव्यबन्धे व्यपनयतु हतिं दुर्भरां दुर्निवारां
किं कार्यं वा महीयस्तनुजसुखमृते भाति पित्रोर्धरायाम् ॥[14]

प्रकरणवक्रतां परिकल्प्य कविः नन्दनवने देवसभां कल्पयति, यत्र देवेन्द्रेण सह अन्ये देवाः, गन्धर्वाः, अप्सरश्च समुपस्थिताः सन्ति। देवानां प्रश्नानामुत्तरप्रदानव्याजेन देवर्षिः नारदो भारतमहिमानं काश्मीरगरिमाणञ्च प्रकटीकरोति। ततः 37 श्लोकात् कश्मीरनरपतीनामैतिह्यं ग्रथितं कविना।

एतादृशे परमपावनतीर्थभूते काश्मीरके नरपतिः प्रथमः स आसीत्।
गोनन्द इत्यभिधया विदितप्रतापः नित्यं प्रजासुखकरोऽनलसोऽरितापाः ॥[15]

शचीनरस्य अनपत्यताहेतोः तस्य पितृव्यपुत्रः अशोकः राजा अभवत्। बौद्धधर्मदीक्षितः असौ म्लेच्छान् जित्वा शान्तिप्रतिष्ठां कृत्वा, राजकोशात् धनव्ययं कृत्वा 93 लक्षगृहयुतं श्रीनगरं निर्माय प्रजाभ्यः उत्ससर्ज।

श्रीपूर्वकं नगरमाढ्यमतीवरम्यं संस्थापितं सुकृतिनां प्रमुखेन तेन।

अद्यापि यल्लसति नाकसमानकान्ति भास्कर्यसांस्कृतिकशिल्पकलाप्रशस्ति ॥[16]

ततः कविना लघुना कनिष्क-तुञ्जीन-मातृगुप्त-प्रवरसेनादयो वर्णिताः। ततः साक्षात् 749 ईसवीये विराजितं संस्कृतप्रियं राजानं जयापीडं वर्णयति, यस्य सभायाम् उद्भटभट्ट-दामोदरगुप्त-वामनभट्ट-चटक-शङ्ख-मनोरथादयः पण्डिता आसन्।[17] तत्पुत्रः शङ्करवर्मा अस्थिरं सिंहासनं कथमपि मन्त्रिणां साहय्येन स्थिरं चकार। परन्तु तत्पत्नी सुगन्धा स्वैरिणी प्रभाकरेण सङ्गता। तदारभ्य काश्मीरभाग्यं पुनः अन्धकाराच्छन्नं जातम्। ततः निर्जितवर्म-दिद्दा-अनन्तदेव-कलश-हर्ष-उत्कर्ष-उच्चल-सल्लण-सुस्सल-भिक्षाचर-जयसिंह-कोटादेवी-त्यादीनां सुरासाकीप्रणयिनां राज्ञां (883-1340) वर्णनं करोति कविः। एतेषु अनन्तदेवः किञ्चिदुत्तमं शशास। अन्तिमा हिन्दुराज्ञी आसीत् कोटादेवी। ततः 1818 यावत् 36 यवनराजानः काश्मीरं राजपदे स्थिताः। तेषु परमतसहिष्णुः संस्कृतज्ञो राजा हसनखानः उत्तमं शशास। पश्चात् मोगलाधिपतेः वावरस्य सेनापतिः नाजुकशाहः काश्मीरमधिचकार। तदा तस्य उदारशासने हिन्दवः वेदप्रवर्तितमार्गेण अतिष्ठन्। ततः दौलतखान-यूसुफशाह-शेखफरीदादीन् वर्णयति कविः। अकवर-जाहाङ्गीरयोः काश्मीरप्रीतिः अनन्या आसीत्। अतः पण्डितानां कृते गृह-स्वर्ण-दक्षिणादिव्यवस्थां कारयित्वा तेषां विश्वासस्थानं गताः।[18]

प्रातरुदयः इति द्वितीयभागे 138-172 श्लोकेषु कविः काश्मीरस्य समृद्धिं वर्णयति। क्रमप्राप्तानां राज्ञां रणजीतसिंह-गुलावसिंह-रणवीरसिंह-प्रतापसिंह-हरिसिंह-कर्णसिंहानां वर्णनं कृत्वा कविः स्वाधीनोत्तरकाश्मीरस्य समृद्धिं योजयति। तदनु डालह्रद-पहलगाँ-अमरनाथ-गोलमार्ग-सोनमार्ग-कृषकाणां वर्णनं विधाय कविः आतङ्कवादिनां वर्वरतां प्रकाश्य कथमपि देशमस्तकमिव विराजितं काश्मीरं न दास्यते कस्मै अपि इत्युक्त्वा नारदमुखाद् वर्णनं श्रुत्वा द्रष्टुमागताः देवाः न प्रतिगताः अत्रैव पुनारमन्ते इति वर्णयन् श्लोकद्वयेन स्वकाव्यमाहात्म्यं प्रकटीकरोति।

खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि इति लक्षणात् काव्यमिदमैतिहासिकं खण्डकाव्यं वर्तते। अत्र खण्डशः एव काश्मीरेतिहासो वर्णितः। अत्र राष्ट्रभक्तिः एव प्रयोजनमिति कल्पयितुं शक्यते। उक्तमेव ‘‘राष्ट्रभक्त्यादीनि प्रयोजनानि पुनर्वयमप्यभिनन्दामः। तत्समर्थितमेव रेवाप्रसादद्विवेदैरपि युगावश्यकतापूर्त्तेः धर्मरक्षाराष्ट्रदेवप्रबोधादीनामपि काव्यप्रयोजनत्वमिति ..।’’ (काव्यालङ्कारकारिका, कारिका- 22-24)। कविकृता देशस्तुतिः यथा-

गान्ध्यादिनेतृजनवर्गमहोद्यमेन द्वीपाब्धिकाव्यरससूर्यमिते शताब्दे।
आङ्ग्लेयशासकशयादधिगत्य मुक्तिं देशोऽवनौ लसति भारतवर्षनामा॥
यद्भारतस्य विदितं शुभमुत्तमाङ्गं नैसर्गिकेण विभवेन विमण्डितं यत्।
यत्केसरैरतितरां परिपूर्णमस्ति तद्भूतलं कथमनिन्द्यमिदं विहेयम्॥[19]

आधुनिकसमीक्षकाणां रहसविहारिद्विवेदादीनां मतेन अत्र देशभक्तिः रसः भवितुमर्हति, आहोस्वित् प्राचीनमतेन वीररसः अङ्गीरसः भवितुमर्हति, वीरपुरुषाणां गुणवर्णनात्। यथा-

तस्मान्नृपात् स रणजित् विजिताद् बलेन कोहेनुराख्यममरैरपि दुर्लभञ्च।
जग्राह रत्नमतियत्नसुरक्षितं तन्मानप्रदं समितिलब्धजयस्वरूपम्॥

अष्टादशे वयसि पण्डितकर्णसिंहस्तातैरघोषि नृपतिर्हीरसिंहपादैः।
अद्यापि संस्कृतमनाः सुरभाषिरक्तः सर्वत्र सद्गुणधरो बहुमानमेति॥[20]

अत्र 172 श्लोकेषु, मङ्गलाचरणं स्रग्धराच्छन्दसा, 2-8, 172 च श्लोकाः आर्याछन्दसा निबद्धाः। अन्ये च वसन्ततिलकच्छन्दसा लिखिताः सन्ति। काव्यसौन्दर्यं वर्धयितुं कविना स्वाभाविकतया अलङ्कारा योजिताः। श्लेषोपमोत्प्रेक्षाणां बाहुल्ये अपि कविः इतिहासमर्थान्तरन्यासैः समर्थयति। यथा-

अत्रत्यसेवफलनास्पतिकेशराणि चोत्रादितानि कृषकैर्बहुना श्रमेण।
देशान्तरेषु बहुमानपदं लभन्ते श्रद्धास्पदं भवति को न गुणैकधारी॥[21]

सुरपादपसौरभात् अप्सरसां गन्धः उत्कृष्टतरः इति व्यतिरेकारङ्कारेण तत्प्रतिपादितं कविना-

देवद्रुमोल्लसितसौरभमुत्तमं तद्भृङ्गास्तदा सरभसं प्रविहाय यत्र।
धावन्ति नाकवनिताश्वनोत्थगन्धाऽऽकृष्टन्तरा मधुरगुञ्जनसूक्तमोदाः॥[22]

पूर्णोपमया अवन्तिवर्मणो रणजितसिंहस्य च यशोवर्णनं यथा-

विद्यां विभिन्नसरणिं चतुरोपभोग्यां क्रूरात्मपाददलितामपमानितां सः।
वाराङ्गनामिव तदा करुणं लपन्तीं सम्मानयन् कुलवधूमिव संपुपोष॥
युद्धे विजित्य रिपुमुद्धतमेष राजा जायाकृतेऽपरिमितां वसुधां सपत्नीम्।
मोदप्रदां बहुलकेसरवासिताङ्गीमङ्गीकृतामतनुसम्पदमानिनाय॥[23]
विरोधाभासेन शेखफरीदस्य प्रजाहितकरं कार्यमित्थं वर्णितम्-
राजा प्रजाहितकरः करनाशनेन कृत्वा धरां फलनतां जलसेचनेन।
चित्तं जहार च जनेषु गृहार्पणेन लुण्ठाकतस्करशठादिनिवारणेन॥[24]

ऐतिहासिके पुनः भूस्वर्गकाश्मीरस्य वर्णने कविः प्राप्तं सुयोगमुपयोज्य डालह्रद-पहलगाँ-अमरनाथ-गोलमार्ग-सोनमार्गाणां वर्णनं करोत्येव।[25] यथा कविरुत्प्रेक्षते काश्मीरनायकः प्रकृतिनायिकया आच्छादितः इति-

एतस्य पेलवतनूपरि शीतकाले सर्वत्र भूरिघनपादपराजितस्य।
प्रावारकं सुघटितं वहलैस्तुषारैराच्छाद्यते प्रकृतिनायिकया सरागम्॥[26]

एवमत्र कविः सुललितकाव्यभाषया भारतललामभूतं काश्मीरं सरागमवर्णयदिति वक्तुं शक्यते।

सन्दर्भाः -

[1] श्लो.1-2, शृङ्गेरीशतकम्, पृ.1
[2] तत्रैव, श्लो..41, पृ.9
[3] तत्रैव, श्लो.92, पृ.20
[4] तत्रैव, श्लो.96, पृ.21
[5] तत्रैव, श्लो. 55
[6] आधुनिकभारतम्, श्लो.1-2
[7] तत्रैव, श्लो.15-18।
[8] तत्रैव, श्लो. 20-24।
[9] तत्रैव, श्लो.60, 62, 54, 87
[10] तत्रैव, श्लो.49, 50, 56

[11] तत्रैव, श्लो.118
[12] तत्रैव, श्लो. 6-8
[13] काश्मीरोदयम्, श्लो. 6
[14] तत्रैव, श्लो.1
[15] तत्रैव, श्लो.37
[16] तत्रैव, श्लो.47
[17]तत्रैव, श्लो.60, 65, 70
[18] तत्रैव, श्लो.125, 130, 136
[19]तत्रैव, श्लो.155, 168
[20] तत्रैव, श्लो.139, 152
[21] तत्रैव 165
[22] तत्रैव 15
[23] तत्रैव 68, 140।
[24] तत्रैव 128।
[25] तत्रैव 156, 159, 162, 163
[26] तत्रैव 164

काणादं वस्तुसंज्ञानं सर्वशास्त्रोपकारकम्

• डॉ. भुवनेश्वरी भारद्वाज*

शोधसारः वैशेषिकदर्शनस्य विविधनामनिर्वचनं विधाय श्रुतिवाक्यप्रवेदितमात्मविज्ञानमेव मोक्षावाप्तिहेतुरिति काणाददर्शनसिद्धान्तम् सम्पोषयितुं प्रवृत्त आलेख एष श्रवणविध्यनुरूपमननस्य अनुमानाधीनतां सर्वविधदुःखप्रहाणरूपमोक्षफलिकां विनिवेदयति। शोधपत्रेऽस्मिन् आत्मदर्शनम्, अनुमानम्, व्याप्तिज्ञानम्, पदार्थविवेकज्ञानम् इत्येवम् उपायक्रमषट्कम् अवबोधयितुं प्रवृत्तायाः काणाददशाध्याय्याः विलक्षणक्रमाश्रयं विवेचनं, तथा स्फुटीकृत्य समादृतं यथा साधर्म्य - वैधर्म्य प्रबोधमयः द्रव्य - द्रव्यत्वादिलक्षण सुविशदं प्रकाशितः सुकुमारमतीनपि तर्कप्रतर्क्यार्थबोधसमृद्धान् विदध्यात्। काणादं वस्तुसंज्ञानमित्येष शोधनिबन्धः शीर्षकान्वर्थसमन्वयबोधोदयसुभगां पदतदर्थव्याख्यानकौशलान्वितां प्रक्रियां तथा आत्मसात् कुरुते यथा गवेषणाकर्मणि प्रवृत्ता जिज्ञासवः सुतराम् उपकृता भवेयुरिति शम्।

बीजशब्दाः पदार्थषट्कम्, तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसम्, धर्मी, साधर्म्यम्, वैधर्म्यम्, प्रमाणम्, विशेषपदार्थः, दशलक्षणी, व्युत्पत्तिः

कणादो नाम कश्चन ऋषिः अन्वर्थनामा। श्रूयते यद् कापोतीं वृत्तिमनुसरन् ऋषिः वीथिषु रथ्या चत्वरादौ वा विकीर्णान् तण्डुलकणान् चायं चायं स्वाहारं विदधाति स्म। कश्यपगोत्र एष उलूकस्य ऋषेः अपत्यमिति औलूक्यनाम्ना प्रथितिं लेभे। कणादस्य मुनेः तपश्चर्यया प्रीतः ईश्वरः उलूकरूपं धृत्वा प्रत्यक्षविग्रहः पदार्थषट्कमुपदिदेशेति प्रसिद्धिः। अतएव कणाददर्शनस्यापरं नाम प्रसिद्ध्यति- औलूक्यदर्शनमिति।

न्यायवैशेषिकदर्शनयोः परस्परप्रतिपाद्याभ्युपगमः स्वीक्रियते। गौतमीये न्यायदर्शने "प्रमाणप्रमेय---------- निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः"[1] इति प्रतिज्ञातम्। तत्र स्वीकृतानां षोडशपदार्थानाम् अन्तर्भावं विदधता कणादेन षड्भावपदार्थाः एकोऽभावपदार्थश्चेति सप्तपदार्थाः स्वीकृताः। तद्यथा - द्रव्यम्, गुणः, कर्म, सामान्यम्, विशेषः, समवायः अभावश्चेति। एतान् सप्तपदार्थान् अङ्गीकृत्य तत्र कति धर्मिणः? कस्मिन् धर्मिणि कियन्तः के गुणाः? इत्येवं विशदीकृत्य

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

यथा प्रविविक्तं ज्ञानं भवेत् साधर्म्य - वैधर्म्यज्ञानं च भवेत् इत्येवं विशेषरीत्या अथ च विशेषनामकपदार्थस्य स्वीकृत्या कणाददर्शनस्य अपरं नाम वैशेषिकदर्शनम् इति प्रसिध्यति।

आचार्यश्रीधरमते वैशेषिकदर्शने प्रमाणद्वयविभागः सम्मान्यते - 1. प्रत्यक्षम् 2. अनुमानञ्चेति। कुमारिलभट्टाः यानि पञ्च प्रमाणानि स्वीकुर्वन्ति तेषु अनुपलब्धेः प्रत्यक्षे उपमानस्य शब्दस्य अर्थापत्तेश्च अनुमानेऽन्तर्भावं कुर्वन्ति श्रीधरमतानुयायिनः। श्रीव्योमशिवाचार्यमते वैशेषिकदर्शने मुख्यतः प्रमाणत्रयं सम्मान्यते - 1. प्रत्यक्षम् 2. अनुमानम् 3. शब्दश्चेति। तदितरयोः द्वयोः अन्तर्भावः पूर्ववदेवाङ्गीक्रियते।

कणादस्य ऋषेः समक्षं समस्या एकैव विद्यते- प्रतिकूलवेदनीयतया प्रतिजीवं स्थितस्य दुःखस्य हानं केन उपायेन सम्भवेदिति। उपनिषदां ये ऋषयः तेषां समक्षम् अस्याः समस्यायाः उपस्थितौ विचारविनिमयेन यत् समाधानं प्राप्तमासीत् तदेतत् सुधीसदसि सुविदितमास्ते – "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये" ति।[2]

परमेश्वरस्य साक्षात्कारात्मकज्ञानेनैव प्राणिभिरनुभूयमानस्य त्रिविधस्य दुःखस्य ऐकान्तिकी आत्यन्तिकी च निवृत्तिः सम्भवति नान्यथेति श्रुतिवाक्यार्थः। श्रुतिप्रतिपाद्यस्य अस्यार्थस्य विशदीकरणं स्मृतिपुराणादिसच्छास्त्रेषु विहितम्। तद्यथा-

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ इति[3]

साधारणजनोऽपि वेत्ति - चर्म वेष्ट्यते आकाशन्तु न वेष्ट्यते। वेष्टनयोग्यता चर्मणि विद्यते न त्वाकाशे। यथा एतद् वचः सर्वानुभवसिद्धं तथैव शिवस्य प्रभोः साक्षात्कारात्मकं ज्ञानमेव - दुःखकारणम् अज्ञानं सकार्यमुन्मूलयेन्नान्यः कश्चन अपरः उपायः तत्र प्रभवेदिति श्रौतोऽनुभवः योऽयं परमेश्वरसाक्षात्कारः मृत्योः तदुपलक्षितस्य दुःखव्रातस्य सन्तरणोपायः स श्रुतिवाक्येभ्यः श्रोतव्यः, उपपत्तिभिः मन्तव्यः, ध्यानाभ्यासबलेन च भावनीयो भवति । श्रवणादिना भावनीयः आत्मसाक्षात्कार : महते फलाय कल्पते । यथोक्तम्-

श्रोतव्य : श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। श्रुत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥ इति[4]
आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति च[5]

"मन्तव्यः" इति श्रुतिवाक्यस्थपदेन यन्मननं विधीयते तदनुमानाधीनं भवति। अनुमानं तावद् व्याप्तिज्ञानाधीनं भवति। व्यातिज्ञानस्य च पदार्थविवेकसापेक्षता भवति। पदार्थषट्कं विवेचयितुं व्यवस्थापयितुं च भगवता कणादेन दशलक्षणी रचिता। न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थे श्रीमद्भिः उदयनाचार्यैः सुस्पष्टम् मननव्यपदेश्यां न्यायचर्चाम् उपासनां वदद्भिः मननमनुमानाधीनमिति - सुप्रमाणितम्। तद्यथा–

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।। इति[6]

दशलक्षण्याः अपरं नाम कणादसूत्रमिति प्रथते। तत्र प्रथमं सूत्रं विद्यते – "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।" इति। सूत्रस्थः अथशब्दः आनन्तर्यमर्थं ब्रूते। अन्यार्थं नीयमानस्य दध्न : यात्रारम्भे

दर्शनं यथा मङ्गलाय कल्पते तद्वद् अथशब्दः आनन्तर्यार्थकः सन् श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनोपि भवति। दशलक्षणी - इत्यत्र लक्षणशब्दः अध्याय इत्यर्थे प्रयुक्तः। दुःखहानं धर्मेण विना न सम्भवति। धर्माचरणेनैव अभ्युदयः निःश्रेयसं चेति द्वयं सिद्ध्यति नान्यथा। तत्र अभ्युदये दुःखस्य सर्वथा उन्मूलनं न भवति, निःश्रेयसे तु श्रौतस्य आत्मज्ञानस्य माहात्म्यसम्पुष्टस्य श्रवणानन्तरं यन्मननमनुमानाधीनं यच्चानुमानं व्याप्तिज्ञानाधीनं, यच्च व्याप्तिज्ञानं पदार्थविवेकज्ञानाधीनम् भवति ततः पदार्थषट्कं साङ्गोपाङ्गं प्रबोधयितुं कणादमुनिना दशाध्यायी विरचिता। अत्र दशाध्यायीमध्ये प्रत्येकमध्याये आह्निकद्वयं विलसति।

प्रथमाध्याये आह्निकद्वयात्मके समवेतानां समेषां पदार्थानाम् निरूपणं विहितम्। समवेता : पदार्थाः ते प्रोच्यन्ते ये समवायसम्बन्धेन क्वचिद् विद्यमाना भवन्ति। पदार्थषट्कमध्ये केवलं समवायः पदार्थः क्वचन समवायेन सम्बन्धेन न तिष्ठति। तत्र हेतुः कः इति जिज्ञासायां प्रोच्यते – समवायः यदि समवायसम्बन्धेन क्वचन तिष्ठतु का हानिरिति प्रश्ने ईदमेव उत्तरं भवति - एकस्य समवायस्य समवायेन क्वचन स्थिति-स्वीकारे द्वितीयस्य समवायस्यापि समवायेन स्थितिः, तद्वत् तृतीयस्य, चतुर्थस्य च समवायेन तस्य समवायान्तरेणेति अनवस्था अतः समवायो न समवेत इति सिद्धान्तः। तत्र प्रथम : पदार्थो द्रव्यं स्वावयवेषु समवायेन तिष्ठतीति द्रव्यपदार्थः समवेतपदेन गृहीतो भवति। गुणाः अथ च कर्माणि स्वाश्रये द्रव्ये समवायेन तिष्ठन्तीति गुण- कर्मपदार्थयोरपि समवेतपदेन ग्रहणं भवति। सामान्यम् इति जातिरिति वा प्रोच्यताम् - नार्थान्तरम्। सामान्यपदार्थ : द्रव्यगुणकर्मसु समवायेन तिष्ठतीति एषां त्रयाणाम् आश्रयाणामपेक्षया सामान्यपदार्थ : अपि समवेतपदेन गृह्यते। विशेषाः नित्यद्रव्येषु समवायेन तिष्ठन्तीति विशेषपदार्थोपि समवेतपदग्राह्यो भवति। ततश्च साधु प्रोक्तम् -

अवयवावयविनो : गुणगुणिनो : क्रियाक्रियावतो : जातिव्यक्त्यो : नित्यद्रव्यविशेषयोश्च समवायः सम्बन्धः इति।[7]

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ इति च[8]

समवेतत्वं नाम समवायसम्बन्धवच्चम् - इत्येवं परिष्कारे सति परमाणूनां निरवयवत्वेन क्वचिद् समवायेन विद्यमानत्वाभावेऽपि तेषां द्यणुकेन समवायसम्बन्धवत्त्वं न नोपयुज्यते। तद्वद आकाशादौ शब्दस्य समवायवत्त्वं विद्यत एवेति तेषामपि प्रथमाध्याये निरूपणं युज्यते। प्रथमाध्यायस्य प्रथमे आह्निके जातिमतां द्रव्यगुणकर्मणां त्रयाणां पदार्थानां निरूपणं विहितम्। द्वितीये आह्निके जातिपदार्थस्य विशेषपदार्थस्य च निरूपणं विहितम्।

आह्निकद्वयवति द्वितीयाध्याये द्रव्यप्रभेदनिरूपणमादृतम्। तत्र प्रथमाह्निके पृथिव्यादीनां पञ्चभूतानां निरूपणम् द्वितीयाह्निके तु दिक्कालयोर्निरूपणं विहितम्।

तृतीयाध्यायस्य प्रथमे आह्निके आत्मलक्षणम् द्वितीये आह्निके मनसो लक्षणं वितत्य प्रतिपादितम्। चतुर्थाध्यायस्य प्रथमे आह्निके शरीरस्वरूपनिरूपणम् द्वितीये आह्निके शरीरविवेचनोपयोगि - परमाणुकारणत्वं निरूपितम्। पञ्चमाध्यायस्य द्वयोः आह्निकयोः क्रमेण शरीरसम्बन्धि - कर्मचिन्तनम्,

मानसकर्मचिन्तनं च साधु वर्णितम्। श्रौतधर्मनिरूपणपरे षष्ठाध्याये प्रथमे आह्निके दानप्रतिग्रहधर्मविवेकः द्वितीये आह्निके चतुराश्रमोचितधर्मनिरूपणं समादृतम्। सप्तमाध्याये प्रथमाह्निके बुद्धिनिरपेक्षाणां रूपरसादिगुणानां द्वितीयाह्निके बुद्धिसापेक्षाणां द्वित्वपरत्वापरत्वपृथक्त्वादीनां निरूपणं विहितम्। अष्टमाध्याये निर्विकल्पसविकल्प - प्रत्यक्षप्रमाणचिन्तनम् नवमाध्याये बुद्धिविशेषप्रतिपादनम् अथ दशमाध्याये सप्रभेदम् अनुमानविवेचनं विहितम्।

वैशेषिकदर्शनस्य त्रिधा प्रवर्तनम् अभिनन्द्यते- उद्देशः लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र उद्देशो द्विविधः- सामान्योद्देशः यथा द्रव्यगुणादयः षट्पदार्थाः इति। विशेषोद्देशः यथा - द्रव्याणि पृथिव्यादीनि नवैव इत्यादि।

अथ द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया इति षडेव ते पदार्थाः इति उद्देशवाक्ये क्रमस्य औचिती किम्मूला इति जिज्ञासायामुच्यते - धर्मिणि ज्ञाते धर्माः ज्ञातुं शक्यन्ते इति धर्मापेक्षया धर्मिणः प्राधान्यात् प्रथमं द्रव्यं निरूपणीयतामर्हति। गुणकर्मणोः साक्षाद् आधारः द्रव्यम्। द्रव्यत्व - पृथिवीत्व घटत्वप्रभृतिजातेरपि साक्षाद् आधारो द्रव्यम्। गुणत्वजातेः गुणद्वारा द्रव्यमाधारः, तद्वत् कर्मत्वजाते : कर्मद्वारा परम्परया द्रव्यम् आधारः। विशेषाणां साक्षाद् आधारः द्रव्यम् । समवायस्य क्वचित् साक्षाद् आधारः क्वचित् गुणद्वारा कर्मद्वारा वा द्रव्यम् आधारः। गुणकर्मजातीनां मध्ये गुणकर्मणोरपि जात्याश्रयत्वेन जात्यपेक्षया प्राधान्यात् ततः पूर्वं निर्देशः। गुणकर्मणोर्मध्ये गुणस्य सकलद्रव्यवृत्तित्वात् पूर्वमुपस्थितिः। कर्मणस्तु कतिपयद्रव्यवृत्तित्वेन पश्चाद् उपस्थितिः। अतः गुणात् परं कर्मणः निर्देशः। कर्म विभुद्रव्येषु न तिष्ठति गुणस्तु गुणत्वेन रूपेण सकलद्रव्यवृत्तिर्भवति। ततः कर्मापेक्षया गुणस्य प्राग् उद्देशः समादृतः।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षडेव पदार्थाः इत्युद्देशवाक्येन स्पष्टमवगम्यते। यद्यपि शक्तिः सादृश्यं वा भावः पदार्थः अस्ति तथापि न स सप्तमः षट्स्वेवान्तर्भावात्।

एवम् अन्धकारः यद्यपि सप्तमो विद्यते तथापि न स भावः। तस्य तेजोऽभावरूपत्वात्।

भावपदार्थेषु प्रथमः द्रव्यम्। तल्लक्षणं द्रव्यत्वम्, यत्र द्रव्यत्वं तदेव द्रव्यम् भवति। द्रव्यत्वं हि नवविधेषु द्रव्येषु वर्तते न चान्यत्र गुणादौ वर्तते इति द्रव्यत्वं द्रव्यस्य लक्षणं समुपद्यते। अथ द्रव्यत्वं किमिति जिज्ञासायामुच्यते - गगनसमवेतत्वे सति अरविन्द - समवेतत्वे च सति नित्यत्वे सति गन्धासमवेतत्वं द्रव्यत्वमिति। द्रव्यत्वं यतो नवविधेषु पृथिव्यादिषु वर्तते ततः गगनेऽपि विद्यते। अरविन्दः पृथिवीति पृथिव्यन्तगर्तत्वाद् अरविन्देऽपि द्रव्यत्वं वर्तते। जातेर्नित्यत्वात् द्रव्यत्वजातौ नित्यत्वमपि सुलभम्। द्रव्यत्वं हि गन्धासमवेतमपि विद्यत एव। गन्धो हि गुणः। द्रव्यत्वं द्रव्यमात्रवृत्ति यतः ततः द्रव्येष्वेव तत् समवेतं भवति न पुनः गन्धे तस्य गुणत्वात्। तदेवं द्रव्यत्वलक्षणम् अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषशून्यम् यतः ततः प्रशस्यते। अथ एतस्य द्रव्यलक्षणस्य पदकृत्यं विचार्यताम्। द्रव्यलक्षणे गगन- समवेतत्वे सति इति विशेषणपदानुपादाने पृथिवीत्वे लक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यात्। पृथिवीत्वम् अरविन्दसमवेतं सद् नित्यमपि विद्यते। गन्धाधिकरणे पृथिव्यां विद्यमानं सदपि गन्धे पृथिवीत्वं

न तिष्ठतीति गन्धासमवेतं भवति। अत : तामेनाम् अतिव्याप्तिं वारयितुम् गगन – समवेतत्वे सतीति सत्यन्तं विशेषणदलं द्रव्यलक्षणे निवेश्यं भवति।

द्रव्यलक्षणे अरविन्दसमवेतत्वे सतीतिपदानुपादाने द्रव्यलक्षणस्य गगनगतैकत्वसंख्यायाम् अतिव्याप्तिः स्यात्। तथाहि गगनगतैकत्वसंख्या गगनगुण : गगने विद्यते समवायेन। नित्यगतस्य एकत्वस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् गगनगतैकत्वे नित्यत्वमपि प्रतितिष्ठत्येव।

गन्धे च गगनगतैकत्वं न स्थातुमर्हति- गुणे गुणानङ्गीकारात्। तदेवम् अरविन्दसमवेतत्वे सतीति सत्यन्तानुपादाने द्रव्यत्वलक्षणस्य गगनगतैकत्वे अतिप्रसक्तिः सुस्पष्टैव। अरविन्दसमवेतत्वे सतीति विशेषणदलोपादाने तु अरविन्दे अरविन्दगतैकत्वसंख्याया: समवेतत्वे सत्यपि गगनगतैकत्वं तत्र न तिष्ठतीति वारिता भवत्युक्तातिव्याप्तिः।

अथ द्रव्यत्वलक्षणे नित्यत्वे सतीति पदानुपादाने. न काचित् क्षतिरिति चेद् उच्यते। गगनम् अरविन्दं चेति - एतदुभयगतं यद् द्वित्वं तस्यां द्वित्वसंख्यायां द्रव्यत्वलक्षणस्य अतिप्रसक्ति: स्यात्। तथाहि - उभयगतद्वित्वसंख्या गगने अरविन्दे च समवेता विद्यते अथ च गन्धे असमवेता भवति किन्तु एषा नित्या तु नैव भवति। द्वित्वादिसंख्या सर्वत्र अपेक्षाबुद्धिजन्या भवति ततश्चानित्यैव भवति।

गन्धासमवेतत्वमिति - पदानुपादाने सत्ताजातौ द्रव्यत्वलक्षणस्यातिप्रसक्ति: स्यात्। सत्ता जातिः समवायेन द्रव्ये गुणे कर्मणि चेत्यत्र त्रितये यतो विद्यते ततः गगने अरविन्दे च वर्तते नित्या चास्ते। गुणेऽपि जातेर्विद्यमानतया गन्धासमवेतत्वमिति पददानेनैव अतिव्याप्तिर्वारिता भवति।

तदेवं काणाददर्शनस्य चिन्तनं नितरां व्यापकं व्युत्पादकं च भवति। पदसाधुत्वासाधुत्वव्युत्पत्तिः यथा सर्वशास्त्राध्ययने सहाया भवति तथा कणाददर्शनस्यापि चिन्तनं पदार्थपरिचये व्युत्पत्तिं साधीयसीम् आकलयद् अध्येतु: सर्वशास्त्रप्रवेशे सहायम् भवतीति समीचीनेयं सूक्तिः विलसति -

“काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।” इति[9]

सन्दर्भाः -

1. गौतमीयं न्यायसूत्रं प्रथमम्
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् - 3/8
3. उद्धृतम् - सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ. 210
4. आत्मदर्शनोपायपरिशीलनपद्यम्
5. उद्धृतम् - सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ. - 211
6. न्यायकुसुमाञ्जलिमङ्गलम्
7. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - प्रत्यक्षखण्डः
8. कारिकावली - प्रत्यक्षखण्डः
9. शास्त्रीयं सूक्तिरत्नम्

समीक्षाया निकषग्राव्णि "निर्याति नैव स्मृतिः"

• डॉ. सन्तप्रकाशतिवारी*

शोधसारः शोधपत्रेऽस्मिन् कवेः मनीषिणः आचार्यओम्प्रकाशपाण्डेयमहोदयानां ध्वस्तग्राम्यजीवनं प्रति संवेदना दृश्यते। समाजे सम्प्रति ग्रामीणजीवनस्यातीवनैराश्यपूर्णं वातावरणं वर्तते। जनाः नगरं गत्वा ग्रामीणजीवनार्थं न किमपि चिन्तयन्ति। पारिवारिकजीवनस्य उच्छेदः जायते। समाजस्य विघटनं दृश्यते। या विकृतिपरम्परा पूर्वं केवलं नगरमात्रं यावत् दृश्यते स्म तदधुना प्रतिग्रामम् भवन्ननुभूयते। एतान् विविधविषयानधिकृत्य आचार्यपाण्डेयमहोदयेन आधुनिकग्राम्यजीवनस्य जर्जरस्थितेः या वास्तविकता निरूपिता तस्य इदमित्थं किञ्चित् विचारणा विधीयते।

बीजशब्दाः - ग्रामीणजीवनम्, वीथिका, मृद्भाण्डम्, लोकसंस्कृतिः, नगरजीवनम्, यन्त्रालयः, पर्युत्सुकीभावः, जन्मभूमिः, सहिष्णुता, सौन्दर्यम्, पश्चात्तापम् इत्यादयः।

''निर्याति नैव स्मृतिः'' कवेर्मनीषिणश्च प्रो0 ओम्प्रकाशपाण्डेयमहाभागानां खण्डकाव्यमयी नवा संस्कृतरचना अस्ति। प्रबन्धकाव्यमिदम् एकादशाधिकशतपद्येषु गुम्फितम्। रचनेयं कालजयी अस्ति। काव्येऽस्मिन् प्रस्तौति कविः परित्यक्तगृहपरिकरस्य स्वसुखमात्राभिलाषिणः कस्यचित् प्रवासदैन्यजर्जरचित्तस्य युवकस्य पश्चात्तापम्। प्रापञ्चिकेऽस्मिञ्जति कालक्रमेण किङ् किन्न परकीयं भवति। केवलं स्मृतय एव स्वीयास्तिष्ठन्ति। स्मृतीनामस्मिन् निचयेऽपि काश्चन् स्मृतयो विशिष्टा भवन्ति यासाम्माधुर्येण सौरभ्येण च जीवनक्रमोऽयं प्रचलति। वयसः संसरणादिमाः स्मृतयोऽपि क्रमशः प्रियतराः प्रियतमाश्च जायन्ते। स्मृतीनाम् अस्मिन् समुच्चये वर्ततेऽस्माकमुध्वस्तं ग्रामजीवनम्। स्वातन्त्र्योत्तरकाले भूयो-भूयो ग्राम विकासाय प्रतिश्रृण्वाद्भिरपि राजनेतृभिः ग्रामाणां कीदृशी दुरवस्था कृता- इत्यस्य यत्किञ्चिदुट्टंकनं वर्ततेऽस्मिन् काव्ये। नगरजीवनमपि सन्त्रस्तमेव विद्यते यत्र वातानुकूलभवनैर्हि नरो निगीर्ण एव प्रतिभाति। सङ्क्लिष्टाऽप्यनन्ततेयं कथा नैषा केवलं कवेः अपितु वस्तुतस्त्वेषा त्वदीया मदीयाऽऽस्माकीनां चेति सर्वेषां सर्वासां वा।

कवेः जन्म षडधिकद्विसहस्रतमे विक्रमाब्दे आश्विनमासस्य कृष्णाष्टम्यां उत्तरप्रदेशस्य, बाराबङ्कीजनपदस्य, बबुरीनामकग्रामे अभवत्। कवि प्रो0 ओम्प्रकाशपाण्डेयमहाभागः आचार्यादारभ्य डी. लिट्. पर्यन्तोपाधिभिर्विभूषितः। कविरसौ भारतसर्वकारस्य संस्कृतसेवाक्षेत्रे दीयमानेन

*सहायकाचार्यः, संस्कृतपालिप्राकृतप्राच्यभाषाविभागः, इलाहाबादविश्वविद्यालयः, प्रयागराजः

राष्ट्रपतिसम्मानेन पञ्चदशाधिकद्विसहस्रतमे वर्षे सम्मानितः। भारतसर्वकारस्यैव साहित्याकादमिपुरस्कारेणापि एतेषां रचना सम्मानिता। वेदविद्यामनीषिणः प्रो0 पाण्डेयमहाभागाः काले-काले विविधैः प्रान्तीयैः राष्ट्रीयैश्च पुरस्कारैः सभाजिताः सन्ति। एतेषां प्रकाशितग्रन्थेषु वेदत्रयीपरिचयः, वैदिकखिलसूक्तानामेकमध्ययनं, वैदिकसाहित्यसंस्कृत्योः समीक्षात्मक इतिहासः, वरदराजस्तवः, सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थानां परिशीलनम्, संस्कृत वाङ्मयस्य बृहदितिहासगतं (वेदाङ्गखण्डम्), जीवनपर्वनाटकं, निर्याति नैव स्मृतिः, वेदनावल्लकी, अमृतमन्थनं, स्वातंत्र्यगाथा, रसप्रियापेरिसराजधानी, संवेदनाशिखरम्, रसप्रियाविभावनम्। इत्यादयः प्रायेणैकपञ्चाशद् ग्रन्थाः प्रमुखाः सन्ति। लखनऊ विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाचार्योऽध्यक्षचरश्च प्रो0 पाण्डेयः फ्रान्सदेशस्य सोरबोन नूवेल पेरिसविश्वविद्यालयेऽभ्यागताचार्यपदं उज्जयिनीस्थ महर्षिसान्दीपनिराष्ट्रियवेदविद्याप्रतिष्ठानस्य सदस्यसचिवपदञ्चापि काले-काले समलङ्काचकार।

कथावस्तु- प्रायः संस्कृत भाषोपनिबद्धानि बहूनि काव्यानि वत्सरमनुवत्सरं यत्र-तत्र प्रकाश्यन्ते, किन्त्वाधुनिक समये प्रकाशितान्यप्येतानि काव्यानि सर्वथाऽऽधुनिक तत्त्व विरहितानि भवन्ति प्रायशः। किन्तु ‘‘निर्याति नैव स्मृतिः’’ काव्यान्तर्गते आधुनिक ग्राम्यजीवनस्य जर्जरस्थितेः रुचिरनिरूपणं वर्तते। काव्येऽस्मिन् ग्रामस्य कश्चन युवकः जीविकोपार्जनाय मुम्बई नगरं गच्छति। सः कस्मिश्च यन्त्रालये एकं विशिष्टं पदं लब्धवान्। अस्य यन्त्रालयस्य स्वामिना ग्रामीणयुवकेन सह स्वदुहितायाः विवाहोऽकारि। ग्रामीणयुवकस्य एषा भार्या जगत्प्रपञ्चे निपुणाऽऽसीत्। असौ युवकः मुम्बईनगरस्य रागरङ्गे अनुरक्तोऽभवत्। अधुना ग्रामस्य वा गृहस्य स्मृतिः अपि तस्य हृदये न विद्यते। तदनन्तरं बहुकालात् परम् एकदाऽऽकस्मिक कारणेन तस्य जीवने पर्युत्सुकीभावः उत्थितः। तत्पश्चात् सकलसुखराशयः तस्य कृते मूल्यहीनाः अभवन्। तस्मिन् समये सः पुरुषः मनोरञ्जनार्थम् अम्भोधितटं गतवान्। अम्भोधितटे तस्य पूर्वप्रेमिका आसीत्। स्वप्रेमिकां दृष्ट्वा सः पुरुषः तां समया गत्वा तया सह आलापं कृतवान्। सः प्रेमिकां तस्याः स्वगृहस्य चोदन्तं पृष्टवान्। सा दुःखाभिभूता सती तस्याः पत्युः मृत्युसंवादं श्रावितवती। ततः परं सा पुरुषस्य ग्रामस्मृतिविषये प्रश्नं कृतवती। प्रश्नं श्रुत्वा पुरुषः ग्रामस्मृतेः विषयानखिलान् तत्पुरतः उपस्थापितवान्। ग्रामस्य प्रकृतिसौन्दर्यं तथा ग्राम्यजनानां जीवनवृत्तं पुरुषः स्वमुखेन यथावद् अवदत्। ततः स्वपूर्वप्रेयसीमुखात् स्वगृहस्य दैन्यवार्ता श्रुत्वा उच्चैररोदीत्। पश्चात्तापानलेन दग्धीभूतस्सन् स्वजन्म तिरश्चकार। ततः परं चन्द्रे मध्याकाशे गते सति। सः पुरुषः पूर्वप्रेयस्या सह अचलत्।

ग्राम्यजीवनम्-असारे खलु संसारे सर्वे अलभ्याऽपि पदार्थाः परिश्रमेण प्राप्याः सन्तिते, परं पितरौ जन्मभूमिश्च न केनापि यत्नेन प्राप्यते, यथा हि तदुक्तम्-

जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्चदुर्लभाः।।

जननीवत् जन्मभूमिरपि प्राणेभ्योऽपि स्निग्धतमा तथा स्वर्गादपि गरीयसी भवति। इयं जन्मभूमिः अस्माकं मात्रा सह अस्मानपि लालयति, पालयति, पोषयति वर्द्धयति च। अत्र कविः ओम्प्रकाशपाण्डेयः काव्यस्य पुरुषचरित्रमाध्यमेन जन्मभूमेः ग्रामस्य चित्रणं स्फुटतया करोति। ग्रामस्य मृत्तिका, तां

प्रत्यनुरागः, ग्राममित्रैस्सह खेलनम् इत्यादयः ग्रामस्मृतयः पुरुतः आयान्ति। ग्रामस्य मृण्मयोगृहः प्रावृड्कालः, ग्रामवीथिका च रमणीया स्मरणीया च भवति। अतः कविनोक्तमस्मिन्नेवकाव्ये-

ग्रामस्यावसतिर्मृदा विरचिता, वर्षर्तुकालश्च सः,
वीथ्यः पङ्कजलाविलाश्च सततं स्कन्दज्जलन्तद् गृहम्।
वारं वारमहो! निषीथसमये क्लिन्नाश्च कन्थाश्च मां,
रक्षन्तीमधुना स्मरामि जननीं कक्षाच्च कक्षं गताम्।।[1]

ग्रामे ऋतूणां रुचिरवर्णनमपि कविना कृतम् हेमन्तकाले ग्रामे रात्रौ जनानामग्नितापसेवनमतीवरमणीयम्। स्वयं कविना उक्तम्-

हेमन्तस्य निषावसानरहिता दीर्घा च दुर्दैववद्,
धूमक्लिन्नविलोचना अपि जनास्तापार्थमग्न्याश्रिताः।
रात्राविक्षुरसोदनैश्च पयसा पक्वं सुमिष्टान्नकम्,
ह्युष्णे यत्नियन्त्रितेऽपि भवने तत्साधु संस्मर्यते।।[2]

लोकसंस्कृतिः-

भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा अर्थात् संस्कृतिं विहाय भारतस्यापरः परिचयः नास्ति। भारतस्य संस्कृतिः ग्रामे एव विपुलतया दृश्यते। अतः कविः ग्रामे स्थितां भारतीयसंस्कृतिं काव्ये मजञ्जुलतया वर्णयन् लोकतत्त्वस्य समादरं करोति। भारतीयस्त्रीणां कर्कचतुर्थी व्रतपालनं लोकसंस्कृतेः चरमं निदर्शनमस्ति, यथोक्तमनेनैव कविना-

आयुष्याय धवस्य मङ्गलमयोत्थानाय चाहर्निषं,
संलग्नामधुना स्मरामि जननीं साध्वीं व्रतस्थाञ्चताम्।
तस्याः कर्कचतुर्थिकाव्रतविधावट्टालिकास्थे च मयि,
वृक्षाभ्यन्तरतः शनैः सपुलकष्चन्द्रोदयः स्मर्यते।।[3]

ग्रामे भगिनीनां भ्रातृद्वितीयोत्सवपालनं स्मरणीयं रमणीयं च भवति-

विघ्नव्यूहमचिन्त्य श्वसृ-भवने यातस्य बन्धोः कथाम्,
प्राकारं यवगोमयैर्विरचितं दूर्वादलैः कण्टकैः।
तस्मिन् बन्धुजनस्य भालपटले भ्रातृद्वितीयोत्सवे,
टीकोट्टंकनमादिकञ्च निखिलं भूयः स्मरामो वयम्।।[4]

अपि च होली वर्णनमप्यत्र समुल्लेखनीयम्-

उन्मुक्तस्तरुणो भिनत्ति हृदयग्रन्थिञ्च यत्रोत्सवे,
स्वैरं क्लिन्नतनुः प्रयाति युवती पङ्कोपलिप्ता गृहे।
वृद्धा यत्र समाप्नुवन्ति युवभिः सार्धं नवं यौवनं,
ग्रामे होलिकपर्वणो मधुमयी रीतिश्च सा स्मर्यते।।[5]

नगरजीवनम्- नगरेषु सुविधाः अधिकाः सन्ति, अतः सर्वेऽपि नगरेषु एव निवासम् इच्छन्ति। नगरेषु जीविकोपार्जनस्य बहव उपायाः सन्ति। तत्र जनाः सरलतयाजीविकाया निर्वाहं कर्तुं समर्थाः भवन्ति। नगरजीवनं सर्वेभ्यः रोचते। किन्तु नगरजीवनमपि सत्रस्तमेव विद्यते यत्र वातानुकूलभवनैर्हि नरो निगीर्णः। स्वयं कविना उक्तम्-

एतैरसङ्ख्य विवरैश्च समुन्नतैस्तु भव्यैर्हि लौहघटितैश्च तलातलैर्नु।
पाषाणखण्डरचितैरपि वज्रलिप्तैर्वातानुकूलभवनैश्च नरो निगीर्णः।।[6]

महानगरेषु आत्मीयतायाः, सज्जनतायाः, सहिष्णुतायाश्च भावना न विद्यते। अत्र जनाः लाभालाभौ विचार्य एव सम्बन्धं स्थापयन्ति। यथा हि-

आत्मीयता सुजनता च सहिष्णुता वा, नास्त्येव किञ्च सहभाव इहापि कश्चित्।
सम्बन्धमत्र तनुतः किल लाभ-हानी, स्वार्थं प्रबन्धघटितैव समस्तप्रीतिः।।[7]

कवेरस्यां कवितायां ग्राम्यनगरजीवनयोः संघर्षस्य साक्षात्कारः दृश्यते। ग्रामसौन्दर्यं नगरसौन्दर्यं सर्वथाऽतिक्रामति। काव्यानुसारं ग्रामो हि ईश्वरकृतः नगरं च मानवकृतम् अस्ति। ग्रामेषु यथा अकृत्रिमं सुखदं सौन्दर्यं न तथा नगरेषु। मन्दमारुतान्दोलितपल्लवान् विस्तृतानि क्षेत्राणि वनस्पतीः विविधानि नवानि शष्पाणि चालोक्य जनः प्रह्लादते। प्रशान्तायां प्रत्यूषबेलायां क्षितिजमाक्रममाणस्य बालार्कस्य अभिनवोदितस्य कुमुदिनीनायकस्य चन्द्रस्य वा सन्दर्शने मन्दसुरभिसमीरणसेवने ग्रामीणाः एव शक्नुवन्ति न नागरिकाः। नगरे तु सर्वं कृतकं कृत्रिमं वा। यथा कृत्रिमाः गृहाः कृत्रिमाः खेलाश्च। ग्रामे प्रायः सर्वत्रैसर्गिकमिति निश्चितम्।

स्मृतिचित्राणि - प्रबन्धकाव्येऽस्मिन् स्मृतिचित्राणि रुचिरतया निरूपितानि। काव्यस्यास्य नायकः कथयति- भो भद्रे! अद्यापि स्मृतिः मम मनसि विद्यते। रूपं याति, वयः याति, शरीरस्य कान्तिः याति, किन्तु न याति स्मृतिः। अद्यापि तव सेवाभक्तिर्मममनसि ह्लादं वितनोति। वर्षाकाले गते सति, सरोवरस्य अगाधं जलं शुष्कीभवति। एकैकं कृत्वा पक्षिणः सरोवरमुज्झित्वा आकाशं प्रति उड्डीयन्ते। परन्तु कश्चित् क्लान्तपथिकः सरोवरं समया अटनसमये पुण्डरीकस्य यं सुगन्धं समास्वादितवान् तं सः कदापि न विस्मरति। स्वयं कविनोक्तमस्य हृद्यंचित्रम्-

प्रावृड् याति, क्षयत्यगाधसलिलं शुष्यत्यजस्रं सरः,
एकैकाश्चविहङ्गमास्तु वियति भ्राम्यन्ति मुक्त्वा तटम्।
आघ्राताऽध्वनि पुण्डरीकसुरभिः श्रान्ताऽध्वनीनेन या
सर्वं याति, न याति किन्तु सुरभेः स्निग्धा च सा संस्मृतिः।।[8]

क्रीडानन्दः बाल्यवयसा सहैव गच्छति। यौवने व्यस्ततावशात् क्रीडनस्यावसरं एव न सँल्लभ्यते। किन्तु बाल्यवयसा गुलिकादण्डस्य क्रीडा न विस्मर्यते। कविना अनेकानि तीर्थानि पर्यटितानि साधूजनसेवा कृता, विविधा धर्माचार्याः पूजिताः एतेषां सर्वेषां विस्मरणं जातम्, परन्तु बाल्यकाले ग्रामस्य जीर्ण-शीर्णशिवालये सन्ध्यासमयस्य स्तोत्रध्वनिः न विस्मर्यते। तेन विविधानि शास्त्राणि समीक्षितानि,

विविधा विद्या अधीताः गुरोश्च कृपया निर्मलं यशः लब्धम्। परन्तु बाल्यकाले गुरुः एकां चपेटिकाम् अताडयत्, तस्य स्मृतिः अद्यापि तस्य मनसि पटले विद्यमाना अस्ति। यथा-

शास्त्राण्यत्र समीक्षितानि विविधा विद्याः समालोचिता,
भूयोऽप्यत्र मयागुरोश्च कृपया लब्धं यशो निर्मलम्।
बाल्ये किन्तु चपेटिका गुरुवरादासादिता या मया,
अद्याप्येव च माद्यतीह नितरां तस्याः स्मृतिः पावनी।।[9]

आम्रफलं स्वादु भवति, नाम्नैव इदं रसालमिति कथ्यते। यद्यपि द्राक्षाऽत्यन्तमधुरा भवति, तथापि कदलीफलस्य मधुरता अपि स्पृहणीया वर्तते। किन्तु बाल्यकाले विद्यालयस्य प्राङ्गणे या तितिण्डी तेनास्वादिता तस्याः स्मृतिः अद्यापि तस्य मनसि विद्यते। मुम्बईनगरान्तर्गतोपाहारगृहे अभ्यवहारसूचिकामुररीकृत्य विचारणकाले शुष्कगोमयोपरि स्फीतपयः, रोटिका तथा सर्षपशाकश्च स्मृतिपथान् न निर्गच्छन्ति। यथा-

मृद्भाण्डस्थपयः प्रगाढ़मधुरं पक्वञ्च तद्गोमयैः,
क्लृप्ते वह्निचये यवान्नघटिता मृद्व्यश्चता रोटिकाः।
शाकः सर्षपपत्रराशिकलितो ह्यायुष्करन्तद् घृतम्,
मध्येमोहमयीं सुभोज्यचयने तत्तन्मया स्मर्यते।।[10]

आधुनिक जीवनम्- जगति जनप्रसूयितारौ मातृभूमिश्च सर्वोत्तमे स्तः। प्रायशः ग्रामस्यान्तेवासिनः इत्थं शुभाशां कुर्वन्ति, यत् ग्रामस्य युवकः पठनान्तरं ग्रामं समागत्य अस्माकं हितसाधनं करिष्यति। परन्तु राष्ट्रेऽस्मिन् तेषामियं शुभेच्छा केवलं प्रतीक्षामेव प्राप्नोति। यथा-

ग्रामं परावृत्य युवास्मदीयो हितंकरिष्णुः समधीतविद्यः।
प्रतीक्षमाणाश्च शुभैषिणस्ते शुभेच्छया चापि शुभाशया वा।।[11]

एतादृशं मर्मस्पर्शिवर्णनं संस्कृतकवितायां प्रायेण नावलोक्यते। सुशिक्षिता युवानोऽर्धाङ्गवशीकृता न स्मरन्ति जन्मदात्रीं न पितरं न चापि जन्मभूश्रियम् (ग्रामे) तत्र एवाऽवशिष्टा ये सर्वथाकिञ्चित्करा जराजर्जराश्च। संयुक्त परिवारपरम्परा भग्नप्रायाऽवलोक्यतेऽद्य राष्ट्रे।

रसनिष्पत्तिः - ''न हि रसादृते कचिदर्थः प्रवर्तते''[12] इति भणित्यनुसारं रसं विहाय अर्थस्य महत्त्वं न विद्यते। अर्थात् यत्र-यत्र रसो भवति तत्र-तत्र शब्दस्यार्थस्य च चारुत्वमवगम्यते। अतएव कविराजविश्वनाथः **''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''**[13] इति उद्घोषयति। प्रबन्धकाव्येऽस्मिन् कदाचित् विप्रलम्भस्य स्फुटता दृश्यते यदा नायकः पूर्वप्रेयसीं दृष्ट्वातीतं स्मरति तदा विप्रलम्भस्यास्वादः सहृदयो करोति। यथा-

भद्रे! श्रुतं तदखिलं हि मया त्वयोक्तम्, चिन्तातुरस्तदनुबोद्धुमहं समर्थः।
त्वामत्र खिन्नहृदयामधुनोपलभ्य, किंस्विन्मुमूर्च्छिषति चित्तमिदं न जाने।।[14]

यद्यपि अत्र काव्ये विप्रलम्भस्य स्फुटता दृश्यते तथापि शान्ते तस्य पर्यवसानं भवति।

निष्कर्षतः खण्डकाव्येऽस्मिन् स्मृतीनां सौरस्यं, विलुप्तप्रायं ग्राम्यजीवनं, सन्त्रस्तं नगरजीवनञ्च रमणीयतया समुट्टङ्कितं वर्तते। काव्यमेतद् आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्यैका विशिष्टा समुपलब्धिरस्ति।

सन्दर्भाः -

[1] निर्याति नैव स्मृतिः श्लोक सं0 92

[2] तदेव 94

[3] तदेव 97

[4] तदेव 98

[5] तदेव 99

[6] तदेव 34

[7] तदेव 36

[8] तदेव 71

[9] तदेव 81

[10] तदेव 95

[11] तदेव 108

[12] नाट्यशास्त्र

[13] साहित्य दर्पण 1/3

[14] निर्याति नैव स्मृतिः श्लोक सं0 69

शून्यवादविमर्शः

• डॉ. नन्दिघोषमहापात्रः*

शोधसारः – शून्यवादः बौद्धधर्मस्य महायानशाखायाः माध्यमिकसम्प्रदायस्य सिद्धान्तः। अपरोक्षानुभूतिद्वारा यत्साक्षात्कर्तुं शक्यते, यस्मिन् बुद्धिविकल्पनानां विश्रान्तिर्भवति, यत्प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्, यदनिन्द्रियम्, यद् बुद्धिविकल्पातीतम्, यत्र न द्वैतभावनायाः अवकाशः, यत्केवलमेवाद्वैतं तदेव तत्त्वम्। तदुक्तम् नागार्जुनेन -

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम् ।।[1]

शून्यमेव तत्त्वम् । शून्यं नाम न नितान्तमसत् नापि सर्वनिषेधः ।"शून्यम्" एव पारमार्थिकं तत्त्वं भवति। शून्यस्य स्वरूपं वर्णयता माधवाचार्येण सर्वदर्शनसंग्रहे तल्लक्षणमुच्यते - **तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमिति। (स.द.सं. पृ.सं. 55)** प्रकृते तु शून्यं न सद्रूपं, नासद्रूपं, नोभयरूपं, नाप्यनुभयरूपम्। अतो अनिर्वचनीयमिति। तदुक्तं मूलमाध्यमिककारिकायामाचार्यनागार्जुनेन –

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।।[2]

बीजशब्दाः – शून्यम्, बौद्धः, माध्यमिकः, संवृत्तिः, अज्ञानम्, प्रतीत्यसमुत्पादः।

भारतीयदर्शनपरम्परायां नास्तिकदर्शनसम्प्रदाये मुख्यतः दर्शनत्रयं विशिष्टं स्थानमावहति। तेषु बौद्धदर्शनमन्यतमम्। भगवता बुद्धेनोपदिष्टमिदं दर्शनं बौद्धदर्शनमिति। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना इति न्यायेन बुद्धोक्तोपदेशाः चतुर्भिः विचारैः विभक्ताः। ततः दर्शनस्यास्य चत्वारः सम्प्रदायाः समारब्धाः।

1. सौत्रान्तिकसम्प्रदायः
2. वैभाषिकसम्प्रदायः
3. योगाचारसम्प्रदायः
4. माध्यमिकसम्प्रदायः

*सहायकाचार्यः, सर्वदर्शनविभागः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी, उत्कलाः

यद्यप्येतेषां सम्प्रदायानां केषुचित् सिद्धान्तेषु विचारसाम्यं दृश्यते तथापि परस्परमत्यन्तं मतभेदोऽपि परिलक्ष्यते। तदुच्यते –

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शुन्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।[3] इति॥

सौत्रान्तिकसम्प्रदायः - सौत्रान्तिकमते बाह्यार्थानुमेयवादः स्वीक्रियते। एतदनुसारेण बाह्यपदार्था इन्द्रियज्ञानगम्या न सन्ति। यतो हि पदार्थाः क्षणिकाः सन्ति, परिणामस्वरूपं इन्द्रियार्थसन्निकर्षकाले ज्ञानानुभवकाले च पदार्थाः परिवर्तिता एव सञ्जायन्ते। अत एव तस्मिन् क्षणे पदार्थान्तरमेव अभिमुखं भवति। एवं बाह्यपदार्थानां सत्ता प्रत्यक्षगम्या नास्ति, अनुमानेनैव तद् विज्ञायते। अयमेव सिद्धान्तः बाह्यार्थानुमेयवादो भवति।

वैभाषिकसम्प्रदायः - वैभाषिकमतानुसारेण इन्द्रियजन्यज्ञानमयस्य बाह्यजगतो मिथ्यात्वं नैव भवितुमर्हति। आन्तरतत्त्वस्य मनसोऽपि स्वतन्त्रा सत्ताऽस्ति। बाह्यपदार्थानां ज्ञानाय इन्द्रियाणाम् आन्तरतत्त्वेन सहयोगस्य आवश्यकता नास्ति। आन्तरतत्त्वान्यपि बाह्यपदार्थनिरपेक्षं ज्ञानं प्रति कारणभूतानि वर्तन्ते। एवमुभयोः पदार्थयोः स्वतन्त्रसत्ता सिद्ध्यति।

योगाचारसम्प्रदायः - योगाचारस्य सिद्धान्तः विज्ञानवादोऽस्ति। विज्ञानवादस्य विचारधारानुसारेण बाह्य-सत्ताया अस्तित्वम् एव स्वीकर्तुं नैव शक्यते, यतो हि बाह्यजगतः प्रयोजनकाले मनसि निपतितस्य प्रतिबिम्बस्य आधारेणैव तद् विज्ञायते। अत्र प्रतीतेराधारः ज्ञानमस्ति, अत एव ज्ञानम् अथवा विज्ञानमेव सत्यं तत्त्वमस्ति। चितं मनस् इत्यादि विज्ञानस्यैव संज्ञाऽस्ति। विज्ञानमेव चेतनक्रियासम्बन्धवशादेव चित्तमित्युच्यते, मनःक्रिया सम्बन्धवशादेव मन इति कथ्यते। विषयग्रहणस्य साधनतया एव विज्ञानं सिद्ध्यति।

शून्यवादः इति विषयस्यास्य विचारे आदावेव केचन प्रश्नाः मनसि समायान्ति यत् – माध्यमिकनामकरणस्य याथार्थ्यं किम्? शून्यवादः कः ? शून्यमिति पदेन किं विवक्षितमस्ति? इति।

माध्यमिकसम्प्रदायः - माध्यमिकनामकरणस्य याथार्थ्यं प्रतिपादयता माधवाचार्येण सर्वदर्शनसंग्रहे उच्यते –

शिष्यस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम्। तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यानुयोगो योगः। गुरुक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचरः। गुरुत्वस्याङ्गीकरणदुत्तमाः, पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः।[4] इति।

त्रिविधाः शिष्यास्तावदुपलभ्यन्ते उत्तममध्यमाधमभेदेन। **गुरुस्तु भगवान् स्वयम्**। अत एव **आज्ञागुरूणां ह्यवाचारणीया** इति न्यायेन गुरूक्तवचनमङ्गीकुर्वाणा ये त एव उत्तमाः। एवं च गुरूक्तवचनमज्ञात्वा विना प्रश्नमेव ये (स्थितप्रज्ञ इव ये) तिष्ठन्ति त एव अधमाः। अनयोः ये मध्यममार्गीणस्तेषां माध्यमिक इति प्रसिद्धिः। अयं योऽर्थः माधवाचार्येण प्रतिपादितः सोऽर्थः नैव

समीचीनः प्रतिभाति। वस्तुस्थितिः काचिद्भिन्नास्ति। ऐतिहासिकदृष्ट्या यदि वयं पश्यामः तर्हि माध्यमिकपदस्यार्थः मध्यममार्गानुयायिनः इति। भोगयोगयोः मध्यममार्गप्रतिपादनतत्पराः इमे माध्यमिकाः। तत्त्वचिन्तनदृष्ट्या यदि पश्यामस्तर्हि शाश्वतवाद-उच्छेदवादयोः एकान्तिकविचारान् त्यक्त्वा तन्मध्यमपन्थानुयायीनः इमे इति कृत्वा माध्यमिक इति नाम।

(शाश्वतवादः – वादेऽस्मिन् आत्मा परलोकादिनां नित्यत्वं स्वीक्रियते।

उच्छेदवादः - वादेऽस्मिन् मृत्योरनन्तरमात्मनः सत्ता नाङ्गीक्रियते, चतुभ्यः भूतेभ्यः उत्पन्नमिदं शरीरं तेष्वेव विलीयते।)

माध्यमिकानां सिद्धान्तः शून्यवादोऽस्ति। शून्यवादस्यास्य प्रवर्तकः आचार्यः नागार्जुनः। यद्यपि प्रज्ञापारमिता-रत्नकरण्डादिषु ग्रन्थेषु शून्यवादस्य विचारः दृश्यते तथापि सैद्धान्तिकरूपेण प्रामाणिकमुपस्थापनं अनेन आचार्येण स्वस्य मूलमाध्यमिककाराकायां पाण्डित्यपूर्णं विवेचनं कृतम्।

शुक्तौ आदौ तावत् रजतमिदमिति ज्ञानं जायते। ततः यदा वयं तत्सन्निकृष्टाः भवामः तदानीं नेदं रजतमिति निषेधस्य प्राप्तिः सञ्जायते। अत्र त्रिविधः निषेधः प्राप्यते। दर्शनक्रियायाः निषेधः, कर्तुः निषेधः, कर्मणश्च निषेधः यतो हि नञ् सम्बन्धः कारकान्वितक्रियया साकं वर्तते। एतत् शून्यवास्य स्थापने बलं प्रददाति।

अन्यैश्च नैयायिकैः सम्पूर्णनिषेधः अत्र नैव स्वीक्रियते। कुत्रचित् विशेषणस्य निषेधो भवति कुत्रचिच्च क्रियायाः निषेधः। यथा तमसि मया घटो न दृश्यते इत्युदाहरणे दर्शनक्रियायाः एव निषेधः। पद्भ्यां गच्छति न रथेन इत्यस्मिन्नुदाहरणे न क्रियायाः निषेधः। अतः एतेषां मते अर्धभागे विधानमन्यदर्धभागे निषेधः स्वीक्रियते। न हि अर्धजरतीयन्यायः अस्माभिः स्वीक्रियते। कुक्कुटस्यार्धभागः पाकार्थमन्यदर्धभागः प्रसवार्थमित्येतादृशी व्यावस्था नास्माकीनमभिमतम्। अतः आरोपितवस्तुनः अधिष्ठानं, तत्सम्बन्धः, दर्शनक्रिया, द्रष्टा इत्येतेषां मध्ये एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यापि निषेधः बलादापतति। एवं भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन स्थायित्वानुकुलवेदनीयत्वानुदतत्वसर्वसत्यत्वभ्रमनिवर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानमिति। अतस्तत्त्वं शून्यमेव।

शून्यवादमतानुसारेण बाह्यपदार्थोऽपि सत्यं नास्ति, आन्तरपदार्थोऽपि सत्यं नास्ति, विज्ञानमपि सत्यं नास्ति। शून्यमेव सत्यं वर्तते। अथ शून्यम् किं अस्तीति विचार्यते। शून्यं किं अभावोऽस्ति? अत्र माध्यमिकानां मतं वर्तते यत् शून्यं न तु भावरूपमस्ति, न चाभावरूपमेवास्ति, नाप्युभयरूपं, न चाप्यनुभयरूपम्। इदन्तु अनिर्वचनीयं वर्तते। सर्वेभ्यो भिन्नतया एवास्य शून्यसंज्ञाऽस्ति। इदमेव बौद्धदर्शनस्यान्तिमं सत्यमस्ति। तथाहि सर्वप्रथमं वैभाषिकसम्प्रदायेन बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षसत्ता स्वीकृता। तत्पश्चात् सौत्रान्तिकेन बाह्यार्थानुमेयवादस्य सिद्धान्तः प्रतिपादितः। तदनन्तरं योगाचारेण विज्ञानमात्रस्य सत्ता अङ्गीकृता। अन्ते च माध्यमिकेन शून्यमेव परमतत्त्वमिति संसाधितम्। एषु सम्प्रदायेषु वैभाषिकः हीनयानं स्वीकरोति, अवशिष्टाश्च त्रयः सम्प्रदायाः महायानं स्वीकुर्वन्ति।

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।

सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते।[5]

अथ शून्यस्य किं स्वरूपमिति विचारयामः।

शून्यस्य स्वरूपं वर्णयता माधवाचार्येण सर्वदर्शनसंग्रहे तल्लक्षणमुच्यते - **तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमिति।**[6]

प्रकृते तु शून्यं न सद्रूपं, नासद्रूपं, नोभयरूपं, नाप्यनुभयरूपम्। अतो अनिर्वचनीयमिति। तदुक्तं मूलमाध्यमिककारिकायामाचार्यनागार्जुनेन –

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।।[7]

शून्यपदस्य कोषगतः प्रचलितोऽर्थो भवति अभावः, रिक्तम्, असदिति। शून्यवदीनां मते शून्यमभावरूपं नास्ति। इदमेकं परिभाषिकपदमस्ति (Technical Term)। वस्तुतः अभावो भावस्य निषेधरूपः असत्यं सत्यस्य च निषेधरूपम्। भावस्य सत्यस्य वा निषेधः कथं कर्तुं शक्नुयामः। (नाभावो विद्यते सतः)। तदश्रित्य वक्ति आचार्यनागार्जुनः –

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःशरणं जनैः।

येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे।।[8]

कथनस्याभिप्रायः यत् शून्यं यदि अभावरूपं तर्हि कस्याभावः इति जिज्ञासा। यतो हि अभावस्तु कस्यचिद्भावस्य निषेधरूपो भवितुमर्हति। शून्यता दृष्टिशून्यता एव। यदि कश्चित् अभिनिवेशवशात् दृष्टिशून्यतां शून्यतादृष्टिरिति चिन्तयति सः नष्टप्रनष्टः असाध्यः एव। चिन्तयन्तु कश्चित् ग्राहकः आपणं गतवान्। तत्र आपणिकः पृच्छति किमपेक्ष्यते? किं ददामीति। तत्र किं ग्राहकः शून्यमपेक्ष्यते शून्यं ददातु इति ब्रूयात्। तर्हि आपणिकः अयं मुर्खोऽस्तीति चिन्तयति। अतः शून्यं न वस्तुधर्मशून्यं धर्मः स्वयमेव शून्यमिति कथयति मूलमाध्यमिककारिकायाः वृत्तिकारः -

न शून्यतायाः धर्मान् शून्यान् करोति, अपि तु धर्माः एव शून्याः ।[9] **इति**

किञ्च शून्यं यदि भावरूपं स्यात्तर्हि भावस्य स्वतः प्रतिपादनं स्यात् एवञ्च भावस्य निषेधे अभावस्यैव निषेधः स्यात्। अतोच्यते -

भावस्याचेदप्यसिद्धिरभावो नैव साध्यति।

भावस्य ह्यन्यथाभावमभावं ब्रुवते जनाः।।[10]

वस्तुतः शून्यावादिमते भावाभावयोः द्वयोरपि निषेधः। एतन्मते भावाभावौ बौद्धिकविकल्परूपौ भवतः। तर्कजालमात्रमिदम्। परन्तु शून्यं तर्कातीतं वर्तते। इदं तु अनुभूतिज्ञानस्य विषयः।

यदि काचित्प्रतिज्ञा स्यान्मे तत्र एव भवेद्दोषः। नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति दोषः।।[11]

शून्यतायामधिलयं यं पुनः कुरुते भवान्। दोषप्रसङ्गो नास्माकं स शून्ये नोपपद्यते।।[12]

माधवाचार्यः स्वीये सर्वदर्शनसंग्रहे वक्ति -

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात्। यदि दृष्टं सत्तदा तिद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदन्ताया अधिष्ठानस्य च

तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्ध-जरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

तस्मादध्यस्ताधिष्ठान-तत्सम्बन्ध-दर्शन-दृष्टृणां मध्ये एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिकाः' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन् - भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्व-सर्वसत्यत्व-भ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभ- यात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

तथा हि यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावर्ताह कारकव्यापारवैयर्थ्यम्। असत्त्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम् -

न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥

विरोधादितरो पक्षावनुपपन्नौ । तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे -

बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः॥ इति ।
इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।। इति च।

दृष्टार्थव्यवहारश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम् –

परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः॥ इति ।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किचिदस्तीति।[13]

शून्यवादेस्मिन् न कस्यचित् तर्कस्यावसरः। न कुत्रचिद् विवादः। अद्वये शून्यवादे विवादो वा कुतः?

यथा कुशलवैद्येनोपदिष्टमौषधं रोगी कश्चिन्न सेवते चेत् तत्र रोगिणः एव दोषः न तु वैद्यस्य नापि औषधस्य दोषः तथैव शून्यतायाः अर्थमजानतामेव दोषः न तु शून्यतायाः न वा शून्यवादस्य।

यदि घटादीनां स्वरूपं सदिति चिन्तयामः तर्हि कारकव्यापारवैयर्थ्यं भवति। अर्थात् घटनिर्मातुः धटकारस्य कुम्भकारस्य वा चेष्टा व्यार्था भवति। यतो हि अस्ति इति सत्। यदि घटादीनां स्वरूपमस्ति इति चन्तयामः तर्हि न कदापि तदुत्पत्तिः सम्भावयितु शक्यते। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। अतोच्यते माध्यमिककारिकायाम् -

न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवीहेतुः खपुष्पादेरिवासतः।।[14]

आकाशादेरिव सद्वस्तुनः उत्पत्तेरावश्यकता नास्ति न वा तत्कारणस्य। न तु आकाशकुसुम इव असद्वस्तुनः कारणत्वं सम्भाव्यते। उभयथापि दोषः। उभयगतिरिह न भवति। अतः शून्यं नसद्रूपं नासद्रूपम्। अत एवोक्तं माध्यमिककारिकायाम् -

अस्तीति शाश्वतग्राह्यो नास्तीति प्रच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वानास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणाः।।[15]

किञ्च शून्यम् अभयानुभयात्मकम् सदसदोः परस्परविरोधात्। तदुक्तं लङ्कावतारसूत्रे –

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते। अतो निरभलप्यास्ते निस्वभावाश्च दर्शिताः।।[16]
इदं वस्तु बलायातं तद्वदन्ति विपश्चितः। यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।।[17]

एतदेव तत्त्वं भवति। शून्यमेव तत्त्वं कथमिति। तत्त्वस्य किं लक्षणमिति जिज्ञासायामुच्यते – अपरोक्षानुभूतिद्वारा यत्साक्षात्कर्तुं शक्यते, यस्मिन् बुद्धिविकल्पनानां विश्रान्तिर्भवति, यत्प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्, यदनिन्द्रियम्, यद् बुद्धिविकल्पातीतम्, यत्र न द्वैतभावनायाः अवकाशः, यत्केवलमेवाद्वैतं तदेव तत्त्वम्। तदुक्तम् नागार्जुनेन -

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्।।[18]

शून्यं नाम न नितान्तमसत् नापि सर्वनिषेधः। प्रतीत्यसमुत्पादः एव शून्यता इति माध्यमिकानां भणितिः।

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।।[19]

प्रतीत्यसमुत्पादो नाम यदिदम् - अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते। यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः। संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्। विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्। नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्। षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः। स्पर्शप्रत्यया वेदना। वेदनाप्रत्यया तृष्णा। तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्। उपादानप्रत्ययो भवः। भवप्रत्यया जाति। जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। तत्र अविद्यानिरोधात्संस्कारनिरोधः। संस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोधः। विज्ञाननिरोधान्नामरूपनिरोधः। नामरूपनिरोधात्षडायतननिरोधः। षडायतननिरोधात्स्पर्शनिरोधः। स्पर्शनिरोधात्वेदनानिरोधः। वेदनानिरोधात्तृष्णानिरोधः। तृष्णानिरोधादुपादाननिरोधः। उपादाननिरोधाद्भवनिरोधः। भवनिरोधाज्जातिनिरोधः। जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा निरुध्यन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। अयमुच्यते प्रतीत्यसमुत्पादो भगवता।

सापेक्षतया जगदिदमविद्यासंस्कारयुक्तं स्वभावशून्यं मिथ्यारूपं वर्तते। व्यवहारदशायां सांवृत्तिकं सत्यमस्ति। तथाहि सत्यं द्विधम्। संवृत्तिसत्यं परमार्थसत्यञ्चेति।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यञ्च परमार्थतः।।[20]
येऽनयोर्न विजानान्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः। ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने।।[21]

संवृत्तिर्नाम प्रज्ञप्तिः सङ्केतः लोकव्यवहारः । तदुक्तं माध्यामिककारिकावृत्तौ –

संवृत्तिः सङ्केतो लोकव्यवहारः इति ।[22]

संवृत्तिः सापेक्षकारणवादः **परस्परसम्भवनं संवृत्तिः** इति तत्रैव माध्यमिककारिकावृत्तौ। सा संवृत्तिः बुद्धिविकल्पैरेव व्यवहारं साधयति अतो संवृत्तिः बुद्धिरिति निगदितं बोधिचर्चावतारे **बुद्धिः संवृत्तिरुच्यते ।**[23] बुद्धिविकल्पः एव अविद्यारूपतां प्राप्नोति **विकल्पः स्वयमेवायमविद्यारूपतां गतः ।**[24] अतः संवृत्तिरज्ञानम्। संवृत्तिमूलारविद्या। इयं संवृत्तिः आवरणविक्षेपरूपा। आवरणरूपा संवृत्तिः तत्त्वस्य वास्तविकं रूपमावृणोति विक्षेपरूपा संवृत्तिः अन्यथाप्रतीतिञ्च कारयति।

समन्ताद् आवरं संवृत्तिः अज्ञानम् ।[25]

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृत्तिः सत्यं तया ख्याति यदेव कृत्रिमम् ।[26]

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते ।[27]

तत्त्वाप्रतिपत्तिर्मिथ्याप्रतिपत्तिरज्ञानम् अविद्येति ।[28]

सांवृत्तिकं सत्यं व्यावहारिकम्। तस्यापि भेदद्वयम् लोकसंवृत्तिः मिथ्यासंवृत्तिरिति। लोकसंवृत्तिः व्यावहारिकी सत्ता, मिथ्यासंवृत्तिः प्रातिभाषिकी सत्ता। संवृत्तिमूलाविद्या। अस्याः निरोधः नर्विकल्पकप्रज्ञया एव भवितुमर्हति। वस्तुतः परमार्थ एव सत्यम्। शून्यं व्याख्यायता नागार्जुनेनोक्तं – शून्यं न भावारूपं नाप्यभावरूपं न हि भावाभावोभयरूपं नैव भावाभावानुभयरूपं इदं हि शून्यं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तमनिर्वचनीयम्।

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्। उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।।[29]

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।[30]

भावाभावान्तरद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुपपत्तिलक्षणा शून्यता ।[31] शून्यमेव निर्वाणम्। उभयमपि चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम्। तच्च निर्वाणं परमार्थज्ञानेन एव सम्भवति। परमार्थो हि सांवृत्तिकेन विना परमार्थसिद्धिः सिद्ध्यति। यथा जलार्थीनः कस्यचित् कृते जलमानेतुं पात्रस्यावश्यकता वर्तते तथैव परमार्थसिद्ध्यं संवृत्तेरावश्यकता। अत एवोक्तम् –

व्यहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।[32]

शून्यतायाः विंशतिरूपाणि (20) भवन्ति ।

1. अध्यात्मशून्यता
2. बहिर्धाशून्यता
3. अध्यात्मबहिर्धाशून्यता
4. शून्यतायाः शून्यता
5. महाशून्यता
6. परमार्थशून्यता
7. संस्कृतशून्यता
8. असंस्कृतशून्यता
9. अत्यन्तशून्यता
10. अनवराग्रशून्यता
11. अनवकारशून्यता
12. प्रकृतिशून्यता
13. सर्वधर्मशून्यता
14. लक्षणशून्यता

15. उपलम्भशून्यता
16. अभावस्वभावशून्यता
17. भावशून्यता
18. अभावशून्यता
19. स्वभावशून्यता
20. परभावशून्यता

उपसंहारः - शून्यं न भावरूपं नाप्यभावरूपं न हि भावाभावोभयरूपं नैव भावाभावानुभयरूपम्। इदं हि शून्यं न सद्रूपं, नासद्रूपं, नोभयरूपं, नाप्यनुभयरूपम्। अतो अनिर्वचनीयमिति। तदुक्तं मूलमाध्यमिककारिकायामाचार्यनागार्जुनेन –

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।।

सन्दर्भाः -

1. मा.का – 18-9
2. मा.का – 1-7
3. स.द.सं. पृ.सं.
4. सर्वदर्शनसंग्रहः
5. मा.का. – 24-14
6. स.द.सं. पृ.सं. 55
7. मा.का – 1-7
8. मा.का – 13-8
9. मूलमाध्यमिककारिका वृत्तिः
10. मा.का – 15-5
11. विग्रहवर्त्तनी – 29
12. मा.का – 24-13
13. स.द.सं. पृ.सं.
14. स.द.सं - पृ – 56
15. मा.का – 15-107
16. लङ्कावतारसूत्रम् – 10
17. प्र.वा. 2-209
18. मा.का – 18-9
19. मा.का – 24-18
20. मा.का – 24-8
21. मा.का – 24-9
22. मा.का.वृ.
23. बोधिचर्चावतारः - 9-2
24. बोधिचर्चावतारपञ्जिका
25. मा.का.वृ – पृ 492
26. मध्यमकावतारः – 6-29
27. बोधिचर्चावतारपञ्जिका पृ - 352
28. बोधिचर्चावतारपञ्जिका
29. मा.का – 22-11
30. मा.का – 1-1
31. माध्यमिकवृत्तिः – 24
32. मा.का – 24-10

ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायविमर्शः

• डॉ. देवनाथ-पालः*

शोधसारः - मीमांसादर्शने जैमिनिना वेदवाक्यार्थसंशयनिरसनाय सूत्रैः न्यायाः संग्रथिताः। ते च न्यायाः विशेषतो द्विविधाः-वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकाः, अनुष्ठानकालीनसंशयनिवारकाश्च। तेषु वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकेषु न्यायेषु अन्यतमतां धत्ते ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायः। प्रस्तुतेऽस्मिन् प्रबन्धे ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायस्य स्वरूपं समालोच्य कुत्र कुत्र ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायः प्राप्तावसरस्तथा किञ्च तत्प्रवृत्तिनिमित्तं के वा तत्प्रतिबन्धका इत्येतत्सर्वं प्रतिपाद्य परिशेषे शास्त्रान्तरेषु तत्सञ्चारं प्रदर्श्य पदशास्त्रेऽपि स चानुमत इति यथामति प्रत्यपादि।

बीजशब्दाः - उद्देश्यम्, विधेयम्, विशेषणम्, ग्रहम्, पशुना, अविवक्षितम्, अष्टवर्षम्, अनिर्ज्ञातत्वम्, अनुवाद्यम्, अप्राधान्यमित्यादयः।

उपोद्घातः - वेदे विधिवाक्यं हि उद्देश्यविधेयकम्। ननु किमुद्देश्यं किञ्च विधेयमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् वाक्ये यत् प्राप्तं नाम ज्ञातं तदुद्देश्यं यच्चाप्राप्तम् अज्ञातं तद् विधेयम्। एवं वाक्ये ज्ञातांशः उद्देश्यकोटौ गच्छति य पुनः अज्ञातांशो भवति स विधेयकोटौ परिगण्यते।परन्तु क्वचिदेवमपि दृश्यते यत् कश्चिदंशो न च उद्देश्यकोटौ नापि विधेयकोटौ अस्ति परन्तु शाब्दबोधे विषयो भवति पार्ष्ठिकान्वयद्वारा। तस्य का गतिरिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् तादृशांशो वाक्ये विवक्षितो न भवति।तदुदाहरणं यथा 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि'इति। ज्योतिष्टोमयागे सम्मार्जनविषये प्रोक्तं विधिवाक्यं पठितम्।दशापवित्रमित्यस्य वस्त्रखण्डम् इत्यर्थः। सम्मार्जनम् इत्यस्य प्रोञ्छनं शुद्धीकरणम् इत्यर्थः। ग्रह इति वितस्तिपरिमाणः उलूखलाकारो काष्ठनिर्मितः सोमपात्रविशेषः। तस्मात् वस्त्रखण्डेन ग्रहाख्यस्य सोमपात्रस्य शुद्धीकरणमिति खलु प्रोक्तविधिवाक्यस्य निर्गलितार्थः।

वस्तुतः ज्योतिष्टोमे ऐन्द्रवायवादिदशग्रहाणामुल्लेखो दृश्यते। इदानीं प्रोक्तविधिवाक्यं किं दशग्रहाणां सम्मार्जनं विधत्ते, उत तेषु एकतमस्य इति एवात्र विचार्यम्। प्रस्तुते वाक्ये सम्मार्जनस्य विधेयत्वात् तस्य शेषत्वं तथा ग्रहस्य तु उद्देश्यत्वात् शेषित्वं स्फुटम्। ग्रहमित्यत्र ग्रहत्वम् इति प्रातिपदिकार्थः। तदनन्तरं प्रत्यये भागद्वयमस्ति-द्वितीया एकवचनं चेति। तत्रापि द्वितीयात्वेन रूपेण अयं प्रत्ययः कर्मकारकं तथा एकवचनत्वेन तु एकत्वं वदति।तच्च एकत्वं विवक्षितम् उताविवक्षितम् इति तु अत्र विचार्यम्।

*सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, श्रीरामपुरमहाविद्यालयः, श्रीरामपुरः, पश्चिमवङ्गः

तत्र यदि एकत्वं विवक्ष्यते तदा एकत्वस्य विशेषणत्वेन ग्रहप्रातिपदिकार्थे अन्वयो भवेत्। तथा सति प्रस्तुते सम्मार्जनविधौ एकत्वविशिष्टस्य ग्रहस्य उद्देश्यत्वं सिद्धं भवति। तेन ऐन्द्रवायवादिदशग्रहेषु यस्य कस्यचित् सम्मार्जनं विधेयमिति लभ्यते।

तत्र यदि एकत्वस्य विवक्षा न स्यात् तदा ग्रहमेव उद्दिश्य सम्मार्जनं विधेयमिति लभ्यते। सम्मार्जनं प्रति संस्कार्यत्वेन ग्रहः प्रधानं सम्मार्जनं तु तदङ्गमिति भवति।तथा सति प्रतिप्रधानं गुणावृत्ति[1] रिति न्यायानुसारेण यावन्तः ग्रहाः सन्ति तावतां ग्रहाणां सम्मार्जनं विधेयमिति फलभेदः स्यात्। एवं एकत्वस्य विवक्षायाम् एकस्य ग्रहस्य तथा अविवक्षायाम् सर्वेषां ग्रहाणां सम्मार्जनं विधेयं भवति।

अनयोः कतरः पक्षः ग्राह्य इति विषये पूर्वपक्षिणः आद्यमेव स्वीकुर्वन्ति। तथाहि सूत्रितं जैमिनिना – 'एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्'[2] इति। अस्येदमेव तात्पर्यं यत् पशुना यजेत इत्यादिस्थलेषु यथा एकवचनस्य श्रवणात् एकत्वं विवक्षितं भवति तथैव अत्रापि ग्रहमित्यत्र एकवचनं स्फुटं श्रूयते। एवं एकत्वं श्रुतिवचनादेव लभ्यते।तस्मात् तद् विवक्षणीयम् एव। तेन एकत्वविशिष्टं ग्रहमुद्दिश्य सम्मार्जनं विधेयमिति लभ्यते।

अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते सिद्धान्तिनः। तन्मते आकृत्यधिकरणन्यायेन[3] शब्दस्य शक्तिः जातौ एव वर्तते। तस्मात् तदनुसारेण ग्रहशब्दस्य वाच्यार्थः ग्रहत्वमेव। परन्तु ग्रहत्वस्य सम्मार्जनं न शक्यसम्भवम्। अतः ग्रहव्यक्तौ लक्षणा स्वीकार्या। एवञ्च जातिवाचकः शब्दः व्यक्तिं निरूढलक्षणया बोधयति। एवं यस्मात् ग्रहत्वं सर्वासु ग्रहव्यक्तिषु विद्यते तस्मात् तत् सर्वाः ग्रहव्यक्तीः बोधयति। एकत्वं हि प्रत्ययार्थः। स च प्रातिपदिकार्थापेक्षया दुर्बलः। एवमत्र प्रबलीभूतं ग्रहत्वं निखिलग्रहव्यक्त्युपस्थापकं दुर्बलीभूतं च एकत्वम् एकां व्यक्तिम् उपस्थापयति। तस्मात् अस्मिन् सम्मार्जनविधौ आदौ लक्षणया सर्वा ग्रहव्यक्तयः उपस्थिता भवन्ति। ततः प्रत्ययार्थ एकत्वं प्रविश्य एकस्यैव सम्मार्जनं विधेयमिति निर्दिशति। परन्तु तदर्थमेकत्वस्य विधिसंस्पर्शित्वम् आवश्यकम्। अन्यथा तद् असम्भवमेव।

नन्वत्र प्रश्नस्तु स्वाभाविको यत् किमेकत्वं विधेयत्वेन विधिसंस्पर्शि उत उद्देश्यत्वेन इति। सम्मार्जनेन सह एकत्वस्यापि यदि विधेयत्वम् अङ्गीक्रियते तदा ग्रहं सम्मृज्यात् तञ्चैकम् इति वाक्यभेदो दुर्वारः। किञ्च न केवलमेतत् तस्य विधेयत्वे अभ्युपगते त्रैदोषापत्तिः दुर्वारा भवति। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् एकत्वस्य विधेयत्वे स्वीकृते विधिरयं परिभाषाविधिर्भवति।तदानीं संख्यायाः संख्यान्तरव्यावर्तकत्वस्वाभाव्यात् ग्रहान्तरस्य सम्मार्जनं न विधेयमित्यर्थः स्यात्। तथा सति स्वार्थत्यागः, परार्थस्वीकारः, ग्रहत्वेन उपस्थापितव्यक्तिषु प्राप्तस्य सम्मार्जनस्य बाधश्चेति दोषत्रयमापद्यते।

प्रोक्तदोषपरिजिहीर्षया एकत्वस्य उद्देश्यत्वम् अभ्युपगम्यते चेत् तदा अमूर्तत्वात् तस्य सम्मार्जनम् अनुपपन्नं भवति। यदि ग्रहद्वारा एकत्वं गृह्यते तदा ग्रहं सम्मृज्यात् यं सम्मृज्यात् तच्चैकम् इति वाक्यभेदापत्तिः दुर्वारा स्यात्। एवमेकत्वं न विधेयत्वेन न चोद्देश्यत्वेन विधिसंस्पर्शि भवति। तस्माद् वाक्यभेदपरिहाराय उद्देश्यविशेषणम् एकत्वमिह न विवक्ष्यते इति स्वीकार्यम्।

ननु पशुना यजेत इति विशेषणविशिष्टविधेयस्थले विशिष्टस्य विधेयत्वमाश्रित्य वाक्यभेदः यथा परिह्रियते प्रस्तुते विशिष्टोद्देश्यस्थले तथैव भवतु इति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् पशुना यजेत इत्यत्र

तृतीयाविभक्तेः करणकारकम् एकत्वञ्च अर्थौ, प्रातिपदिकस्य तु पशुरेव अर्थः। तत्र प्रातिपदिकार्थः पशुः प्रत्ययार्थः एकत्वञ्चादौ प्रधानीभूतेन करणकारकेण युगपद् अन्वितौ भवतः। तत प्रधानयागक्रियायामन्वयो भवति। एवञ्च प्रधानभूतं करणकारकं गुणीभूते पश्वेकत्वे वशीकृत्य यागक्रियायाम् अन्वेति इति सिध्यति। सा च यागक्रिया विधौ अन्वेति। अत्रेदमुल्लेख्यं यत् करणकारकेन सह पश्वेकत्वे यदि पृथक्तया अन्विते स्याताम् ततः पृथगन्वितेन करणकारकेन सह यदि यागक्रिया अन्विता स्यात् तदा प्रतिप्रधानं गुणानुवृत्तिरिति न्यायेन तदा क्रियायाः गुणानुरोधेन आवृत्तिस्तु दुर्वारा स्यात्। परन्तु अत्र करणं पश्वेकत्वे वशीकृत्य यागक्रियायाम् अन्वेति। तस्मात् गुणानुरोधेन आवृत्तेरभावात् वाक्यभेदो न भवति। सम्मार्जनविधौ तु ग्रहैकत्वे प्रधानभूते। सम्मार्जनं तु गुणभूतम्। तस्मात् प्रतिप्रधानं गुणानुवृत्तिरिति न्यायेन वाक्यभेदः स्यात्। तत्र ग्रहैकत्वाभ्यां प्रत्येकं कर्मकारकस्य अन्वयः स्यात्।तेन एकत्वविशिष्टकर्मकारकयुक्तं सम्मार्जनम् तथा ग्रहविशिष्टकर्मकारकयुक्तम् सम्मार्जनम् इति विध्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वारः स्यात्। तस्मादुद्देश्यविशेषणम् अविवक्षितं भवति ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायानुसारेण[4] परन्तु विधेयविशेषणं तु विवक्षितं भवति पश्वेकत्वाधिकरणन्यायानुसारेण[5] इति वक्तव्यम्।

वस्तुतः एकत्वं यद्यपि प्रकारविधया भाति, परन्तु उद्देश्यकोटौ तस्य निवेशो न भवति। इदमेव अविवक्षितमित्यस्य अर्थः। शाब्दबोधे तमादाय शाब्दबोधो न वर्ण्यते। किञ्च उद्देश्यविशेषणं सर्वथा अविवक्षितं न भवति। यथा ग्रहशब्दः आकृत्यधिकरणन्यायेन आदौ ग्रहत्वं बोधयति ततः निरूढलक्षणया ग्रहत्वाश्रयं बोधयति। एवं ग्रहत्वाश्रयं यदा बोधयति तदा ग्रहत्वं विशेषणतया भाति। तच्च ग्रहत्वम् उद्देश्यस्वरूपबोधकम्। तस्मात् तद् अविवक्षितं न भवति। तस्मादुक्तविषयपर्यालोचनेन एतदवसीयते यत् उद्देश्यविशेषणं यदि पदान्तरेण उपात्तं भवति तद् विशेषणम् अविवक्षितं भवति। यदि तेनैव पदेन उपात्तं भवति, तदा तु स्वरूपज्ञानाय तद् विवक्षणीयम् इति। अत्र पदशब्दः शक्तपरकः। तथाहि ग्रहमित्यत्र ग्रहप्रातिपदिकम् उद्देश्यपरकं प्रत्ययस्तु ततो भिन्नं पदान्तरम्।तेन उच्यमानम् एकत्वं तत्र विशेषणरूपेण उद्देश्यकोटौ न प्रवेष्टुं शक्यते।परन्तु ग्रहत्वं तु ग्रहशब्द एव बोधयति। तस्मात् तन्नाविवक्षितम् इति।

किञ्च उद्देश्यविशेषणं क्वचित् पदान्तरेण उपात्तमपि विवक्षितं भवति हविरार्त्यधिकरणन्यायेन[6]। तदुदाहरणं यथा "यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" इति वाक्यमस्ति। तत्र आर्तिशब्दः विनाशपरकः,उभयं हविः इत्यनेन तु दर्शयागे इन्द्रदेवताकं हविर्द्वयं पयो दधि च बोध्येते। तदुभयं हविर्द्वयं यदि कथञ्चित् नष्टं भवति तदा पञ्चशरावमोदनम् इति नैमित्तिकं विधीयते। ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत् इति कश्चन यागः। इन्द्रदेवताकः पञ्चशरावोदनद्रव्यकः अयं यागः विधीयते। तत्र निमित्तं तावत् – यस्योभयं हविः आर्तिमार्च्छेत् इति। तत्र विनाशपरकः आर्तिशब्दः उद्देश्यसमर्पकः। एवं विनाशोऽत्र निमित्तं भवति। परन्तु विनाशस्तु प्रतिक्षणं कस्यचित् भवत्येव। तस्मात् कादाचित्कत्वाभावात् केवलं विनाशः कस्यचित् निमित्तं न भवितुं नार्हति। तस्माद् निमित्तस्वरूपं न लभ्यते। तदर्थं हविरिति विशेषणं स्वीक्रियते। तेन हविरार्तिः नाम हविर्विनाशो निमित्तं भवति। एवं पदान्तरेण उपात्तं विशेषणमिह विवक्षितं भवति। किन्तु तत्परम् उभयम् इति विशेषणं यदस्ति

तदतिरिक्तम्। तस्मात् तत् न विवक्षितम्। अनेन एतत् सिद्धं भवति यत् यदा उद्देश्यस्वरूपलाभे पदान्तरोपात्तं विशेषणं कारणं न भवति तदा तत् अविवक्षितं भवति इति।

श्रौतवाङ्मये उपयोगः - एवम् एतन्न्यायमाश्रित्य एव अग्निहोत्रप्रकरणे 'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति' इत्यत्र अग्नेरेकत्वं तथा दशपूर्णमासप्रकरणे पठिते 'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'इत्यत्र पुरोडाशस्य एकत्वं विवक्षितं न भवति। किञ्च न केवलमेतत् 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'[7] तथा 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत'[8] इत्यादिस्थले अपि अयं न्यायः प्रवर्तते।तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् प्रस्तुतमिदं श्रुतिवचनं ब्राह्मणस्योपनयनसंस्कारं विधत्ते। अत्र उद्देश्यं तावद् अष्टवर्षं ब्राह्मणम् विधेयं तावद् उपनयनं। अत्र ब्राह्मणस्तु संस्कार्यः। तेन तस्योद्देश्यत्वं सिद्धं भवति ग्रहत्ववत्। परन्तु पुंस्त्वं तथा अष्टवर्षत्वम् इत्युभयमपि ग्रहैकत्ववद् अविवक्षितं भवति। तत्फलतया ब्राह्मणजातीयानां पुंसां स्त्रीणामुभयेषाम् एव उपनयनमनेन वाक्येन सिद्धं भवति।

एवमनेन सिद्धे अपि उपनयने तस्य संस्कारत्वं तदैव सिध्येत् यदा तस्य अन्यत्र विनियोगः सम्भवेत्।यतो हि संस्कार्यं सदैव भूतभाव्युपयोगि भवति। तर्हि क्व तस्य विनियोग इति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् 'तमध्यापयीत'[9] इति अनन्तरपठितं विधिवाक्यम् एव तस्य विनियोगस्थलम्। यद्यपि आपातदृशा अयं विधिरध्यापनविषयकत्वात् आचार्यनिष्ठतया भाति तथापि अत्र ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीत इति विपरिणतार्थः अत्र स्वीकार्यः। तेन तु ब्राह्मणपुंसामेव केवलम् उपनयनसंस्कारत्वं समस्ति। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यद् उद्देश्यगतं विशेषणं यद्यपि अविवक्षितं भवति परन्तु विधेयगतं विशेषणम् अविवक्षितं न भवति।तत्फलतया तु तंपदेन पुंस्त्वं बोध्यते अत्र। एवं भावेन उपनीतेन अष्टवर्षीयेन ब्राह्मणपुंसा स्वाध्यायाध्ययनं भावयेत् सिध्यति । एवं वेदाध्ययनमुद्दिश्य अयं सस्कृतः अष्टवर्षीयः पुंस्त्ववान् ब्राह्मणो विधीयते इति फलितम्। एवं विधेयगतपुंस्त्वस्य विवक्षणात् भूतभाव्युपयोगाभावाद् स्त्रीणामुपनयनसंस्कारत्वमनेन न सिद्ध्यति। कमलाकरभट्टेन तदीये शूद्रकमलाकरे ग्रन्थे एतत् स्फुटमुदीरितम्।[10]

स्मार्तशास्त्रे उपयोगः - एवं नायं न्यायः केवलं श्रौतवाङ्मयसीमायितः, किन्तु निखिले आर्षवाङ्मये अस्य प्रयोगः दरीदृश्यते। तथाहि मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये जातकर्मविषये प्रोक्तं-"प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।"[11] इति।तत्र पुंस इति पदस्य अर्थविवरणावसरे मेधातिथिना अस्य न्यायस्य समुल्लेखः कृतः। किञ्च पैतामहधनविभागविषये याज्ञवल्क्यसंहितायाम् – "भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि।।[12]" इति श्लोकः पठितः।नीलकण्ठमते श्लोकस्थं पितामहपदमविवक्षितं प्रस्तुतन्यायवलात्।[13] एवञ्च भागापहारिणः फलं किं भवेदिति विषये नारदस्मृतौ –"भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते।विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक्पृथक्।।"[14] इति श्लोकः पठितः। अत्र श्लोके भ्रातृणामिति यत् पदमस्ति तत्तु अविभक्तानामिति उद्देश्यस्य विशेषणम्।तस्मात् नीलकण्ठमते अत्रापि प्रस्तुतन्यायानुसारेण तद् अविवक्षितं भवति।[15]

गणितशास्त्रे उपयोगः - एवं न केवलं स्मृतिशास्त्रेषु अस्य प्रयोगो दृश्यते। गणितशास्त्रविषयके कुट्टाकारशिरोमणिग्रन्थे अस्य उपयोगो दृश्यते। तत्र कुट्टाकारयुग्मविषयमधिकृत्य आचार्येण आर्यभट्टेन तदीये आर्यभटीये उक्तम् -"अधिकाग्रभागहारं छिन्द्यादूनाग्रभागहारेण। शेषपरस्परभक्तं मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्तम्।।"[16] इति। श्लोकेन अनेन विभाजनं विधीयते। श्लोकस्थम् अधिकाग्रभागहारमिति तु उद्देश्यपदम्। अग्रभारनिष्ठमेकत्वं तु तद्विशेषणम् ।तत्तु प्रस्तुतन्यायवलाद् अविवक्षितं भवति। तेन भागहारशब्देन भाजकत्वात् भागहारभाज्यराश्योरुभयोर्ग्रहणं सम्भवति। तदुक्तं तत्र "भागहारशब्देन चात्र भागहारभाज्यराश्योः परस्परं भाजकत्वात्तौ द्वावपि गृह्येते। अत्र ग्रहैकत्ववदेकत्वमविवक्षितम्"[17] इति। तेन अधिकसंख्याकौ हरभाज्यराशी ऊनसंख्यकेन भागहारेण विभज्यौ इति श्लोकाद्यचरणस्य निर्गलितार्थो भवति ।

तन्तशास्त्रे उपयोगः - किञ्च तन्त्रशास्त्रे अपि न्यायस्यास्योपयोगो दृक्पथमेति। तथाहि स्वच्छन्दतन्त्रे प्रथमपटले श्रीसद्योजातमन्त्रेण सद्योजातकलाभिः पादादीनां न्यासनिरूपणावसरे प्रोक्तम्-"पादौ हस्तौ तथा नासां शिरश्चैव भुजावथ।।सद्येन कल्पयेद् देवि सर्वमेतद्यथाक्रमम्।" इति।[18] अत्र द्युतिलक्षीभ्यां भुजानाम् अष्टादशविध्यम् अभिप्रेतम् अष्टादशभुजन्यासस्य अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। स चार्थः 'हस्तौ कल्पयेदि' त्यनेन कथमायातः इति चेदत्रेदं वक्तव्यं यदत्र प्रस्तुतन्यायं समाश्रित्य हस्तनिष्ठद्वित्वमिह अविवक्षितं भवति। [19]

न्यायशास्त्रे उपयोगः - किञ्च न्यायमञ्जर्यामपि बर्हिर्देवसदनं दामीत्येवमादिमन्त्राणां प्रामाण्यप्रदर्शनावसरे अस्य न्यायस्योल्लेखो जयन्तभट्टेन कृत इति दृश्यते। यद्यपि प्रस्तुतन्यायस्योल्लेखः अत्र कस्यचित् पदस्य अर्थनिर्णयार्थं न कृतः। परन्तु मन्त्रेभ्योऽर्थप्रतीतिर्किम् ग्रहैकत्ववद् अविवक्षिता इति शङ्कायां दृष्टान्तत्वेन उपस्थापितः। अन्ते च तेन ग्रहैकत्वस्याविवक्षायां यथा निमित्तमस्ति तथा मन्त्राणामविवक्षायां नास्तीति निमित्ताभावात् तदसमीचीनमिति सिद्धान्तितम्।[20] एवं ग्रहैकत्वस्य अविवक्षणं युक्तमिति उद्घोषयता प्रत्यक्षतया तेन अस्य न्यायस्य प्रामाण्यमभ्युपागामि।

वेदान्तशास्त्रे उपयोगः - किञ्च वेदान्तशास्त्रेष्वपि अस्य न्यायस्योपयोगो दरीदृश्यते। तद्यथा अप्पयदीक्षितेन तत्कृतायाम् ब्रह्मसूत्रस्य शिवार्कमणिदीपिकाटीकायामुक्तं 'यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'(छा१-६) इति छान्दोग्योपनिषद्वचनस्य व्याख्यानावसरे "अक्षिद्वित्वमुद्देश्यगतत्वान्न विवक्षितं ग्रहैकत्ववत्। तथा च सम्मार्गस्य सर्वग्रहविषयत्ववत्पुण्डरीकसादृश्यस्याक्षित्रयविषयत्वं भविष्यति। कोऽस्मिन्ग्रहे पारमेश्वरत्वासम्भवशङ्कावकाश"[21] इति।वस्तुतः अक्षिनिष्ठं द्वित्वमिह न विवक्षितं प्रस्तुतन्यायवलात्। तेन अक्षित्वमात्रेण सर्वेषाम् तथा त्रयाणाम् अक्ष्णां ग्रहणं सम्भवति। एवं मधुसूदनसरस्वतीमहाभागेन अद्वैतसिद्धौ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिप्रदर्शनवेलायां पूर्वपक्षमतनिरूपणावसरे अस्य न्यायस्योपयोगः कृतः।[22] किञ्चैवं न्यायामृतेऽपि ब्रह्मणो निर्गुणत्वभङ्गप्रसङ्गे प्रस्तुतन्यायस्योल्लेखो दृश्यते।[23]

एवमुपर्युक्तविषयपर्यालोचनेन एतत् स्फुटं यत् ग्रहैकत्वन्यायस्य सञ्चारः आर्षवाङ्मये बहुत्र दृग्गोचरीभवति। क्वचिदस्योपयोगः शास्त्रकृद्भिः नामग्राहं कृतः,क्वचिच्च परोक्षतया कृत इति वक्तुमलमिति। एवं बहुशास्त्रेषु अस्योपयोगदर्शनात् न्यायस्यास्य अविसंवादित्वमपि स्फुटं भवति।

पदशास्त्रे उपयोगः - किञ्चैवं शास्त्रान्तरेषु अस्य उपयोगे सिद्धेऽपि व्याकरणशास्त्रे अस्योपयोगो भवति न वेति विषये वर्तते वैमत्यम्। विषयेस्मिन् प्रमाणपदवीम् अध्यास्ते वैयाकरणाचार्यः कौण्डभट्टमहाभाग एव। तेन तदीये वैयाकरणभूषणसारे संख्याविवक्षानिर्णयशीर्षकाध्याये "लक्ष्यानुरोधात्संख्यायास्तन्त्रातन्त्रे मते यतः।पश्चैकत्वादिहेतूनामाश्रयणमनाकरम्।।"[24] (का-५६) इति दीक्षितकारिकाशयं प्रतिपादयता न्यायस्यास्य वैयाकरणानभिमतत्वं स्फुटं प्रत्यपादि।[25]

अस्येदमेव तात्पर्यं यत् मीमांसकाभिमतः ग्रहैकत्वन्यायः व्याकरणशास्त्रे न स्वीक्रियते। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् धातो[26] रिति सूत्रे प्रत्ययविधौ उद्देश्यभूतस्य धातोः विशेषणभूतम् यदेकत्वमस्ति तस्यापि विवक्षा जायते। तदविवक्षितं चेत् धातुसमुदायादपि प्रत्ययोत्पत्त्यापत्तिः दुर्वारा स्यात्। न चेयमिष्टापत्तिः।किञ्चैवमुद्देश्यविशेषणमविवक्षितं चेत् आर्धधातुकस्येड्वलादे[27] रित्यत्र उद्देश्यभूतस्य आर्धधातुकस्य विशेषणभूतं यत् वलादिरूपं विशेषणं तस्य आनर्थक्यापत्तिः दुर्वारा स्यात् ।तस्मादापातदृशा उद्देश्यविशेषणमविवक्षितं भवतीति नियमो व्याकरणे न अनुस्रियते इति प्रतीयते।

परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यते चेत् तत् न तथा। कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् उद्देश्यविशेषणम् कदा अविवक्षितं कदा न भवति इति विषये मीमांसायाम् न्यायत्रयमुदीरितम्। ग्रहैकत्वन्यायः, आकृत्यधिकरणन्यायः, हविरार्त्त्यधिकरणन्यायश्च। एवं तत्रादिमेन ग्रहैकत्वन्यायेन सामान्यतया उद्देश्यविशेषणमात्रस्य अविवक्षितत्वं केवलम् उदीरितम्। परन्तु आकृत्यधिकरणे यच्च विशेषणम् अभिन्नेन शक्तत्वलक्षणेन पदेन उपात्तं तथा उद्देश्यस्य आत्मलाभे आवश्यकं तन्नाविवक्षितं भवति परन्तु यच्च विशेषणं पदान्तरेण उपात्तं तदविवक्षितं भवतीति सूचितम्। परन्तु हविरार्त्त्यधिकरणे पदान्तरोपात्तमपि विशेषणं यदि उद्देश्यस्य आत्मलाभे सहायकं तथा आवश्यकं भवति तदपि अविवक्षितं न भवतीति सूचितम्। एवं प्रोक्तन्यायत्रयपरिशीलनेन एतदेव अवसीयते यत् यावता विशेषणेन विना उद्देश्यं न पर्यवस्यति तावत् तु विवक्ष्यते एव। यत्तु अतिरिक्तम् तदविवक्षितं भवतीति ग्रहैकत्वन्यायस्य प्रवृत्तिः इतरद्वयाधिकरणापेक्षिणी इति सूचितम् । वस्तुतः उद्देश्यं हि क्रियां प्रति प्रधानं भवति।एवं प्रधानं पर्यवसितं सत् तत् इतरेण विशेषणेन नियन्तुं न शक्यते।तत्फलतया तस्य आत्मलाभे अनुपयोगि विशेषणम् अविवक्षितं भवति ग्रहैकत्वनायानुसारेण। अपरतो विधेयं तु गौणम्। तस्मात् तत् विशेषणेन नियम्यते। तस्मात् तस्य विशेषणं सामान्यतया विवक्षितं भवति पश्चैकत्वनायानुसारेणेति इति खलु तात्पर्यम्। एवं प्रोक्तदिशा एकत्वं वलादित्वञ्च यथाक्रमं धातोः तथा आर्धधातुकस्य स्वरूपबोधने आवश्यके। तस्मात् ग्रहैकत्वन्यायानुसारेण ते नाविवक्षिते।

किञ्चोद्देश्यविशेषणस्य अविवक्षाव्यवस्था वैयाकरणनिकाये अपि प्रसिद्धा। प्रसङ्गेऽस्मिन् वैयाकरणाचार्यो भर्तृहरिरेव प्रमाणम्। तेन तदीये वाक्यपदीये पदकाण्डे जातिसमुद्देशशीर्षके अध्याये विषयोऽयमनुरूपं नवीनया शैल्या प्रत्यपादि। तदुक्तं तेन तत्र "लक्षणा शब्दसंस्कारे व्यापारः कार्यसिद्धये। संख्याकर्मादिशक्तीनां श्रुतिसाम्येपि दृश्यते।।" इति।[28] वस्तुतः शब्दसंस्कारार्थं यत्र संख्याकर्मादिशक्तयः अभिन्नया अमादिविभक्त्या उच्यन्ते तत्र लक्षणा स्वीकार्या। वस्तुतस्तेनैतदुपलब्धं यत् शब्दसंस्कारार्थं यत्र संख्याकर्मादयः एकया एव विभक्त्या उच्यन्ते तत्र ते क्वचित् पूर्वज्ञातसंख्याविरोधात् क्वचिच्च

कर्मत्वादेरसम्भवाद् अविवक्षिताः भवन्ति। ग्रहं संमार्ष्टिरित्यत्र एकत्वमविवक्षितं भवति। यतो हि तद् 'ग्रहैर्जुहोति' तथा 'नव दश वा ग्रहान् गृह्णीयात्' इत्यादिषु पूर्वज्ञातेषु विधिवाक्येषु प्रोक्तेन ग्रहनिष्ठबहुत्वेन विरुध्यते। तस्य च विरोधस्य परिहारो लक्षणया एकत्वस्य अविवक्षायाम् उत बहुत्वार्थे व्याख्यानेन शक्यसम्भव इति। तदुक्तं तेन तत्रैव -"संमार्गस्य विधेयत्वादन्यत्र विहिते ग्रहे। विधिवाक्ये श्रुता संख्या लक्षणायां न बाध्यते।।"[29] इत्येवं लक्षणाभ्युपगमद्वारा नवीनां शैलीमङ्गीकृत्यापि हरिणा विषयेऽस्मिन् मीमांसकपदाङ्कः समनुसृतः एव। स चाशयः स्फुटं भवति तत्रत्यैः प्रोक्तैः श्लोकैः।[30]

अस्येदमेव तात्पर्यं यत् उद्देश्यविधेयनिष्ठसंख्यायाः विवक्षायां निमित्तद्वयमस्ति- पूर्वम् अनिर्ज्ञातत्वम् अप्राधान्यञ्चेति। यत् तु पशुना यजते इत्यत्र सुलभमपि ग्रहं संमार्ष्टीत्यत्र दुर्लभम्। तस्मादाद्ये विवक्षितमन्ते अविवक्षितमिति। अयञ्च सिद्धान्तः मीमांसकानुमतोऽपि । तत्तु स्फुटं प्रतिपादितं मीमांसकरत्नेन भि. ए. रामस्वामिशास्त्रिणा तदीये Bhartrhari's Interpretation of 'Graham Sammarsti, and 'Basuna Yajeta' इत्याख्ये प्रबन्धे।[31] किञ्च कैयटेनापि 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः'[32] इति सूत्रभाष्ये 'तस्मात्तत्र तपरनिर्देशात्सिद्धमि'[33]ति वार्तिकव्याख्यानावसरे प्रदीपे तत् स्फुटं प्रतिपादितम्।[34]

एवमुपर्युक्तविषयपर्यालोचनेन एतदवसीयते यत् पदशास्त्रीया उद्देश्यविधेयविशेषणविषयिणी विवक्षाविवक्षाव्यवस्था वाक्यशास्त्रान्न भिन्ना इति। किम्बहुना, 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'[35] इत्यत्र 'द्वित्वमतन्त्रमि'[36]ति सिद्धान्तकौमुद्युक्तिः, 'कार्तकौजपादयश्च'[37] इत्यत्र "अपि बहुवचनम् अविवक्षितम् इति शैतिकाक्षपञ्चालेयौ इत्यत्र अपि भवति"[38] इति काशिकोक्तिः तथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'[39] इति सूत्रे "क्तप्रत्ययेनोपस्थितं कर्मत्वं नेह विवक्षितमि"[40]ति प्रौढमनोरमोक्तिश्च उद्देश्यविशेषणस्याविवक्षायामेव संगतिं भजन्ते इति शम्।

सन्दर्भाः

---

[1] मीमांसाकौस्तुभः १/४/१७/२७ (वाराणसीःचौखम्बा संस्कृत सीरिस आफिस, १९२४) पृ-२८८

[2] मीमांसासूत्रम् -३/१/१३

[3] मीमांसानयमञ्जरी १/३/११ (वाराणसीः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, १९८४) पृ-२८

[4] पूर्वमीमांसाधिकरणकौमुदी-९ (वाराणसीःचौखम्बा संस्कृत सीरिस आफिस, १९१६) पृ-७

[5] पूर्वमीमांसाधिकरणकौमुदी -५८(वाराणसीःचौखम्बा संस्कृत सीरिस आफिस, १९१६) पृ-३७

[6] मीमांसानयमञ्जरी-६/४/६(वाराणसीः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, १९८४) पृ-१६०

[7] शूद्रकमलाकरः (मुम्बइःनिर्णयसागर,१८९५) पृ-७

[8] आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्-१०/२ (माइसोरः गभर्मेन्ट ओरियेन्टाल लाइब्रेरी सिरीस,१८९३) पृ-१५१

[9] शूद्रकमलाकरः(मुम्बइःनिर्णयसागर,१८९५) पृ-७

[10]"तत्र यद्यपि श्रुत्यन्तरे अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत ।तमध्यापयीत इत्यध्यापने उपनीतग्रहणम् नाऽध्ययने।तथाप्यध्यापनस्य वृत्त्यर्थत्वेन याजयेदितिवद् विध्यनर्हत्वादाचार्यनिष्ठत्वेन माणवकसंस्कारत्वाभावाच्च ।ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीत इति विपरिणतोऽर्थो ज्ञेय इति विवरणकारादयः ।स्वाध्यायवत् चमसाध्वर्यून् वृणीत। इति वच्चोपनयनसंस्कार्यस्यापि वटोरनेनैव विनियोगादुपादेयत्वमिति

पार्थसारथिराणकादयः ।तत्र वसन्तादि वाक्यैरुपनयनप्राप्ते ब्राह्मणविशिष्टमुपनयनमनूद्याष्टवर्षकालो विधीयते। न च वाक्यभेदः उद्देश्यापर्यवसानेन विशिष्टोद्देशे तदभावादिति हेमाद्रिः ।तत्त्वं तु विनिगमकाभावाच्छाखान्तरत्वादुभयत्रापि विशिष्टविधिरिति। अतएवोपादेयत्वेन विवक्षितं पुंस्त्वम्। अन्यथोपनयने संस्कार्यत्वाद् गृहैकत्ववत् पुंस्त्वाविवक्षया स्त्रीणामुपनयनप्राप्तिः केन वार्यते"। तत्रैव

[11] मनुस्मृतिः-२/२९

[12] याज्ञवल्क्यसंहिता-२/१२१

[13] "स्वत्वकारणनिरूपणावसरे न चेदं पितामहमरणस्यैव स्वत्वोत्पत्तिहेतुत्वं गमयति न पुत्रोत्पत्तेः ।मरणकालेऽनुत्पन्ने पौत्रे तदभावप्रसङ्गात् ।वस्तुतस्तु पितामहपदमविवक्षितम् ।अन्यथा प्रपतिमहाद्युपात्ते सदृशस्वाम्याभावप्रसक्तेः। अनुवाद्यविशेषणत्वाच्च" व्यवहारमयूखः (मुम्बइःनिर्णयसागर, १९२६) पृ-९०

[14] नारदस्मृतिः-१६/३७

[15]"अत्राविभक्तानामित्येवोद्देश्यसमर्पकम् ।भ्रातृणामिति तु तद्विशेषणत्वादविवक्षितम् ।तेन पितृपितामहपुत्रपौत्रपितृव्यभ्रातृपुत्रादिष्वप्यभक्तेष्वेक एव धर्मः" व्यवहारमयूखः (मुम्बइःनिर्णयसागर, १९२६) पृ-१३२

[16] आर्यभटीयम् ,गणितपादः-का ३२(दिल्लीःराष्ट्रिय विज्ञान अकादमी,१९७६)पृ-७०

[17] कुट्टाकारशिरोमणिः का-२ (पुनाःआनन्दाश्रममुद्रणालयः, १९४४) पृ-१९

[18] स्वच्छन्दतन्त्रम्, प्रथमपटलः का- ५२(वाराणसीःचौखम्बा विद्याभवन,२००५) पृ ३९-४०

[19] "एवं पादस्थसद्योजातकलानामपि नासाशिरःक्षेत्रपर्यन्तां व्याप्तिमभिदधत् 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इति भङ्ग्या शिक्षयति हस्तौ कल्पयेदिति ।ग्रहं संमार्ष्टि इतिवत् प्रधानविधेरस्य संख्याया अविवक्षितत्वाद् अष्टादशभुजत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वात् प्राजापात्या नव ग्रहा भवन्ति इतिवद् अनागतावेक्षणरूपतन्त्रयुक्त्या दक्षवामपार्श्वगतभुजनवकद्वयकल्पनं द्युतिलक्षीभ्यामिति मन्तव्यम्" तत्रैव

[20]"नापि सम्भवन्त्यपि मन्त्रेभ्योऽर्थप्रतीतिः ग्रहैकत्ववदविवक्षिता भवितुमर्हति अविवक्षानिबन्धनस्य कस्य चिदप्यभावात्, ग्रहादिवचनान्तरनिर्ज्ञातसंख्यत्वात्सोमावसेकनिर्हरणस्य च सम्मार्गकार्यस्य सर्वग्रहसाधारणत्वाद् ग्रहमिति विभक्तेश्च कर्मकारकसमर्पणमात्रेणापि सार्थक्योपपत्तेः युक्तमेकत्वमविवक्षितमिति कथयितुमि" न्यायमञ्जरी आ-३ (वाराणसीःचौखम्बा संस्कृत सीरिस आफिस, १९३६) पृ-२६२

[21] श्रीमच्छ्रीकण्ठाचार्यकृतं ब्रह्मसूत्रभाष्यम् १/१/२१ (दिल्लीः नाग पब्लिशर्स,१९८६) पृ २५२

[22] अद्वैतसिद्धिः परि-१(मुम्बइःनिर्णयसागर,१९३७) पृ-५१०-५११

[23] "न चोद्देश्यविशेषणत्वाद् ग्रहैकत्ववत् निमित्तमविवक्षितम् ।ग्रहैकत्वनये उद्देश्यस्वरूपे लब्धेपि यदधिकं तस्यैवाविवक्षेति स्थितिरि" न्यायामृतम् (तृतीयसम्पुटम्) ब्रह्मणो निर्गुणत्वभङ्गः (वेङ्गालुरुः द्वैतवेदान्त स्टाडिस् एन्ड रिसार्च फाउन्डेशन्,१९९६) पृ-१५८

[24] वैयाकरणभूषणकारिका-५६

[25] "ग्रहं संमार्ष्टीत्यत्रोद्देश्यग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमिति वन्नास्माकमुद्देश्यविशेषणविवक्षानियमः, धातोरित्येकत्वस्य विवक्षितत्वात्। उत्पद्येत समस्तेभ्यो धातुभ्यः प्रत्ययो यदि ।तदा सर्वैर्विशिष्येत द्वन्दोत्पन्नसुबर्थवत्।। इति शब्दान्तराधिकरणे भट्टपादैरभिधानाच्च, आर्धधातुकस्येड्वलादेः इत्यत्रानुवाद्यार्धधातुकविशेषणस्य वलादित्वस्य विवक्षितत्वाच्चे" वैयाकरणभूषणसारः का-५६ (पुनाः आनन्दाश्रममुद्रणालयः,१९५७) पृ ४३८-४४०

[26] पाणिनिसूत्रम्- ३.१.९१

[27] पाणिनिसूत्रम्- ७.२.३५

[28] वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) का-५० (वाराणसीः वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,१९७४) पृ-१०३

[29] वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) का-७० (वाराणसीः वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,१९७४) पृ-१३२

[30] "यजेत पशुनेत्यत्र संस्कारस्यापि सम्भवे ।यथा जातिस्तथैकत्वं साधनत्वेन गम्यते।।अन्यत्राविहितस्यैव स विधिः प्रथमं पशोः ।क्रियायामङ्गभावश्च तत्त्वेतस्माद् विवक्षितम्। ।ग्रहास्त्वन्यत्र विहिता भिन्नसंख्याः पृथक् पृथक् ।प्राजापत्या न वेत्येवमादिभेदसमन्विताः।।अङ्गत्वेन प्रतीतानां सम्मार्गे त्वङ्गिनां पुनः ।निर्देशं प्रति या सङ्ख्या सा कथं स्याद्विवक्षिता।।" वाक्यपदीयम् (पदकाण्डम्) का-५५,५७-५९ (वाराणसीः वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,१९७४) पृ १११-११८

[31]"This interpretation of Bhartrihari also goes in quite consistence with the Mimamsaka view that the upadeyagata sankhya is vivaksita and the uddesyagata sankhya is avivaksita." Sastri,V.A Ramaswami. "Bhartrhari's Interpretation of 'Graham Sammarsti, and 'Basuna Yajeta." Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference, Eighteenth Session, Annamalainagar, December, 1955. Edited by R. Ramanujachari, The Reception Committee of 18thAIOC, Annamalainagar,1958, pp-188.

[32] पाणिनिसूत्रम्- १.१.६९

[33] पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्- १।१।६९(मुम्बइःनिर्णयसागर,१९३८) पृ-५१३

[34] "प्रत्याख्यानपक्षे भाव्यमाणेषु यथाश्रुतं रूपमुत्पद्यते इत्याकृतिग्रहणेपि भिन्नकालानां ग्रहणं न भवति। यथा पशुना यजेत पशुमालभेत इत्यत्पत्तिवाक्यात् संख्या विवक्ष्यते ।उदात्तादयस्त्वभेदका इत्युक्तम्।अनुवादे तु नान्तरीयकत्वादेकव्यक्त्युच्चारणेऽपि सकलव्यक्तिग्रहणम्।यथा ग्रहं संमार्ष्टीति सर्वेषां ग्रहाणां प्राजापत्या नव ग्रहा इत्यादिभ्यो ज्ञातानां संमार्जनम्" तत्रैव

[35] पाणिनिसूत्रम्-३.४.२१

[36] वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी-३.४.२१

[37] पाणिनिसूत्रम्-६.२.३७

[38] काशिकावृत्तिः-६.२.३७

[39] पाणिनिसूत्रम्-१.४.४९

[40] *प्रौढमनोरमा* (वाराणसीःचौखम्बा संस्कृत सीरिस आफिस, १९३५)पृ-४६

ब्राह्मणग्रन्थेषु उपलब्धस्य यजमानशब्दस्य अर्थसमीक्षणम्

• डॉ. प्रताप-चन्द्र-रायः*

शोधसारः - वैदिकवाङ्मये संहितानाम् अनन्तरं ब्राह्मणग्रन्थानां स्थानं वरीवर्ति। तेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु पारिभाषिकशब्दरूपेण यजमानशब्दः समुपलभ्यते। यद्यपि शब्दोऽयम् अतीव परिचितः प्रसिद्धश्च शब्दो वर्तते तथापि शब्दोऽयं ब्राह्मणग्रन्थेषु स्वकीयेन अर्थवैचित्र्येण प्रगाढं व्यापकं च तात्पर्यमावहति। लौकिकभाषायां सामान्यतया शब्दोऽयं यज्ञकर्तृरूपेण व्यवहृयते। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु तद् व्यतिरिच्य तस्य शब्दस्य विविधा अर्थाः संलक्ष्यन्ते। कुत्रचित् तेन यजमानशब्देन प्रजापतिः अवबुध्यते। कदाचित् शब्दोऽयं इन्द्ररूपेण पठ्यते। क्वचित् मेधपतिरूपेण कुत्रचिद्वा अग्निरूपेण च शब्दस्य अस्य अर्थः संलक्ष्यते। कुत्रचित् तस्य शब्दस्य 'मामहानः' कुत्रचिद्वा 'सुम्नयुः' इत्यर्थः दरीदृश्यते। कदाचित् शब्दोऽयं यज्ञार्थं सोमार्थं च बोधयति। तदनन्तरं शब्दोऽयं हव्यदातिरूपेण यूपरूपेण प्रस्तररूपेण सम्वत्सररूपेण सूक्तरूपेण अग्निष्ठारूपेण स्रुचरूपेण द्वियजुःरूपेण च तत्र वर्णितः। एवं विस्तारभिया स्थालीपुलकन्यायेन च स्वल्पाः एव शब्दा अत्र समुल्लिखिताः। तस्य शब्दस्य इतोऽपि बहुविधा अर्थाः सन्ति, येषां शब्दानां प्रबन्धेऽस्मिन् सविशदं समीक्षणं कृतम्।

बीजशब्दाः - ब्राह्मणम्, यजमानः, यज्ञः, यज्ञपतिः, यज्ञकर्ता, प्रजापतिः।

वैदिकवाङ्मये ऋगादिसंहिताभागस्यानन्तरं व्याख्याभागत्वेन ये ग्रन्थाः समुद्भूताः ते खलु ब्राह्मणग्रन्थत्वेन प्रथिताः। तान्येव ब्राह्मणानि प्रतिस्वतन्त्रवेदशाखया सह संयुक्तानि सन्ति। तदनुसारं सम्प्रति ऋग्वेदस्य ऐतरेय-शांखायनरूपेण ब्राह्मणग्रन्थद्वयं समुपलभ्यते। शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिन-काण्वशाखयोरुभयोः शतपथब्राह्मणनाम्ना ब्राह्मणमेकं विद्यते। तैत्तिरीयब्राह्मणाख्यं कृष्णयजुर्वेदस्य प्रसिद्धं ब्राह्मणमेकं समस्ति। सामवेदस्य कौथुमीयशाखायाः ताण्ड्यमहाब्राह्मणं षड्विंशब्राह्मणं सामविधानब्राह्मणमार्षेयब्राह्मणं मन्त्रोपनिषद्ब्राह्मणं देवताध्यायब्राह्मणं वंशब्राह्मणं संहितोपनिषद्ब्राह्मणञ्च सन्ति। तथैव सामवेदस्य जैमिनीयशाखायाः ब्राह्मणग्रन्थत्वेन जैमिनीयब्राह्मणं तलवकारब्राह्मणं जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणञ्च प्राप्यन्ते। अथर्ववेदस्य गोपथनाम्ना ब्राह्मणमेकमेव केवलं दृष्टिपथमायाति। ते ऐतरेयशतपथादिब्राह्मणग्रन्थास्तु मन्त्राणां व्याख्याग्रन्थत्वेन भाष्यग्रन्थत्वेन चाभिधीयन्ते।

*सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः, पुरुलिया, पश्चिमबंगः

मीमांसादर्शनानुसारं मन्त्रभागं व्यतिरिच्य वेदभागो ब्राह्मणत्वेन कथ्यते – "**शेषे ब्राह्मणशब्दः**" इति।[1] अर्थात् वैदिकवाङ्मयस्य पद्य-गद्य-संगीतात्मको वेदभागो मन्त्रभागस्तथा तद् व्यतिरिच्य व्याख्याभागो ब्राह्मणमित्युच्यते। कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयसंहितायाः भाष्यकृद्भिः भट्टभास्करपादैरपि कथितं यद् यज्ञादिकर्मणो मन्त्राणां च व्याख्याभूताः ग्रन्थाः ब्राह्मणग्रन्थाः सन्ति। अतस्तैरुल्लिख्यते – "**ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः**" इति।[2] वाचस्पतिमिश्रानुसारं निर्वचन-विनियोग-प्रयोजन-विधि-अर्थवादादिविषयास्तेषां ब्राह्मणग्रन्थानां वर्ण्यविषयाः सन्ति। तथा चोक्तम् –

नैरुक्त्यं यत्र मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥[3]

मीमांसादर्शनस्य भाष्यकृद्भिः शबरस्वामिपादैः उपर्युक्तविषयजातं सविशदं विशदीकृतम्। तदनुसारं तैर्हेतु-निर्वचन-निन्दा-प्रशंसा-संशय-विधि-परक्रिया-पुराकल्प-व्यवधारणकल्पनादिदशविधाः विषयाः ब्राह्मणानां प्रतिपाद्यविषयत्वेन प्रतिपादिताः। यथा तैर्लिखितम् -

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य वै॥[4]

इत्थं ब्राह्मणेषु उपर्युक्तविभिन्नविषयैः समं यजमानस्य स्वरूपविषये माहात्म्यविषये चापि वैशद्येन पर्य्यालोचनं परिलक्ष्यते। यत्तु शोधपत्रस्यास्य मुख्यतया विवेच्यं वर्त्तते। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थानां पूर्वम् ऋगादिसंहितासु तथा च पश्चादारण्यकादिग्रन्थेष्वपि यजमानस्य विषये विस्तृततया वर्णनं परिदृश्यते तथापि केवलमात्रं ब्राह्मणग्रन्थमाधारीकृत्य एव शोधपत्रमिदं निर्मीतं यत्तु नितान्तं रोचकं युक्तियुक्तं च प्रतिभाति।

वस्तुतो देवपूजासंगतिकरणदानेषु प्रयुक्तेन √यज् धातुना निर्मितो यज्ञशब्दस्तु व्यापकशब्दः। शतपथब्राह्मणानुसारं संसारेऽस्मिन् यज्ञोऽयं सर्वश्रेष्ठं कर्म विद्यते। अतस्तत्र "**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म**" इत्येवं वचनं समुपलभ्यते।[5] यतो हि यज्ञाग्नौ समर्पितपदार्थान् देवाः प्राप्नुवन्ति।[6] यज्ञेन सर्वेषां प्राणिनां कल्याणं भवति। सम्यक्तया देशस्य समाजस्य च सञ्चालनं संरक्षण च भवति।[7] यज्ञेन मनुष्याः ईश्वरसान्निध्यं प्राप्नुवन्ति। यज्ञोऽयं स्वयं पवित्रोऽस्ति, तेन चान्ये सर्वे प्राणिनः पवित्रं भवन्ति।[8] अतस्तेन यज्ञेन ऐश्वर्यमुपलभ्यते।[9] यज्ञ एव खलु संसारस्यास्य प्रथमो मुख्यश्च धर्मः, येन देवाः जगदुत्पन्नं कुर्वन्ति।[10] समग्रब्रह्माण्डोऽयं यज्ञस्य वेदीस्वरूपः, तत्र वेदीस्वरूपे ब्रह्माण्डे नित्यानुष्ठितो यज्ञ एव ब्रह्माण्डं धारयति।[11] अस्य यज्ञस्य यो मुख्यकर्त्ता स एव यजमानः कथ्यते। अर्थात् ब्राह्मणेन पुरोहितेन वा यज्ञादिधार्मिकानुष्ठानस्य कर्त्ता यजमानत्वेन कथितः।

तत्र व्याकरणानुसारं '**पूङ्यजोः शानन्**' अष्टाध्यायीसूत्रेण '√यज-देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' धातुना 'शानन्' प्रत्यययोगाच्च यजमानशब्दो निष्पन्नः। अमरकोषग्रन्थे सामान्यरूपेण यजमानस्य पर्यायशब्दरूपेण व्रतिन्-यष्टृ-यजमानादिपदानि उल्लिखितानि सन्ति, किन्तु विशेषरूपेण सोमयज्ञस्य यजमानो दीक्षितरूपेण इज्याशीलरूपेण यायजूकत्वेन यज्वारूपेण च समुल्लिखितोऽस्ति।

यष्टा च यजमानश्च स सोमवति दीक्षितः।
इज्याशीलो यायजूको यज्वा तु विधिनेष्टवान्॥[12]

कात्यायनश्रौतसूत्रे यजमानस्य विषये लिखितमस्ति यत् "**दानवाचनान्वारम्भणवरवरणव्रतप्रमाणेषु यजमानं प्रतीयात्**" इति।[13] अर्थात् योऽन्नवस्त्रधनादिपदार्थदानं करोति, वेदमन्त्रोच्चारयति, ब्रह्मादीनामृत्विजां वरणं करोति, यज्ञादिकर्मकर्तुं संकल्पं धरति, यज्ञशालायां प्रमाणादिकार्यं करोति, स एव यजमानः। शुक्लयजुर्वेदस्य भाष्यकृद्भिः महर्षिदयानन्दपादैः स्वकीये यजुर्वेदभाष्ये यजमानस्य विषये उल्लिखितं यद् "**यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति**"[14] अर्थात् यः परमेश्वरस्य सर्वोपकाररूपधर्मस्य च यज्ञानुष्ठानं करोति स यजमानः। अन्यत्राप्युक्तं "**यजति विदुषः पूजयति सद्गुणान् संगच्छते ददाति वा**" अर्थात् विदुषां यद्वा सद्गुणानां यः पूजां करोति स यजमानः। पुनरप्युक्तं "**यो यजते देवान् विदुषः सत्करोति संगच्छते सुखानि ददाति वा**"[15] तथा च "**ये यजन्ति ते विद्वांसः**" इति।[16] इत्थं जैमिनीयब्राह्मणेऽपि कथितमस्ति यद् "**यो ह वै अतियजते, पुनः ह सोऽमुष्मिन् लोके यजमान आस्ते**" इति।[17] अर्थात् यज्ञस्य अनुष्ठानकर्त्ता याज्ञिकः, पुरोहितैश्च यज्ञस्य सम्पादनकर्त्ता स एव यजमानः। तदनुरूपं शतपथब्राह्मणेनापि निगदितं यद् "**यद् यजते तद् यजमानः**" इति।[18] यजमानस्यैवम् उपर्युक्तलक्षणेन संक्षेपेण साररूपेण च वक्तुं शक्यते यद् यो यज्ञानुष्ठानं करोति स एव इहलोके यजमानरूपेण प्रथितः। तेन स्पष्टं यद् यज्ञेन समं यजमानस्य साक्षात्सम्बन्धोऽस्ति। यजमानं विहाय कदापि यज्ञस्य सम्पादनं न सम्भवति। अतः शतपथब्राह्मणे उदात्तभावनायुक्तः श्रद्धान्वितो यज्ञकर्त्ता यज्ञपतित्वेन कथितः। "**यजमानो हि यज्ञपतिः**"[19] अपि च "**यजमानो वै यज्ञपतिः**"[20] इति। महर्षिदयानन्दसरस्वतिपादानुसारमपि यज्ञपतिरेव यज्ञस्य स्वामी यद्वा यज्ञकर्त्ता। अत एव "**यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्त्ता यजमानः**" इत्येवं यजुर्वेदभाष्ये तैर्विजृम्भितम्।[21] यज्ञपतिरूपो यजमानो यथाविधिः नियमानुसारेण श्रद्धाभावेन च यज्ञं करोति चेत् स सततमुन्नतिं करोति, समृद्धश्च भवति। अतः शतपथब्राह्मणेन आम्नातं "**वत्सा तु वै यज्ञपतिं वर्धन्ति यस्य ह्येते भूयिष्ठा भवन्ति स हि यज्ञपतिर्वर्धते**" इति।[22] संसारेऽस्मिन् सूर्यादिपदार्थाः स्व स्व स्थाने स्थित्वा नितरां प्रतिदिनं सृष्टियज्ञं कुर्वन्ति। ब्रह्माण्डभूतस्यास्य यज्ञस्य यजमानरूपेण स्वयं प्रजापतिः प्रतिष्ठितः। ऐतरेयब्राह्मणेनापि निगदितं "**एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते**" इति।[23] अखिले ब्रह्माण्डेऽस्मिन् जीवानां पालनत्वात् पोषणत्वाच्च यजमानस्य प्रजापतिरिति नामधेयम्। यथा दैविकसृष्टियज्ञस्य यजमानः स्वयं प्रजापतिः वर्तते तथैव मनुष्यसमाजेऽनुष्ठितयज्ञस्य यजमानोऽपि प्रजापतिस्वरूपो वर्तते – "**यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिः**" इति।[24] सायणाचार्यपादैर्विषयेऽस्मिन् लिखितं यत् "**ऋत्विजां दक्षिणादिदानेन पालनत्वात् प्रजापतित्वम्**" इति।[25] यजमानो होतादीनामृत्विजां जीवनं धनादिदक्षिणादानेन पालयति पोषयति वा। तस्मात् कारणात् यजमानस्य प्रजापतिरित्याख्या। तदनन्तरं शतपथब्राह्मणे यजमानस्य इन्द्ररूपेण वर्णनं समुपलभ्यते। उक्तञ्च तत्र – "**इन्द्रो वै यजमानः**" इति।[26] तत्र परमेश्वर्यकारणाद् यजमानस्य इन्द्ररूपत्वं वर्णितम्। "**य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः**"[27] इत्येवं महर्षिदयानन्दपादैः परमैश्वर्यत्वाद् इन्द्रस्य परमेश्वररूपेण वर्णनं निरूपितम्।

इन्द्रयजमानयोरैश्वर्यगुणसाम्याद् ब्राह्मणग्रन्थे यजमानस्य इन्द्रत्वं परिलक्षितं भवति। तत्पश्चाद् ब्राह्मणग्रन्थे यजमानो मेधपतिरूपेण वर्णितः। ''**यजमानो वै मेधपतिः**" इति।[28] तत्र शतपथब्राह्मणानुसारं '**मेध**' इत्यस्य शब्दस्य अर्थः '**अन्नम्**' इति। यथा ब्राह्मणेन निर्देशितं "**मेधाय इति अन्नाय इत्येतत्**" इति।[29] पुनरप्यस्य ब्राह्मणस्यान्यत्र ब्रीहिरूपेण यवरूपेण च मेधशब्दस्य प्रयोगः संलक्ष्यते – "**सर्वेषां वा एष पशूनां मेधो यद्व्रीहियवौ**" इति।[30] कौषीतकिब्राह्मणे मेधशब्दः स्पष्टरूपेण '**पुरोडाशः**' इत्यर्थे प्रयुक्तो भवति। कथितं च "**मेधो वा एष पशूनां यत्पुरोडाशः**" इति।[31] मेधशब्दस्यार्थः '**घृतम्**' इति तैत्तिरीयब्राह्मणमतम्। अत एव "**मेधो वा आज्यम्**" इत्येवं वाक्यं पठ्यते।[32] तत्र आज्यपदं घृतरूपेण प्रयुक्तम्। एवमुपर्युक्तवर्णनेन मेधशब्दस्यार्थो भवति – अन्नम्, ब्रीहियवौ, पुरोडाशः घृतञ्च । अर्थात् यजमानो यज्ञमाध्यमेन अन्नादिपदार्थान् संप्राप्य तेषां पदार्थानां पतिः स्वामी वा भवति। तस्मात् कारणात् तस्य एवं मेधपतिरूपत्वम्। ततोऽग्निवत् तेजस्वी-ओजस्वी-यशस्वी-विराडादिगुणसम्पन्नत्वात् शतपथब्राह्मणे यजमानः सविशदमग्निरूपेण विवेचितः।[33] विषयेऽस्मिन् सायणाचार्यपादैरपि भणितं यद् "**विराड्रूपस्य अग्नेः यजमानभाविशरीरात्मकतया च तद्रूपत्वम्**" इति।[34] तदनु ब्राह्मणग्रन्थे यजमानः '**दाश्वान्**' इति रूपेणापि कथितः। तत्र दानादिगुणवैशिष्ट्याद् यजमानस्य दाश्वानिति नामकरणम्। "**यजमानो वै दाश्वान्**" इति।[35] अत्र दाश्वान्पदं खलु "**दाश्वान् साह्वान्**"[36] सूत्रेण दानार्थे √दाश्ट धातुना[37] निष्पन्नम्। अत एव निपातनकारणात् हविर्दाता यजमानो दाश्वान्रूपेणाभिहितः। तदनन्तरं ब्राह्मणग्रन्थे यजमानस्य कृते '**मामहानः**' इति शब्दोऽपि प्रयुक्तः। "**यजमानो वै मामहानः**" इति।[38] महर्षिदयानन्दसरस्वीपादानुसारम् अत्यन्तं सत्कारयोग्यो व्यक्तिरेव मामहानः। अतस्तैरुल्लिख्यते – "**अतिशयेन महान् पूजनीयः**" इति।[39] महर्षिदयानन्दवत् सायणाचार्यपादैरप्युक्तं "**यजमानस्यैव पूजकत्वान् 'मामहान'शब्दो यजमानपरः**" इति।[40] शतपथब्राह्मणे यजमानः सुम्नयुरूपेणापि वर्णितः। अत एव तत्र "**यजमानो वै सुम्नयुः**" इत्येवमुच्यते।[41] तत्र 'सुम्न'पदस्यार्थः खलु सुखम्। तदनुसारं यः स्वस्य कृते सुखमिच्छति स सुम्नयुः। यथोच्यते महर्षिपादैः "**य आत्मनः सुम्नं सुखमिच्छुः**" इति।[42] सायणाचार्यपादैरपि तथैव निगदितं "**सुम्नं सुखं स्वर्गादिलक्षणमात्मन इच्छतीति सुम्नयुः यजमानः**" इति।[43] तेन स्पष्टं यद् आत्मनः स्वर्गादिसुखमिच्छुः यजमानः सुम्नयुनाम्ना परिचितः। यजमानो हव्यदातिरूपेणापि वर्णितः। तत्र यज्ञे हव्यदानकरत्वाद् यजमानस्य '**हव्यदातिः**' इति संज्ञा। अत एव शतपथब्राह्मणे "**यजमानो वै हव्यदातिः**" इति समुपलभ्यते। यूपत्वेनापि यजमानो बहुषु ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुधा आलोचितः। तथा चोक्तं "**यजमानो वै यूपः**" इति।[44] यज्ञकर्मणि '**यूपः**' यजमानसदृशो मुख्यत्वाद् यूपस्य यजमान इति संज्ञा। किन्तु "यजमाननिष्पाद्यस्य यागस्य यूपेनापि निष्पाद्यत्वात्, तत्सिद्धिन्यायाद् यजमान एव यूपत्वेनोपचर्यते" इत्येवं सायणाचार्यपादामतम्।[45] यजमानवद् यज्ञे प्रस्तरस्य प्राधान्यत्वात् तस्य यजमानरूपत्वं दरीदृश्यते। तस्मात् मुख्यतत्त्वात् "**यजमानो वै प्रस्तरः**" इत्येवं ब्राह्मणेन उद्घोषितम्।[46] ब्राह्मणग्रन्थे यजमानो यज्ञस्य आत्मरूपेणापि विघोषितः। अतः "**आत्मा वै यज्ञस्य यजमानः**" इति भणितम्।[47] यतो हि यज्ञस्य मूलकेन्द्रविन्दुर्यजमानो भवति। तं यजमानमाश्रित्य

एव यज्ञस्य सर्वाणि कार्याणि निष्पन्नानि भवन्ति। यजमानं व्यतीतं यज्ञस्य किमप्यस्तित्वं नास्ति। तस्माद् अत्र यजमानो यज्ञस्य आत्मरूपेण विवेचितः। अन्यत्र तु यजमान एव साक्षाद् यज्ञरूपेण अभिहितः। यथोक्तं "**यजमानो वै यज्ञः**" इति।[48] अर्थात् यजमानः स्वयं यज्ञस्वरूपः। अनेन स्पष्टं यद् यज्ञे यजमानस्य अतीव महत्त्वपूर्णस्थानं वर्तते। तस्मात् स यज्ञस्यात्मरूपेण उदीरितः। तदनन्तरं यजमानस्य सम्वत्सररूपेण उल्लेखः संलक्ष्यते।[49] तत्र संवत्सरभूतो यजमानः ऋतु-मास-पक्ष-दिवसादिभिः ब्रह्माण्डरूपयज्ञशालायां सततं यज्ञकर्म सम्पादयति। एवं दिवसादिभिः यज्ञरूपकर्मकरत्वात् संवत्सरस्य यजमानरूपत्वम्। यजमानस्य सोमरूपेणापि उल्लेखः समस्ति। वस्तुतः सोमरसो जीवनदायको भवति तथा सोमपानेन यजमानस्य जीवनं पुष्टिसम्पन्नं च भवति। अत एव शरीरस्य पुष्टिसम्पन्नत्वात् जीवनदायकत्वाच्च तैत्तिरीयब्राह्मणे "**एष वै यजमानो यत्सोमः**" इत्येवमुपलभ्यते।[50] यजमानो यज्ञकाले सूक्तस्थमन्त्रोच्चारणेन समस्तजीवानां जीवनं शोधयति। प्राणिनां तस्माज्जीवनशुद्धिकारणाद् यजमानस्य सूक्तरूपत्वम्। अतो "**यजमानो हि सूक्तम्**" इत्युच्यते।[51] इत्थं ब्राह्मणग्रन्थेषु यजमानशब्दः अग्निष्ठारूपेण[52] स्रुचरूपेण[53] द्वियजुःरूपेण[54] च सविशदं वर्णितः। यजमानस्तु यज्ञेन देवतासकाशाद् भूयांसि आशीर्वचांसि प्राप्नोत्येव, किन्तु तेन सह स ऋत्विजां सकाशादपि भूयांसि आशीर्वचांसि प्राप्नोति। यतो हि यज्ञे ऋत्विजां यदाशीषं भवति तत्सर्वं निश्चयेन यजमानस्यैव। अत एव शतपथब्राह्मणे ऋषिणोक्तं "**यां वै काञ्च यज्ञऽऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा**" इति।[55] अन्यत्र एतदप्युक्तं यद् यो यजमानो यज्ञस्य रहस्यं ज्ञात्वा यज्ञे आहुतिप्रदानं करोति स निश्चयेन परलोके सम्पूर्णं शरीरं दधाति। उक्तञ्च – "स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिँल्लोके सम्भवति य एवं विद्वान्... जयते"।[56] अर्थात् यजमानो यज्ञेन स्वर्गादिसुखं प्राप्नोति इत्यर्थः। विषयेऽस्मिन् ऋग्वेदेऽपि स्पष्टतया उक्तमस्ति यद् ऋषयः साध्याः देवाश्च यज्ञेन पूर्वं स्वर्गलोकं प्राप्तवन्तः।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥[57]

अर्थात् देवाः यज्ञरूपसाधनेन यद्यज्ञकर्म प्रारम्भं करोति तदादिकालस्य श्रेष्ठधर्मः आसीत्। अस्य यज्ञरूपधर्मस्य आचरणशीलो धार्मिको व्यक्तिः तत्सुखात्मकं स्वर्गलोकं गमयति। यत्र पूर्वे यज्ञभूतस्य श्रेष्ठधर्मस्य अनुष्ठानकर्तारः धार्मिकाः देवाः साध्याश्च गतवन्तः। यजमानस्य कृते एवं बहुविधाः प्रार्थनाः मन्त्रेषु संलक्ष्यन्ते। ऋग्वेदस्य तृतीयमण्डलेऽग्निदेवमुद्दिश्य ऋषिः कथयति, हे अग्नि! त्रिविधोषाद्वारा उत्पन्नं त्वं घृत-ओषधि-सोमभेदेन त्रिविधान्नद्वारा प्रदीप्तं भूत्वा सर्वान् देवान् हव्यं प्रापयतु, यजमानस्य च कृते कल्याणं करोतु। आम्नातञ्च –

त्रीण्यायूंषि तव जातवेदस्तिस्र आजानीरुषसस्ते अग्ने।
ताभिर्देवानामवो यक्षि विद्वानथा भव यजमानाय शंयोः॥[58]

तदनन्तरमग्निदेवमुद्दिश्य यजमानाय अन्नदातुं प्रार्थनं संलक्ष्यते – "**बृहद् यजमाने वयो धाः**" इति।[59] प्रातःकालस्य यज्ञानुष्ठानेन यजमानः सम्मानितस्थानं प्राप्नोति – "**पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्**"।[60] यो

यजमानो मनसा यज्ञेन देवान् पूजयति स यज्ञरोहितजनान् अनायासेन पराजयति। **"देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्"** ।[61] यज्ञकर्त्ता सोमदाता देवस्तुतिकर्त्ता च कदापि दुःखं न प्राप्नुवन्ति। यः प्रतिदिनं विधिवद् यज्ञानुष्ठानं करोति स स्वयमुन्नतिशीलं भूत्वा नास्तिकान् पराजितं करोति।[62] ततो यो मनसा वचसा कर्मणा च देवान् पूजयति, कश्चन अपि तं यजमानं नष्टं कर्तुं न शक्नोति। ऐश्वर्यद्वारापि तं नष्टं कर्तुं न शक्नोति, स्वयं च कदापि न विनाशं प्राप्नोति। अपि तु यः तं नष्टं कर्तुमिच्छति स स्वयं विनाशं प्राप्नोति।[63] एवं यजमानस्य बहुविधं वैशिष्ट्यं वर्णितमस्ति। अत एव वर्तमानसमये देवपूजा-संगतिकरण-दानरूपं यज्ञकर्म सर्वैर्जनैः करणीयम्। कुतो हि तेन कर्मणा एव राष्ट्रस्य समाजस्य व्यक्तिविशेषस्य च विकासं भवितुमर्हति।

उपर्युक्तवर्णनेन संक्षेपेण वक्तव्यं यद् ब्राह्मणग्रन्थानां विभिन्नानां महत्त्वपूर्णविषयाणां मध्ये यजमानविषयोऽपि एकोऽतीव महत्त्वपूर्णो वर्ण्यविषयः। सम्पूर्णे शोधपत्रेऽस्मिन् यजमानस्य विविधार्थकत्वेन विचारो निश्चयेन नूतनत्वमुद्घोषयति। यजमानविषयकं रहस्यात्मकज्ञानं ज्ञानान्तरात् सर्वश्रेष्ठमिति वक्तुं शक्यते। तत्र सर्वेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु यजमानस्य खलु वैशद्येन महत्त्वं माहात्म्यं च वर्णितम्। तदनुसारं यज्ञस्यानुष्ठानकर्त्ता याज्ञिको यजमानरूपेण विवेचितः। तदनन्तरं तत्र यजमानस्य प्रजापति-अग्नि-इन्द्रादिविभिन्नरूपेण वर्णनं वर्णितम्। विधिपूर्वकं यज्ञानुष्ठानकर्त्ता याज्ञिकः इहलोके परलोके चोभयस्थाने एव सुखमनुभवति। यद्यपि वर्तमानसमाजे यज्ञानां याज्ञिकानां च संख्या प्रायशो विलुप्ता भवति तथापि यज्ञस्य यजमानस्य च माहात्म्यमतीव गुरुत्ववहम्। यत्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु वर्णितस्य यजमानस्य माहात्म्येनैव प्रमाणितम्। अतः परिशेषे कथयितुं पार्य्यते यद् वैदिककाले यथा यजमानस्य महत्त्वमासीद्वर्तमानसमयेऽपि तस्य तथैव महत्त्वं विद्यते।

सन्दर्भाः

---

[1] मीमांसासूत्रम् – २/१/३३

[2] भ.भा.भा.तै.सं. – १/५/१

[3] द्विवेदी, कपिलदेव। *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*। वाराणसी : विश्विद्यालय प्रकाशन, (7th Ed.) 2018.

[4] शाबरभाष्यम्, मीमांसासूत्रे – २/१८

[5] श.ब्रा. – १/७/१/५

[6] ऋ. – १/१/४

[7] तदेव – २/३८/१

[8] तदेव – १/१७७/४

[9] यजुः – २०/८४

[10] यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ऋ. १०/९०१६

[11] यजुः – २३/६२

[12] अमरकोषे – २/७/८ ब्रह्मवर्गे

[13] का.श्रौ.सू. – १/१०/१२

[14] दया.भा.यजुः – १/१

[15] तदेव – २२/२२

[16] तदेव – १९/३२

[17] जैमि.ब्रा. – १/२३३

[18] श.ब्रा. – ३/२/१/१७

[19] तदेव – ४/२/२/१०

[20] तदेव – १/१/२/१२

[21] दया.भा.यजुः – १/२

[22] श.ब्रा. – १/८/१/२८

[23] ऐ.ब्रा. – २/१८

[24] श.ब्रा. – १/६/१/२०

[25] सा.भा.श.ब्रा. – १/६/१/२०

[26] श.ब्रा. – २/१/२/११; ४/५/४/८; ५/१/३/४

[27] स्वामी, दयानन्द। *सत्यार्थप्रकाश*(प्र.सं.)। दिल्ली : आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २०१७। पृ. - ६

[28] कौ.ब्रा. – १०/४; ऐ.ब्रा. – २/६

[29] श.ब्रा. – ७/५/२/३२

[30] तदेव – ३/८/३/१

[31] कौ.ब्रा. – १०/५

[32] तै.ब्रा. – ३/९/१२/१

[33] यजोमानोऽग्निः। श.ब्रा. – ६/३/३/२१; ६/५/१/८; ९/२/३/३३

[34] सा.भा.श.ब्रा. – ६/३/३/२१

[35] श.ब्रा.- २/३/४/३८, ४०; ७/३/१/२९; ७/५/२/३९

[36] अष्टा. – ६/१/१२

[37] दाशृ दाने। धा.पा.भ्वा. - ९१९

[38] श.ब्रा. – ९/२/३/९

[39] दया.भा.यजुः. – १७/५५

[40] सा.भा.श.ब्रा. – ९/२/३/९

[41] श.ब्रा. – १/४/१/२१

[42] दया.भा.ऋ. – ३/२७/१

[43] सा.भा.श.ब्रा. – १/४/१/२१

[44] ऐ.ब्रा. – २/३; श.ब्रा. – १३/२/६/९; एष वै यजमानो यद्यूपः। तै.ब्रा. – १/३/७/३; यजमानो वा एष निदानेन यद्यूपः। श.ब्रा. – ३/७/१/११; यजमानदेवत्यो वै यूपः। तै.ब्रा. – ३/९/५/२

[45] सा.भा.श.ब्रा. – ३/७/१/११

[46] ऐ.ब्रा. – २/३; श.ब्रा. – १/८/१/४४; १/८/३/११, १४, १६; तै.ब्रा. – ३/३/६/७, ८; ३/३/९/२; ताण्ड्य.ब्रा. – ६/७/१७

[47] श.ब्रा. – ९/५/२/१६

[48] ऐ.ब्रा. – १/२८; श.ब्रा. – १३/२/२/१

[49] सम्वत्सरो यजमानः। श.ब्रा. – ११/२/७/१२

[50] तै.ब्रा. – १/३/३/५

[51] ऐ.ब्रा. – ६/९

[52] यजमानो वा अग्निष्ठा। श.ब्रा. – ३/७/१/१६

[53] यजमानः स्रुचः। तै.ब्रा. – ३/३/६/३

[54] यजमानो वै द्वियजुः। श.ब्रा. – ७/४/२/१६, २४

[55] श.ब्रा. – १/९/१/२१

[56] तदेव – ११/१/८/६

[57] ऋ. – १०/९०१६; यजुः – ३१/१६

[58] तदेव – ३/१७/३

[59] तदेव – ३/२९/८

[60] तदेव – ५/७७/२

[61] तदेव – ८/३१/१५

[62] न यजमान रिष्यसि न सुन्वान न देवयो।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ ऋ. – ८/३१/१६

[63] नकिष्टं कर्मणा नशन्न प्र योषन्न योषति।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ ऋ. – ८/३१/१७

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रस्य प्राचीनाः नवीनाश्च सन्दर्भाः

• डॉ. सन्दीपकुमारमिश्रः*

शोधसारः - संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य प्रखरचिन्तकाः काव्यस्य काव्यतत्वानां चानुसन्धानं वेदेष्वेवाकुर्वन्। परन्तु भरतमुनिप्रणीत नाटयशास्त्रानुशीलनेन काव्यशास्त्रीयतत्वानां मीमांसाऽऽरब्धा। भामहरचित काव्यालङ्कारग्रन्थः काव्यशास्त्रस्य प्रथम- ग्रन्थरूपेण स्वीक्रियते। तदनन्तरं दण्डि-रूद्रट-वामन-कुन्तक-राजशेखर-मम्मट-विश्वनाथ-पण्डितराजावधि काव्यशास्त्रपरम्पराऽबाधगत्या सततं प्रावर्तत। ततःसप्तदशशताब्द्याः आचार्यपण्डितराजजगन्नाथादनन्तरमपि काव्यशास्त्रीय-चिन्तनमनवरतमव्यवहितमद्यावधि प्रवर्तमानमस्ति। अधुनातनाचार्याः काव्यशास्त्रीय-तत्वमीमांसापुरस्सरं वर्तमानयुगानुरूपं महाकाव्य-नाटकादि-लक्षणेषु यथोचित-परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधनपूर्वकं नूतन-रसालङ्कार-रीत्यादिकाव्यशास्त्रीयतत्वानां, नवीनकाव्यलक्षणानामपि चोद्भावनामकुर्वन्। प्रस्तुत शोधपत्रे प्राचीनार्वाचीनाचार्याणाम् विविध काव्यशास्त्रीयावधारणामालोकेऽभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रमिति काव्यशास्त्रीयग्रन्थस्य समीक्षायाः प्रयासः कृतोऽस्ति।

बीजशब्दाः - काव्यलक्षणम्,काव्यप्रयोजनम्,काव्यकारणम्,शास्त्रसङ्क्रान्ति-काव्यभेद-शब्दार्थशक्त्यलङ्कारादयः।

आधुनिककाव्यशास्त्रीय चिन्तक विद्वदग्रगण्याचार्यो राधावल्लभत्रिपाठि महाभागोऽभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रग्रन्थ विरचनेन काव्यशास्त्रीय प्रतिभोन्मेषं प्रगतिपथेऽवर्धयत्। अनेक सन्दर्भेषु आचार्य त्रिपाठिमहाभागस्य स्वोपज्ञ-प्रमाणपुष्टं सयुक्तिक चिन्तनमस्य ग्रन्थस्य प्रसिद्धेर्मूलकारणम्। पुरातन लेखनशिल्पे नूतनतथ्योद्भावनमस्य ग्रन्थस्य परमं वैशिष्ट्यमस्ति। वामनकाव्यालङ्कारसूत्रम्, अलङ्कारसर्वस्वं, रसगङ्गाधरप्रभृत्यनेककाव्यशास्त्रीयग्रन्थाः सूत्रशैल्यामुपनिबद्धाः। मम्मटादिवद् राधावल्लभः स्वचरितसूत्राणां विवृतिमप्यकरोत्। त्रिपाठिमहोदयस्य रचनायाः इदमपि वैशिष्ट्यं, यत् त्रिपाठिकृत रचनामाधृत्य पुरातन-नूतन रचनानां समीक्षाऽपि कर्तुं शक्या। अत्र काव्यलक्षण-काव्यहेतु-काव्यप्रयोजन-काव्यभेद-शब्दार्थशक्त्यलङ्कारादयः इमे विषयाः समीक्षणयीत्वेनाङ्गीकृताः। एषां तत्वानां सन्दर्भे आचार्यराधावल्लभस्य काः काः मौलिक्योऽवधारणाः?

*सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, किसानस्नातकोत्तरमहाविद्यालयः बहराइच

या काव्यशास्त्रीयाचार्येभ्यः भिन्नाः, केषां केषां तत्वानां विवेचनेऽयम् काव्यशास्त्रीयाचार्याणामन्वसरत्,- इति सर्वमस्मिन् शोधपत्रे यथा स्थानं यथाप्रसङ्गसन्दर्भं सम्यक्समीक्षणपुरःसरं सयुक्तिकं विवेचितम्।

काव्यलक्षणम्

राधावल्लभस्तु-'लोकानुकीर्तनं काव्यमिति'[1] काव्यलक्षणमकरोत्। यद्यपि काव्यलक्षणसन्दर्भे प्राचीनतममभिमतमाचार्य भामहस्य स्वीकृतं किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्रस्याद्याचार्यो भरतमुनिर्नाट्यशास्त्रे काव्यलक्षणमुपादिशत्। भरतमुनिरक्षरशः न कामपि काव्यपरिभाषां प्रास्तौत्। अतोऽस्य विषयस्य प्रथम परिभाषकः आचार्योभामहोऽस्ति। भामहः उपादिशत्- ''शब्दार्थयोः सहभावः''[2] एव काव्यमस्ति, तच्च गद्य-पद्य-भेदेन द्विधा भवति। आचार्यो वामनो न स्वतन्त्रतया काव्यलक्षणं प्रास्तौत्, अपितु रीति-विवेचन सन्दर्भे सः काव्यलक्षणं निरदिशत्[3]। स मन्यते यत् काव्यमलङ्कारेणैव ग्रहणीयं, सौन्दर्यमेव चालङ्कारः[4]। सौन्दर्यमिदं काव्ये दोष परिहारेण गुण-ग्रहणीयतया च प्रादुर्भवति। सगुणं सालङ्कारं शब्दार्थयुगलमेव काव्यमिति कथ्यते। यद्यपि गौणवृत्या शब्दार्थयुगलमात्रमेव काव्यसंज्ञयाऽभिधीयेत-इति स्यात्।

प्रो0 त्रिपाठिमहोदयः 'लोकानुकीर्तनं हि काव्यं' मन्यते। तन्मतानुसारं केवलं स्थावरजग्मात्मकं जगदेव लोको न, अपितु कविचेतनया विभाव्यमानं सकलभुवनमेव लोकोऽस्ति। दिक्काल-प्रसृता सकला सृष्टिस्तथा च यत्किमपि प्रतीतिगोचरं तत् सर्वमेव लोकोऽस्ति। इत्थं स लोकस्य त्रीणि रूपाण्युदघाटयत्- आधिभौतिकम्, आधिदैविकम् आध्यात्मिकं च[5]। इमानि त्रीण्यपि रूपाणि परस्परं सम्बद्धानि सन्ति। एषां त्रयाणामपि समग्र समुल्लासो जीवनमस्ति, तच्च साहित्ये प्रतिफलति। वैदिकपरम्परायां-परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी-इति वाचश्चत्वारि रूपाणि कथितानि। काव्यरचना प्रक्रियायां नामान्तरितरूपेणैषां विनियोगस्त्रिपाठिमहोदयेन स्वीकृतः। अनुन्मीलनानुदर्शनानुभवानुव्याहरणानां विनियोगैराधिभैतिकाधिदैविकाध्यामिक विश्वं काव्ये पूर्णतयाऽभिव्यज्यते। अनुकीर्तनपदेन महानिर्दुष्टं सगुण सालङ्कारं रसाभिव्यञ्जकं शब्दार्थयुगलं संगृह्यते। एतेनैव काव्ये पूर्णता भवति, एतदेव चालङ्करणम्। अत एव अलङ्करणमैव काव्यम्। वामनोऽप्यलङ्करणेनैव काव्यत्वमङ्गीकरोति। एवं हि खलु राधावल्लभः ब्राह्मणग्रन्थप्रमाणेन लोकार्नुकीर्तनमेव काव्यमिति काव्यलक्षणस्य युक्तिसङ्गतिं प्रमाणयति। यद्यप्यर्वाचीनः काव्यशास्त्रीयाचार्यो राजेन्द्रमिश्रस्त्रिपाठिकृत काव्यलक्षणं ''परम्पराविरोधि'' इत्युक्त्वा तत्खण्डनमकरोत्। एवमेव शिवजी उपाध्याय महाभागः ''लोकानुकीर्तनं काव्यम्'' इति काव्यलक्षणं काव्याभिज्ञानाय आंशिकरूपेण सहायकं मन्यते।[6] किन्तु-''न ह्यंशस्यांशिनः सारूप्यं कल्पयितुं शक्यमेक देशीयत्वात्''-अंशस्य सारूप्याभावात् स इदं काव्यस्वरूपं लक्षणं न मन्यते।

काव्यप्रयोजनम् - काव्यप्रयोजनं चिन्तयन् राधावल्लभो मुक्तिमेव काव्यप्रयोजनं मन्यते[7]। सर्वप्रथमं भरतमुनिर्नाट्यशास्त्रे काव्यप्रयोजनं व्याचक्षाणः हितकरोपदेशनं, धैर्यं मनोविनोदनं, सुखप्रदानं च काव्यप्रयोजनात्मकममन्यत। काव्यं हि शोकसन्तप्तजनेभ्यः विश्रान्तिकरमपि भवति। आचार्यभरतमुनिप्रतिपादितेऽस्मिन्नेव काव्यप्रयोजन परिधौ एव समस्त परवर्ति-काव्यशास्त्राचार्याः स्वकीय- काव्यप्रयोजनविषयक विचारानुपास्थापयन्। आचार्यवामनकृत-काव्यप्रयोजननिरूपणं हि अतिसंक्षिप्तमस्ति। वामनस्तु यशः आनन्दावाप्तिश्चेति प्रयोजनद्वयमेव काव्यस्य मन्यते[8]। तन्मतेन आनन्दः

काव्यस्य दृष्टप्रयोजनं, यशश्चादृष्टप्रयोजनमस्ति। सः अमन्यत-काव्यरचनया यशः प्रतिष्ठा भवति, दुष्टकाव्य रचयिता च अपयशोभाग्भवति। यशसा स्वर्गप्राप्तिरपकीर्त्या च नरक प्राप्तिर्भवति। अतः श्रेष्ठकविभिः कीर्तिरूपार्जनीया, तथा चापकीर्त्यपाकरणाय काव्यालटारसूत्राण्यवबुध्य उत्तमकाव्यं रचनीयम्। राधावल्लभो मुक्तिमेव काव्यप्रयोजनं मन्वानस्तस्यास्त्रीन् भेदानकरोत्, चेतनात्रैविध्यस्य भेदोपभेदेन च षड्विधाः मुक्तीः अमन्यत[9] याः परस्पर-सम्बद्धाः सन्ति। एकमुक्तिं बिनाऽन्यमुक्तयो न सम्भवन्ति। आचार्यस्त्रिपाठिमहाभागः रेवाप्रसादस्य निष्प्रयोजनतावादस्य निरसनमकरोत्। अभिराजयशोभूषणरचयिताऽपि व्यावहारिकदृष्ट्या यश एव काव्यप्रयोजनममन्यत, किन्तु परमार्थतः सः काव्यं कवेः स्वतः स्फूर्तं स्वाभाविकं कर्म मन्यते, तथा च सः स्वाभाविकं कर्म प्रयोजनसापेक्षं न मन्यते। त्रिपाठिमहोदयः आभ्यां द्वाभ्यां मताभ्यामसहमतः। स मन्यते आनन्द एव सर्वभूत जनकः, आनन्द एव च सर्वेषां लयो जायते। अतः आनन्दावाप्तिरेव काव्यप्रयोजनमित्यङ्गीकरणीयम्। प्राच्याचार्याणां दृष्टान्ते पक्षिणां स्वतः कूजने वस्तुतः आनन्दप्राप्तिरेव प्रयोजनमस्ति। अस्मिन्नेव आनन्दलाभे पक्षिणः मुक्तिमनुभवन्ति। एषैव मुक्तिश्च मौलिकं काव्यप्रयोजनम्। निष्प्रयोजनमूलकतावादिभिरूक्तेन भारावतरणरूपकर्मणाऽपि प्रयोजनस्यैवाभिव्यक्तिर्भवति। यतः काव्यरचना यदि भारः, यमवतार्य कविरानन्दमनुभवति, तर्हि तद् भारावतरणमप्येकं प्रयोजनमेवास्ति। त्रिपाठिमहोदयः यशः काव्यप्रयोजनं न मन्यते। तन्मतेन कामजनितसंसारं रचयन् ब्रह्मेव कविरपि काव्यसंसारं रचयति। अतः उभयोरेव यशोलाभोनाभीष्टप्रयोजनम्। यतो हि यथा ईश्वरो यशो न कामयते, तथैव श्रेष्ठाःकवयः कीर्तिप्रलोभं विहाय काव्यरचनार्थं प्रवर्तन्ते। यशः कामयमानः कविरूपहास्यास्पदं भवति। अत एव त्रिपाठिमहोदयः यशः प्राप्ति प्रयोजनं निरस्यति। इत्थं स वामनप्रभृति-पूर्वज- विद्वदाचार्याणामाधुनिक काव्यशास्त्रिणां च कीर्ति काव्यप्रयोजनं निरस्य तत्स्थाने ‘‘मुक्तिं’’ काव्यप्रयोजनरूपेण अस्थापयत्।

काव्यकारणम् - काव्यकारणनिरूपणेऽपि पूर्वाचार्याणामभिमतानि कतिपय भेदादि परिवर्तनपूर्वकमभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रकारस्त्रिपाठिमहोदयः स्वीचकार। वामनः दण्डिभामहावनुसरन्- लक्ष्यत्वाभियोग-वृद्धसेवाऽवेक्षण-प्रतिभावधानानि काव्यहेतून् मन्यते। बहुतमाः काव्यशास्त्राचार्याः प्रतिभाव्युत्पत्यभ्यासानेव काव्यहेतुरूपेण प्रतिपादयन्ति, परन्तु राजशेखर-पण्डितराजप्रभृत्याचार्याः प्रतिभामात्रमेव काव्यहेतुं मन्यन्ते, तथापि तेऽपि व्युत्पत्यभ्यासौ प्रतिभाया हेतुमङ्गीकुर्वन्ति। यदि प्रतिभायाः स्वरूपं विचार्येत तर्हीदं सुस्पष्टं भवेद् यदेषा प्रतिभा पूर्वजन्म संस्कार प्रभावोत्पन्नो जन्मजात नैसर्गिकः संस्कारः। दण्डिवामनप्रभृत्याचार्याः प्रतिभां जन्मजन्मान्तरप्राप्त-नैसर्गिकसंस्कारं मन्यन्ते। इमां प्रतिभां बिना काव्यं निष्पद्यत एव नहि, निष्पन्नं सदपि वा हास्यास्पदं जायते। आचार्यस्त्रिपाठि महाभागः राजशेखराद्याचार्यवत् जागरित प्रतिभामेव केवलं काव्यहेतुं मन्यते[10]। वामनाद्याचार्यवच्चेमां प्रतिभां संस्काररूपिणीमपि मन्यते। राधावल्लभो द्विधा प्रतिभां विभनक्ति-संस्काररूपिणी, जागरिता चेति[11]। अत्र स जागरणहेतुरूपेण वामनाभिमत-गुरूपदेश-लोकशास्त्रावेक्षण-काव्याभ्यास-काव्यगोष्ठ्यादिहेतून् स्वीकरोति। इत्थं यद्यपि राधावल्लभः राजशेखराद्याचार्यवत् प्रतिभामेव केवलं काव्यहेतुं मन्यते, तथापि वामनोक्तान्यकाव्यहेतून् सः प्रतिभायाः सहायकरूपेण प्रत्यपादयत्।

काव्यभेदः - काव्यशास्त्राचार्याः काव्यभेदानपि प्रामुख्येन द्विशः निरदिशन्-1. काव्यविधामाधृत्य 2. काव्यार्थं चाधृत्य। एतदतिरिक्तं केचनाचार्याः भाषामाधृत्यापि वर्गीकरणं निर्दिशन्ति। आचार्यभरत-भामह-दण्डि-वामनविश्वनाथप्रभृतय आचार्याः काव्यविधामाश्रित्य काव्यभेदानुपास्थापयन्। काव्यविधामाश्रित्य दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यं द्विधा भवति। अनयोरेव दृश्य- श्रव्यकाव्यभेदयोर्भेदोपभेदानां विशदविवेचनं सर्वाचार्याः स्वकीयग्रन्थेषु प्रास्तुवन्। आचार्यवामनोऽपि श्रव्य काव्यविद्यां गद्य-पद्य भेदेन द्विधा व्यभजत्[12]। अनयोर्गद्य-पद्ययोरेव भेदोपभेदानां विशदविवेचनं स स्वीयग्रन्थे प्रत्यपादयत्। ध्वन्याचार्याः अर्थमाधृत्य काव्य-विभाजनमकुर्वन्[13]। आनन्दवर्धनः द्विविधमर्थं व्यज्ञापयत्-वाच्यार्थः प्रतीयमानार्थश्च[14]। अनयोरेवार्थयोः प्राधान्याप्राधान्ये अवलम्ब्य ध्वन्याचार्याः काव्यस्य भेदोपभेद-विवेचनमकुर्वन्। काव्यशास्त्रपरम्परायाः पूर्वाचार्याः काव्यार्थालम्बनेन त्रिविधांश्चतुर्विधांश्च काव्यभेदान् अकुर्वन्। तथैवाधुनातना अप्याचार्याः काव्यभेदविषयिणीः स्वकीयाः मौलिकोद्भावनाः प्रास्तुवन्। आचार्यो राधावल्लभोऽभिनवकाव्यालंटारसूत्रे आदौ काव्यार्थालम्बनेन काव्यस्य चतुरो भेदानकल्पयत्-उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अवरं च[15]। अत्र पूर्वाचार्याणां मतानि समाहरंस्त्रिपाठिमहाभागः उदाहरणरूपेण राजेन्द्र मिश्र- रेवाप्रसादद्विवेदप्रभृत्याचार्यकृतग्रन्थान् समुदाहरत्। काव्यार्थाधारित-काव्यभेदप्रतिपादनानन्तरं त्रिपाठिमहोदयः काव्यविधाम् अप्याधृत्य काव्यभेदानकरोत्। काव्यविधामालम्ब्यापि सः द्विधा काव्यभेदमकरोत्-पाठ्यं दृश्यं च। इममेव ‘‘पाठ्यम्’’ प्राच्या वामनाद्याचार्याः श्रव्यसंज्ञयाऽभिहितवन्तः। इत्थं त्रिपाठिमहोदयः काव्यभेद-विवेचन प्रसङ्गे ध्वन्याचार्याणां वामनस्य च सर्वेषां मतानां समानरूपेण समाहारमकरोत्। उपर्युक्तोभयरूपेण काव्यभेद विवेचनानन्तरं त्रिपाठिमहोदयः काव्यविधा विभाजनाश्रयेणापि काव्यभेदान् निरदिशत्। तदनुसारं भाषाऽर्थचमत्कृति-कवि दृष्टि-बन्ध-रीतीन्द्रियाण्याधृत्य काव्यविधा विभाजनं भवति।

शब्दशक्तयः - संस्कृत साहित्ये शब्दार्थ विवेचनं सविस्तरं कृतमस्ति। मम्मटस्त्रिविधान् शब्दांस्त्रिविधांश्चार्थान् व्यज्ञापयत्। अतः शब्दार्थ काये काव्ये त्रिविधाः शब्दाभवन्ति-वाचक-लक्षक-व्यञ्जकाः[16]। एषां त्रयाणां शब्दानामर्था अपि क्रमशः वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थाश्चभवन्ति[17]। एषां त्रयाणां शब्दानां त्रिविधार्थ प्रतीतये एषु शब्देषु-अभिधा-लक्षणा -व्यञ्जनाभिस्तिस्रः शब्द-शक्तयोः भवन्ति। आचार्यवामनः शब्दशक्ति-विवेचन प्रसङ्गे मौनः। आचार्यरेवाप्रसाद द्विवेदिमतानुसारं शब्दार्थौ, उभौ ज्ञानमूलौस्तः, तथा शब्दः, अर्थः, उभयोश्च पारस्परिकसम्बन्धः-इमे त्रयोऽपि काव्ये ज्ञानात्मकरूपेण व्याप्नुवन्ति। प्रायः सर्व एवाचार्याः शब्दार्थयोः सह भागितायामेव काव्यावस्थितिं प्रमाणयन्ति। अस्मिन्नेव क्रमे राधावल्लभः परस्परस्पर्धाधिरोहमाधृत्य शब्दार्थयोः द्वन्द्वात्मक सम्बन्धमङ्गीचकार। स मन्यते-अङ्गाङ्गिभावोपकार्योपकारकभाव-परस्परस्पर्धाधिरोहश्चेमे त्रयो वाच्याद्यर्थाणां सहभावावस्थाः सन्ति। इत्थं त्रिपाठिमहोदयः शब्दानां चार्थाणां पारस्परिक-सहभागितामेव प्रत्यपादयत्। पूर्वाचार्याः पद-पदार्थयोः सम्बन्धं शक्तिरूपेणाप्रथयन्। इमां शक्तिमेव सटेतमपि कथयन्ति विद्वांसः। त्रिपाठि महोदयः एकमात्रं शब्दव्यापारं ‘‘सङ्केतं’’ मन्यते। असौ विद्वान् पूर्वाचार्यप्रतिपादिताः अभिधादितिस्रः शब्दशक्तीः अस्यैव सङ्केतव्यापारस्य भेदममन्यत। त्रिपाठिमतानुसारमिमा अभिधादिवृत्तय एव

अधिभौतिकादीस्त्रींल्लोकानुन्मीलयन्ति। वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थानां समवाय एव काव्यश्रैष्ठ्यस्य साधकमस्ति। काव्ये सर्वविधेष्वर्थेष्वलङ्कारो भवति। काव्ये व्यक्तानामाधिभौतिकादीनां तिसृणां सत्तानां पारस्परिक सम्बन्धः पद-पदार्थ-वाक्यार्थवद् भवति।

शास्त्रसंक्रान्तिः - राधावल्लभः काव्ये त्रिविध-शास्त्रसङ्क्रान्तिं मन्यते-समवेता आरोपिता, बलादानीता च[18]। राजशेखरस्यमतम्-''काव्यानि शास्त्रपूर्वकाणि भवन्ति''[19]- इति त्रिपाठिमतौ न युक्तिसङ्गतम्। सूत्रकारमतेन शास्त्राण्येव काव्यपूर्वकाणि भवन्ति। अत एव राजशेखरकृतः शास्त्रकविनामकभेदस्त्रिपाठि मतेनायुक्तिसङ्गतः। यतो हि शास्त्रस्य रचयिता शास्त्रकारो भवति, न तु शास्त्रकविः। राधावल्लभः काव्यशास्त्रयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावसम्बन्धं मन्यते। सः स्वत एव प्रामाणिकं मन्यते। काव्यप्रमाणनाय इतरदर्शनस्य वा शास्त्रस्य प्रामाण्यं नापेक्षते।

अलङ्कारः - अलङ्कारवादि-विद्वदाचार्याः काव्येऽलङ्कारतत्वस्य प्राधान्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथा च काव्येऽन्यानि यावन्ति सौन्दर्याधायक-स्मरणीय तत्वानि सन्ति, तेषां परिगणनमलङ्कारेषु कृतमस्ति। आचार्यो भामहः रसभावादीनलङ्कारेष्वेव समाविश्य काव्येऽलङ्कारस्य अङ्गित्वं रसस्य चाङ्गत्वं प्रत्यपादयत्। वामनोऽलङ्कारवादस्य स्थाने रीतिवादमस्थापयत्, अलङ्कारस्य च स्थाने गुण प्राधान्यमङ्गीचकार। सः अलङ्कारपरिभाषामधिकव्यापिनीमुदारां चाकरोत्, अलङ्कारं च सौन्दर्यस्य पर्यायम् अमन्यत। सः मन्यते-काव्ये शोभा गुणैर्जायते, किन्तु शोभातिशयोऽलङ्कारैर्भवति। सः गुणालङ्कार संस्कृते शब्दार्थसमवाये काव्यत्वमङ्गीकरोति-''काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते''[20]। इत्थमलङ्कारवादिनः आचार्याः काव्यशरीरे सौन्दर्योत्कर्षस्य चमत्कारस्य चाधानं कुर्वन्ति। अनेन सौन्दर्येण चमत्कारेण वा मण्डिते एव काव्ये काव्यत्वं मन्यन्ते। सौन्दर्यं बिना काव्यं न भवति। इमामेवावधारणामाश्रित्य अलङ्कारवादिनोऽलङ्कारं काव्यस्य अपरिहार्यमात्मतत्वमिति प्रतिपादयन्ति। परन्त्वानन्दवर्धनस्तदुत्तरवर्तिनो ध्वन्याचार्याश्च काव्येऽलङ्कारमहत्वं तिरस्कुर्वन्तोऽलङ्कारस्यानिवार्यतां काव्ये न मन्यन्ते। इमे आचार्याः काव्येऽलङ्कारान् बाह्योत्कर्षाधायकान् मन्यमानाः शरीरे कटक-कुण्डलवत् प्रत्यपादयन्। इत्थं ध्वन्याचार्याः काव्येऽलङ्काराणां शोभाधायकत्वं तु मन्यन्ते, परन्त्वलङ्कारं काव्यस्यात्मतत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। अस्मिन् क्रमे राधावल्लभोऽलङ्कारं काव्यात्मतत्वमुद्घोष्य अलङ्कारवादावधारणां पुनरूज्जीव्य प्रतिष्ठापयितुं प्रशस्तमध्यवसायमकरोत्। त्रिपाठिमहोदयो दिशति-''अलङ्कारः काव्यजीवनम्''[21] त्रिपाठिमतानुसारं काव्येऽलङ्काराणामविभाज्यताऽनिवार्यता च सिद्धैव, तर्हि अलङ्कारलक्षणानुसारं तत्र आधिभौतिकादिलोकत्रयाणामुन्मीलनं तु भवितव्यमेव। इदं तु सम्भवति, यत्कचित् कस्यांचित्कृतौ केवलमाधिभौतिकस्य, क्वचित्तु केवलमाधिदैविकस्य, क्वचिच्च केवलमाध्यात्मिकविश्वस्य प्राधान्यं प्रतीयमानं स्यात। इत्थं सोऽलङ्कारमेव सकल-कलासु, सर्वविध-साहित्ये च सार्वकालिकं, सार्वदेशिकं सर्वङ्कषं च मानदण्डं मन्यते। अलङ्कारो न केवलं काव्यजगतो मानदण्डः, अपितु काव्यमार्गस्य सकल पद्धतीनां नियामकोऽप्यस्ति। एतत्सिद्धान्तपोषणाय त्रिपाठिमहोदयः प्रमाणस्वरूपं वामनमतं-'सौन्दर्यमलङ्कारः' इत्यवधारणामुद्धरति। तदृष्ट्या वामनोऽपि काव्ये विद्यमानं सकलसौन्दर्यं, सौन्दर्यप्रक्रियां चालङ्काररूपिणीमेव मन्यते। तेन ध्वनिगुण-रीति-बन्ध-

वक्रोक्त्यादिसकलकाव्यानामलङ्कारवर्तिता सिध्यति। राधावल्लभोऽलङ्कारस्य सर्वव्यापकतां साधयन् पोषयति-'अलङ्कारस्य महाविषयत्वे ध्वनेरप्यन्तर्भावो भवति'। अतः काव्ये पूर्णताऽलङ्कारेण हि सम्पद्यते- ''अलम्भावस्तु पूर्णता''[22]। काव्यस्य सकलकोटयोऽपि तत्रैवान्तर्भवन्ति। इत्थं त्रिपाठिमहोदयः काव्येऽलङ्कारमात्मरूपेण प्रतिष्ठापयति। यद्यपि ध्वनिवादिनोऽलङ्कारं सतर्कविवेचनैः सौन्दर्याधायकतत्वरूपेणैव स्वीकुर्वन्ति, तथा चालङ्कारं काव्याङ्गमेव मन्यन्ते। राधावल्लभोऽलङ्कारं द्विधा मन्यते- आभ्यन्तरो बाह्यश्च[23]। प्राच्याचार्याणामिदं वैशिष्ट्यं यत् ते बहुधाव्याकृतमनुपेक्ष्य नूतनतत्वोन्मीलनं कुर्वन्ति, किन्तु त्रिपाठिमहोदयः पूर्वविवेचितालङ्कारावधारणां नूतनायामैः सह पुनः प्रतिष्ठापयति। अत्रानेकमौलिकपरिवर्तनान्यपि दृश्यन्ते। आचार्यवामनः शब्दार्थालङ्कारभेदरूपेणालङ्काराणां स्थूलविभाजनमकरोत्[24]। सूत्रकारकृताः आभ्यन्तरभेदाः यथा- प्रेमाऽऽजाद- विषादनादिसंज्ञाभिः स्पष्टमिदं यत् स रसस्य, काव्यात्मत्वं निरस्य अलङ्कारेषु तदन्तर्भावमकरोत्। अत्र उदात्ते वीररसस्यप्रेमाह्लादयोः शृङ्गारस्य, हास्यस्य च, विषादने करुणरसस्य, विभीषिकायां बीभत्सभयानकयोः, व्यङ्ग्ये हास्यस्य, कौतुकेऽद्भुतरसस्य, अहङ्कारे रौद्रस्य, साक्ष्ये च शान्तरसस्य अन्तर्भावः कृतः। अत्र आह्लादे हास्यस्य व्यङ्ग्येऽपि च हास्यरस- समावेशो भ्रमं जनयति। व्यङ्ग्यं काव्यशास्त्रस्य बहुचर्चितः शब्दः। साम्प्रतं पारम्परिकोऽध्येता-''वाच्योऽर्थोऽभिधाबोध्यो, लक्ष्यो लक्षणया मतः, व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः'' इत्यवधारणाया अभ्यसनशीलः। अतो व्यङ्ग्य शब्दो व्यञ्जनासम्पृक्तत्वादलङ्काररूपेण न सहजतया गम्यः। आचार्यत्रिपाठिमहोदयस्य आभ्यन्तरालङ्कारेषु पूर्वाचार्योक्तरसाणां स्थायि भावानां नामान्तरणं कृतमस्ति। एवमेव बाह्यालङ्कारोऽपि परम्परायाः स्वीकारपरिहाराभ्यां समन्वितोऽस्ति। बाह्यालङ्कारेषु राधावल्लभोऽन्यथाकरणच्छायाऽतिशयासङ्गति-विषम-द्वन्द्व- तानवप्रभृत्यनेकनवीनालङ्काराणां विवेचना कृताऽस्ति, ये वामनादिपूर्वाचार्याणां ग्रन्थे न सुलभाः। शेषालङ्.काराणां यमक- श्लेषोपमा-रूपकादीनां विवेचनं पूर्वाचार्यवत् त्रिपाठिना स्वग्रन्थे कृतम्।

कविव्यापारः - अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्ररचयिता कविव्यापारनिरूपणप्रसङ्गे रीतीणां विवेचनामकरोत्। आचार्यवामनः रीतितत्वं काव्यात्मरूपेण प्रत्यपादयत् विशिष्ट पदरचनां च रीतिं प्रत्यपादयत्। सः वैदर्भि-गौडी-पाञ्चालीतिनामभिस्त्रीन् रीतिभेदानवर्णयत्। यत्तु त्रिपाठिमहोदयः व्यास-बिडम्बन-चेतनाप्रवाह-वार्तालापसंज्ञिकानां चतसृणां नवीनरीतीणां स्थापनामकरोत्[25]। किन्तु रीतिस्वरूपं निर्धारयन् राधावल्लभोऽपि वामनवदेव पदविशेषगतव्यापारं हि रीतिममन्यत। व्यासादिरीतीनां सम्यग्विवेचनेनेदं सुस्पष्टं भवति यद् यद्यपि त्रिपाठिमहोदयोऽर्वाच्य काव्यरचयितृणां रचनासु आसां रीतीणामनुसन्धानं विधाय इमाः प्रावर्तयत्, तथापि तस्य मूलावधारणा वामनादिपूर्वाचार्याणां काव्यग्रन्थेषु निहितास्ति।

आधुनिकसाहित्यम् - राधावल्लभमहाभागः अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे वर्तमान-साहित्यविधानामपि भेद-प्रभेदानां निरूपणमकरोत्। एष प्राच्याचार्योक्त श्रव्यकाव्यस्थाने ''पाठ्य'' शब्दप्रयोगमधिकसमीचीनतरममन्यत। तन्मतेन काव्यस्य पाठं बिना श्रवणं वा काव्यानुभूतिरपि नैव भवितुम् अर्हति। अतः श्रव्यस्य स्थाने पाठ्य शब्दप्रयोग एव युक्तिसङ्गतः, श्रेयांश्च। पद्यविधासु गजल-

गीति-मुक्तच्छन्दः प्रभृतिविधानां, गद्यभेदेषु च निबन्धालोचनाकथोपन्यास-यात्रावृत्तान्तप्रभृति नवीन विधानां विवेचनं कृतमस्ति।

इत्थं प्रकारेण अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रग्रन्थः पारम्परिकाधुनातनकाव्यशास्त्रीयचिन्तनपरिनिष्ठित ग्रन्थोऽस्ति। अयं ग्रन्थः भारतीयकाव्यानां पाश्चात्यकाव्यानां च संस्कृतरचितोऽभिनवो मानदण्डोऽस्ति। त्रिपाठिमहोदयोऽत्र भारतीयकाव्यानि पाश्चात्यकाव्यानि चोदाहरणरूपेण प्रास्तौदपि। आधुनिकसंस्कृतसाहित्य परिभाषणे यद्यपि भारतीयकाव्यशास्त्रं समर्थमस्ति तथापि नूतन भावावबोधनाय, अभिनवरचनानां परिभाषणाय परीक्षणाय च ये मानदण्डाः अपेक्षिताः ते सर्वे राधावल्लभमहोदयेन ''अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्'' ग्रन्थरचनया उपस्थापिताः। अनेककाव्यशास्त्रीय पारम्परिकावधारणासु राधावल्लभः परिवर्तनमकरोत्। पुरातन-सूत्रशैल्यां लेखनं, किन्तु विचाराणां नूतनता अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रग्रन्थस्य अनुपमं वैशिष्ट्यमस्ति।

सन्दर्भाः -

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्-1.1.1
2. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'-काव्यालङ्कार: 1.16
3. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'- काव्यालङ्कारसूत्रम्-2.6
4. तदेव-1.2
5. अभि0का0सू0-1.1.3
6. राधावल्लभ की समीक्षा परम्परा पृ 150
7. अभि0का0सू0-1.2.1
8. काव्यालङ्कारसूत्रम्-1.5
9. अभि0का0सू0-1.2.2
10. तदेव-1.3.1
11. तदेव वृत्ति
12. काव्यालङ्कारसूत्रम्-1.3.21
13. ध्वन्यालोकः-1.2
14. तदेव
15. अभि0का0सू0 1.4.2
16. काव्यप्रकाशः- द्वितीय अध्याय, सूत्रसंख्या ५
17. तदेव 2.6
18. अभि0का0सू0-1.6.1
19. काव्यमीमांसा-द्वितीय अध्याय पृ0 4
20. काव्यालङ्कारसूत्रम्-1.1
21. अभि0का0सू0-2.1.1
22. तदेव-2.3.1
23. तदेव-2.4.1
24. काव्यालङ्कारसूत्रम्- वृत्ति पृ0 121
25. अभि0का0सू0-2.2.7-10

संस्कृतसाहित्यवाङ्मये रूपकपरम्परा

• डॉ. रुद्रनारायणनरसिंहमिश्रः*

शोधसारः - संस्कृतवाङ्मयः सत्यशिवसुन्दररूपात्मकः। संस्कृतवाङ्मये उपदेशास्त्रेषु काव्यान्तर्गतरूपकं कान्तासम्मितैरूपायैर्वितीर्यते। आचार्यो विश्वनाथः साहित्यदर्पणे रूपकं परिभाषते- दृश्यकाव्यं रूपकं कथ्यते। यतो ह्यस्य दृश्यकाव्यस्य प्रदर्शकाः नटाः अत्र चित्रितचरित्राणां रूपाण्यात्मन्यारोपयन्तो दृश्यते। अत एवेदं रूपकमिति कथ्यते। नाट्याचार्याणां रूपकसम्बन्धिताभिप्रायं स्वीकृत्य संस्कृतसाहित्यवाङ्मये रूपकपरम्परा कीदशी इति शोधपत्रेऽस्मिन् मया प्रतिपादिता।एषा परम्परा शिवतमं सन्देशं सम्प्रेषयति। पात्राणामभिनयेन सहृदयेभ्यो आनन्दपूर्वकं प्रेरकसन्द्रशं प्रयच्छति।

बीजशब्दाः – रूपकम्, उपरूपकम्,

संस्कृतवाङ्मयस्त्वस्त्येव प्राधान्येनाशिव-क्षतिकारकः। संस्कृतवाङ्मयः सत्य-शिव-सुन्दररूपात्मकः। संस्कृतवाङ्मये उपदेशस्त्रिभिः-प्रभुसम्मित-सुहृत्सम्मित-कान्तासम्मितैरूपायैर्वितीर्यते। तत्र प्रभुसम्मिततोपदेशः प्रायो नीरसः, कटुभेषजवत् कष्टेन ग्राह्यो भवति। द्वितीयो विधिः सुहृत्सम्मितोपदेशः प्रथमापेक्षयाऽधिकं सुरुचितरोऽत एव सुग्राह्यतरो भवति। किन्तु तृतीयो विधिः कान्तासम्मितोपेदेशो मधुरतमोऽनायासं सहजतया नैसर्गिकरूपेण सुग्राह्यतमो भवति। अत एव काव्यप्रकाशे मम्मटाचार्यः कान्तासम्मिततयोपदेशं महत्वपूर्णं काव्यप्रयोजनं मन्यते।[1] मम्मटमतेन कान्तासम्मिततयोपदेशो हि काव्यं भवति। तत् काव्यं द्विधा श्रव्यं दृश्यं च। महाकाव्य-खण्डकाव्यगीतिचम्पूकाव्यादीनि पाठ्यानि श्रव्याणि च भवति। काव्यस्य- द्वितीयप्रकारोऽस्ति दृश्यकाव्यम्। दृश्यकाव्यं तद् भवति यदभिनयेन प्रदर्श्यते। दृश्यकाव्यस्यैकम् अपरं नामास्ति रूपकमिति। आचार्यो विश्वनाथः साहित्यदर्पणे रूपकं परिभाषते- ‘‘दृश्यकाव्यं रूपकं कथ्यते, यतो ह्यस्य दृश्यकाव्यस्य प्रदर्शकाः नटाः अत्र चित्रितचरित्राणां रूपाण्यात्मन्यारोपयन्तो दृश्यते[2], अत एवेदं रूपकमिति कथ्यते। इदं तात्पर्यं यच्चाक्षुषप्रत्यक्षतया यद्रसात्मकवाक्यरूपं काव्यं दृश्यमिति वक्तु शक्यं, तदेव तदभिनेतरि अभिनेयरामादिचरितरूपेण आरोप्यते इत्यत एव तद् रूपकमुच्यते। दशरूपककारो धनञ्जयोऽप्याह-

अवस्थानुकृतिर्यन्नाट्यं तदेव रङ्गमञ्चेऽभिनीतं सद् दृश्यमाणत्वाद् रूपमित्युच्यते।[3] नाट्यं हि खलु रङ्गमञ्चे नटैरभिनीयते, तच्च दर्शकैर्दृश्यते अत एव नाट्यं दृश्यं भवति। यथाऽस्माभिर्नील-पीत-रक्तादयो

* सहायकाचार्यः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, लखनऊपरिसरः

वर्णाः दृश्यन्ते तथा च चक्षुभ्यां दृश्यमाणविषयो रूपमित्युच्यते तथैव चक्षुर्ग्राह्यत्वात् तन्नाट्यं रूपमित्यप्युच्यते। अनेके विद्वन्नाट्यशास्त्रकाराः स्पष्टं प्रतिपादयन्तः प्राहुः- नाटके प्रयुक्तो यो वाक्यार्थः पदार्थस्तस्याभिनयात्मकं यन्नटकर्म तदेव नाट्यं रूपं, तदेव च नटे रामाद्यवस्थाऽऽरोपेण वर्तमानत्वाद् रूपकमित्युच्यते। तन्नाट्यं वा रूपकं दशविधं भवति- नाटकं, प्रकरणं, भाणः, प्रहसनं, डिमः, व्यायोगः, समवकारः, वीथी, अङ्कः, ईहामृगश्च दशविधं रूपकं भवति।

विद्वन्नाट्यशास्त्रकाराः दशविधरूपकातिरिक्तम् अष्टादशविधान्युपरूपकाणि दृश्यकाव्यस्य भेदरूपेण स्वीकृतानि- नाटिका, त्रोटकं, गोष्ठी, सट्टकं, नाट्यरासकं, प्रस्थानम्, उल्लाप्यं, काव्यं, प्रेङ्खणं, रासकं, संलापकं, श्रीगदितम्, शिल्पकं, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, ह्लल्लीशकं, भाणिका चेति। इत्थं रूपेणेमान्यष्टादशविधान्युपरूपकाणि। एषामुपर्युक्तोपरूपकाणां सामान्यस्वरूपं नाटकस्वरूपदेववास्ति, तत्र न किमपि विशेषम्।

रूपकोपरूपकयोर्भेदो न काल्पनिकः। रूपकोपरूपकयोर्भेदे याथार्थ्यमनुसन्धातुं शक्यम्। रूपकं तु नाट्यमुपरूपकं च नृत्यम्। नाट्यं रसाश्रयं भवति, नृत्यं च भावाश्रयं भवति। रूपकं ''वाक्यार्थाभिनयात्मकमुक्तम् उपरूपकं च पदार्थाभिनयात्मकमुक्तम्। भरतमुनिकृतनाट्यशास्त्रे दशरूपकाणि तु सम्यक्तया निरूपितानि, किन्तूपरूपकाणां न कोऽपि निर्देशो लभ्यते। नाट्यशास्त्रे उपरूपक-विमर्शः सर्वादौ नाट्याचार्यकोहलेन प्रारब्धः। दशरूपकटीकाकारो धनिकः उपरूपकाणि नृत्यभेदं मन्यते-

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थान रासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्यस्तेऽपि भाणवत्।।[4]

अर्थात् रूपकाणि तु रसाश्रयकाव्यप्रबन्धा इत्यते नाट्यभेदाः उपरूपकाणि च भावाश्रयनृत्यभेदाः। रूपकाभिनये आङ्गिक-वाचिक-सात्विकाहार्यात्मकोऽभिनयो-ऽपेक्षितः, उपरूपके तु आङ्गिकाभिनयस्यैव आधिक्यं भवति।

उपरूपकभेदा अपि भिन्नभिन्ननाट्याचार्याणां दृष्ट्या विभिन्ना एव। भोजराजकृते श्रृङ्गारप्रकाशग्रन्थे चतुर्दश उपरूपकाणि वर्णितानि, शारदातनयकृते ''भावप्रकाश''ग्रन्थे अष्टादशोपरूपकाणां सोदाहरणं लक्षणानि प्रतिपादितानि सन्ति। साहित्यदर्पणकारस्याप्युपरूपकनिरूपणं शारदातनयकृतोपरूपकविवेकाधारित-मस्ति।

साहित्यदर्पणे आचार्यविश्वनाथेन अष्टादशोपरूपकाणां स्वरूपविवेचनमित्थं प्रतिपादितम्-

नाटिका- प्रथममुपरूपकं नाटिका, अस्याः वृत्तं कविकल्पितं, स्त्रीचरित्रप्राधान्यं बाहुल्यं च भवत्यत्र। नाटिकायाः नायको धीरललितो नृपो भवति। नायिकान्तः पुरसम्बद्धा राजकुलोत्पन्ना सङ्गीतकलानिपुणा भवेत्। सा नवानुरागवती कन्या भवेत्। कैशिकीवृत्तिर्भवति- सा नाटिकाऽस्ति। नाटिका चतुरङ्कयुक्ता भवति।[5]

त्रोटकम्- तदुपरूपकं भवति यत् पञ्च, सप्त, अष्टसु वा नवाङ्केषु परिसमाप्यते, अत्र देवमानुषसंमिश्रं वृत्तं वर्णितं भवति, प्रत्येकं विदूषकोपस्थितिपरिहार्या भवति। श्रृङ्गारोऽङ्गी रसो भवति।[6]

गोष्ठी- तदुपरूपकमस्ति यत्र नव वा दश साधारणश्रेणीकपुरुषचरित्रं वर्णितं भवति। अत्र कैशिकीवृत्तिर्भवति पञ्च वा षड् वा स्त्रीपात्राणि भवन्ति। अत्र कामशृङ्गारप्राधान्यं भवति। एकाङ्क एवास्या रचनाभवितुमर्हति।[7]

सट्टकम्- सट्टकमुपरूपकं प्राकृतभाषा-विरचितं भवति। अद्भुतरसोऽत्र प्राधान्येनाभिव्यंग्यो भवति। अस्य उपरूपकस्याङ्का जवनिकासंज्ञकाः भवन्ति।[8]

नाट्यरासकम्- तदुपरूपकं भवति, यदेकाङ्क एव विरचितं भवति। अस्मिन्नुपरूपके लयतालस्थितिरतिमहत्वपूर्णा भवति, उदात्तप्रकृतिको नायको भवति। उपनायकरूपेण यीष्मर्दोऽप्यावश्यकः। श्रृङ्गारसहितं हास्यरसोऽङ्गी रसः। वासकसज्जा नायिका भवति। अत्र दशलास्याङ्गानि, मुखनिर्वहणसन्धी- इत्येतत् सर्वं नाट्यरासकोपरूपके भवति।[9]

प्रस्थानकम्- प्रस्थानं तदुपरूपकं भवति, यत्र भृत्यः नायको भवति, हीनश्रेणीक उपनायको भवति, अत्र दासी नायिका भवति, कैशिकी-भारत्यौ वृत्ती च भवतः। प्रतिपाद्य-विषयोपसंहारो मदिराविनोदवर्णनेन भवति। द्वयोरङ्कयोरस्य रचना भवति। लयतालयुक्तसङ्गीतात्मकविलासो भवति प्राचुर्येण।[10]

उल्लाप्यम्- तदुपरूपकमस्ति सत्र कस्याप्युदात्तप्रकृतिकनायकस्य चरित्रं चित्रितं भवति। कथावस्तु दिव्यं भवति। एकाङ्क एवास्य रचना भवति। अस्मिन्नुपरूपके श्रृङ्गारहास्यकरुणरसानां योजना भवति। अत्र संग्रामास्त्रगीतवर्णनं भवति।[11]

काव्यम्- काव्यं तदुपरूपकं यत्र हास्यरसप्राधान्यं भवति। अस्मिन् उपरूपके आरभटीवृत्तिर्न प्रयुज्यते। एकाङ्केऽस्य रचना भवति। अत्र खण्डमात्रा द्विपदिका भग्नतालादिगीतभेदानामुपरञ्जनमावश्यकम्। नायकनायिकाः उदात्तप्रकृतिकाः भवन्ति। अत्र मुखनिर्वहणसन्धी प्रयुज्येते।[12]

प्रेङ्खणम्- प्रेङ्खणं तदुपरूपकं यत्र नायकस्तुच्छप्रकृतिको भवति। अत्र गर्भविमर्शसन्धी न भवतः। सूत्रधारोनापेक्षितः। एकाङ्करचितेऽस्मिन्नुपरूपके विष्कम्भकप्रवेशकौ न भवतः। अत्र द्वन्द्वयुद्धं सरोषभाषणं चानिवार्यम्। सर्ववृत्तयोऽत्र विरच्यन्ते।[13]

रासकम्- रासकं तदुपरूपकं पञ्चाभिनेतृपात्राणि भवन्ति। मुखनिर्वहणसन्धी प्रयुज्येते। भाषाविभाषयोः प्रयोगो भवति। भारतीकैशिक्यौ द्वे वृत्ती भवतः। सूत्रधारहीनमेकाङ्करचितं चेदमुपरूपकम्। अत्र वीथ्यङ्गयोजनाऽवश्यकी। नृत्यगीतादिकलासापेक्षं भवतीदम् उपरूपकम्। अत्र काचित्प्रसिद्धरमणी नायिका मूर्खपुरुषश्च नायको भवति। उदात्तभावविन्यासोऽत्रोत्तरोत्तरं क्रियते।[14]

संलापकम्- त्रिचतुरङ्करचितेऽस्मिन्नुपरूपके पाषण्डनायकः, श्रृङ्गारकरुणवर्जितः कोऽप्यन्यरसोऽङ्गीरसः, नगरोपरोधच्छलसंग्राम-भ्रमसंभ्रमादिवर्णनादिबाहुल्यं भवति। अत्र भारती कैशिक्यौ न भवतः।[15]

श्रीगदितम्- एकाङ्करचितस्यास्योपरूपकस्य कथावस्तु प्रख्यातं भवति, प्रख्यात-धीरोदात्त-प्रकृतिर्नायकः, प्रख्याता च नायिका भवति। गर्भविमर्शसन्धी न भवतः।[16]

शिल्पकम्- शिल्पकाख्यमुपरूपकम् अङ्कवृत्तिचतुष्टययुक्तमस्ति। अत्र शान्तहास्यवर्जिताः सर्वे रसाः अभिव्यज्यन्ते। ब्राह्मणः नायको भवति। उपनायको हीनो भवति, श्मशानादेरत्र वर्णनञ्च भवति। अस्मिन् उपरूपके सप्तविंशाङ्गानि भवन्ति।[17]

विलासिका- श्रृङ्गाररसबहुलमेकाङ्कं भवति विलासिकोपरूपकम्। विलासिकोपरूपके दशलास्याङ्गानां योजना भवति। अत्र विदूषक-विट-पीठमर्द-चरित्रचित्रणमपेक्षितं भवति। अत्र गर्भविमर्शसन्धी न भवतः। नायकोऽधमप्रकृतिकपुरुषो भवति। उपरूपकमिदं स्वल्पवृत्तं सुनेपथ्यविधानं च भवति।[18]

दुर्मल्लिका- इदमुपरूपकं चतुरङ्करचितं भवति। अत्र कैशिकीभारत्यौ वृत्ती भवतः। गर्भसन्धिरत्र न भवति। नायकः न्यूनो भवति, अस्योपरूपकस्य प्रथमोऽङ्कस्त्रिनालिर्भवति, विविध-विटक्रीडापरिपूर्णं भवति, द्वितीयाङ्क, पञ्चनालिर्विदूषको विलासवांश्च भवति। तृतीयाङ्कः षण्णालिकः विलासितपीठमर्दयुक्तो भवति। चतुर्थाङ्को दशनालिकः नायकक्रीडायुक्तो भवति।[19]

प्रकरणिका- प्रकरणी तदुपरूपकमस्ति यन्नाटिकरूपम् अस्ति। अस्मिन् उपरूपके नायकरूपेण सार्थवाहो भवति तथा च नायिकारूपेण तत्सजातीयवंशजा स्त्री भवति।[20]

हल्लीशः - हल्लीशस्तदुपरूपकमस्ति यदेकाङ्कं भवति, यस्मिंश्चोपरूपके सप्त अष्ट वा दश स्त्रीपात्राणि भवन्ति, नायकः उदात्तवाक्, कैशिकीबाहुल्यं, मुखनिर्वहणसन्धीयस्मिंश्च रागताललयादि प्राचुर्यं भवति, तद् हल्लीशः।[21]

भाणिका- यस्मिन्नुपरूपके श्रेष्ठनेपथ्यविधानम् अपेक्षते, मुखनिर्वहणसन्धी भवतः, कैशिकीभारत्यौ वृत्ती भवतः, एक एवाङ्को भवति, हीननायकः, उदात्तनायिका भवति, यस्योपरूपकस्य उपन्यासविन्यासविबोधसाध्वस- समर्पण-निवृत्ति- संहारा इति सप्ताङ्गानि भवन्ति। एतेषां सप्तनामप्यङ्गानां पृथक् पृथगभिप्रायाः भवन्ति। तद् भाणिकोपरूपकम्।

इमान्यष्टादशसंस्कृतोपरूपकाणि सन्ति। एतेषु सर्वेष्वष्टादशोपरूपकेषु-गोष्ठी नाट्यरासकोल्लाप्यकाव्य- प्रेङ्खण-रासक-श्रीगदित-विलासिका-हल्लीश भाणिकेति दश उपरूपकाण्येकाङ्काकानि स्वीकृतानि सन्ति। यद्यप्येकमप्युपरूपकमेकाङ्कि-पदेन नहि वर्णितम्। किन्तु यान्युपरूपकाण्येकाङ्कानि वर्णितानि, तान्येवैकाङ्कि-पदेन व्यवहर्तुं शक्यानि।

एतदतिरिक्तं पूर्वोक्तदशरूपकेष्वपि कानिचिदीदृशानि रूपकाणि सन्ति, येषां रचना एकाङ्क एव भवति। ईदृशेषु रूपकेषु भाणव्यायोगाङ्कप्रहसनसंज्ञकानि चत्वारि रूपकाणि सन्ति।

एतेषामेकाङ्करूपकोपरूपकाणामनुशीलनेनैतज्ज्ञायते यद् रूपकोपरूपकाणां नामानि पूर्वकाले तेषामान्तरिकगुण- वैशिष्ट्याद्याधारितानि भवन्ति, नहि तु- अङ्काधारदृष्ट्या। यथा भाणरूपकमेकाङ्कं त्वस्ति, किन्तु तन्नाम अङ्काधारितं नास्ति। ''भाण''रूपकस्य व्युत्पत्तिः साहित्यदर्पणविमर्शकारेणेत्थं प्रस्तुता- ''भण्यते'' व्योमोक्त्या (आकाशभाषितेन) नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽनेनेति ''भाणः''।[22] अर्थाद् भाण इति तद्रूपकमस्ति, यस्मिन् रूपके नायकः आकाशभाषितेन स्ववृत्तं परवृत्तमपि च प्रकाशयति। ''भाण'' इति शब्दो शब्दार्थाद् भण धातोर्निष्पद्यते।

व्यायोगः - एवमेव व्यायोगोप्येकोकाङ्करूपकं तदपि गुणमाधृत्यैव व्यायोग नाम्ना ख्यापितम्। विमर्शकारेण व्यायोगस्य व्युत्पत्तिरित्थं प्रस्तुता-

विशेषेण आ= समन्ताद् युज्यन्ते कार्यार्थं- संरभन्तेऽत्रेति व्यायोगः''। अयं व्यायोग शब्दः वि+आ उपसर्गपूर्वाद् युज् धातोर्निष्पन्नः।[23]

अङ्कस्तृतीयमेकाङ्करूपकमस्ति- अङ्कनामकरूपकस्य शुद्धं शास्त्रीयं नामास्ति-

उत्सृष्टिकाङ्कः- अङ्क उत्सृष्टिकाङ्को वा तद्रूपकम्- यदेकाङ्क एव विरच्यते। अत्र साधारणपुरुषा नायकरूपेणोपस्थाप्यन्ते। अत्र नारी-विलाप-वर्णनप्राचुर्यात् करुणरसोऽङ्गीरसो भवति। अत्र प्रख्यातमितिवृत्तं नाट्यकारकल्पनया सविस्तरं वर्ण्यते। अत्र सन्धिवृत्तियोजना साङ्गं भाणरूपकवद् भवति। अत्र युद्धनियुद्ध-जय-पराजया वाचा प्रकाश्यन्ते। अत्र निर्वेदबहुलवचसामपि बाहुल्यं भवति।[24]

अनेके नाट्याचार्या अस्य रूपकस्य नाम ''उत्सृष्टिकाङ्क'' इत्यधिकं युक्तियुक्तं मन्यन्ते। तेषां सम्मतिरस्ति- अङ्कस्तु नाटकादिरूपकप्रबन्धानां सर्वसम्मतान्त-र्विभागोऽस्ति, अतोऽङ्कनाम्ना रूपकभेदप्रकाशनं नोचितम्। अतः उत्सृष्टिकाङ्क इति नाम सर्वथा युक्तियुक्तम्। उत्सृष्टिकाङ्क इति नामौचित्यं प्रतिपादयन् व्युत्पत्तिकारः प्राह-

यस्य रूपकप्रकारस्येतिवृत्तादिरचना सृष्ट्युत्कान्ता (अन्यरूपकभेदविपरीता) भवति तद् रूपकमुत्सृष्टिकाङ्क इति प्रोच्यते।[25] इत्थं रूपेणैतदुक्तं भवति यत् पूर्वकालेऽङ्काधारितानि रूपकनामानि न हि भवन्ति स्म, अपितु तदन्तर्गतगुणरूपाधारितानि भवन्ति स्म।

प्रहसनम्- प्रहसनं तद्-रूपकमस्ति यस्मिन् सन्धि-सन्ध्यङ्ग-लास्याङ्गाङ्कादिरचना भाणरूपकवद् भवति। नीचप्रकृतिनायकसम्बद्धमितिवृत्तं कविकल्पितं भवति। अत्र आरभटी, नहि विष्कम्भकप्रवेशकौ भवतः। हास्यमङ्गीरसो भवति।[26]

एकाङ्करूपकसृष्टिपरम्परा संस्कृत-नाट्यसाहित्ये पुरातनकालादेवास्ति। एतेष्वेकाङ्कसंस्कृतरूपकेषु नाट्यशास्त्रानुकूलं सन्धिवृत्तियोजना, तदङ्गयोजनादिकं निर्धार्यते स्म।

संस्कृतभाषा-साहित्याध्ययनाध्यापने विलुप्तप्राये जाते सति लोके हिन्दीभाषासाहित्याध्ययनाध्यापने लोकाभिरुचिस्तत्प्रचार-प्रसारश्चावर्धत। तदानीं ये हिन्दीसंस्कृतोभयभाषाभिज्ञास्ते कान्तासम्मिततयोपदेशाय, लोकानुरञ्जनाय, आमोदनप्रमोदनाय संस्कृतसाहित्यादेव हिन्दीसाहित्ये नाटकादिरूपकप्रणयनमेकाङ्कनाटकप्रणयनं चोदाहरन्। इदं तु तत्र वैशिष्ट्यं यद् हिन्द्यां यान्येकाङ्क नाटकानि प्रणीतानि प्रचलितानि तान्यङ्काधारितनाम्ना ''एकाङ्कि''नाटकरूपेणैव प्रचलितानि।

हिन्दीसाहित्यकारविद्वांसः हिन्दीभाषा-साहित्ये एकाङ्किनाट्यप्रणयन-प्राशस्त्यायैकाङ्किनाट्यतत्त्वसमावेशं निकषरूपेण निरधारयन्। तान्येकाङ्कि नाट्यतत्त्वानि, यथा- एकाङ्किपरिभाषा, कथावस्तु, पात्र-योजना, सम्वादाः, भाषाशैली, संघर्षोऽन्तर्द्वन्द्वं वा संकलनत्रयम् (देश-काल-स्थान-कार्यादीनामैक्यम्)। एतेषां तत्त्वानां यथाक्रमं विवेचनम्-

हिन्दीसाहित्यस्य विद्वान् साहित्यकारोऽवस्थ्युपाह्वः सद्गुरुशरणो मन्यते- '''एकाङ्कि-नाटकं सुनिश्चितलक्ष्यं भवति। केवलमेकैव घटना, परिस्थितिः समस्या वा प्रबला भवति, सैवैकाङ्किनाटके सशक्तरूपेणोपस्थाप्यते''। डा. दशरथओझा अप्यस्यैव मतस्य पोषकः समर्थकश्चास्ति। अपरः एको विद्वान् डा. रामचरणमहेन्द्रो मन्यते- ''मानवजीवनस्यैकस्यैव पक्षस्योद्दीपनक्षणस्य वा चित्रमस्त्येकाङ्कि नाटकम्।[27] अनेके पाश्चात्यविद्वांसोऽप्येकाङ्कि-स्वरूपपरिभाषामपोषयन् प्रत्यपादयंश्च। सर्वासामेकाङ्कि

परिभाषाणां समीक्षणेन निष्कर्षरूपेणैवं वक्तुं शक्यते- प्रत्येकमेकाङ्कि नाटकस्य मूलप्रतिपाद्यविचारः, समस्या वा एकं सुनिश्चित-सुकल्पितलक्ष्यमेकामेव महत्वपूर्णघटनां विशेषपरिस्थितिं वाऽऽधृत्यैव प्रतिपादयितुं शक्यः। एकाङ्किनाटके एकाधिकघटनाः वा पक्षाः नैव प्रकाशयितुं शक्याः। यतः एकाङ्किनाटकरचनायां कालस्य स्वल्पताऽवधेया भवति, अत एकाङ्किकारः ईदृशं किमपि उद्दीप्तं क्षणं विषयीकरोति, येन दर्शकजनतायाः ध्यानमाकार्षितुमिच्छति।

उपर्युक्तपरिभाषाणां पाश्चात्य-पौर्वात्य-विदुषां चावधारणानां निष्कर्षमाधृत्य एवमवधारयितुं शक्यते यदेकाङ्किनाटकमेकदृश्यात्मकं वाऽनेकदृश्यात्मकमपि भवितुमर्हति। एकाङ्किनाटकस्य मौलिकं वैशिष्ट्यमस्य संक्षेपोऽस्ति। कालदृष्ट्या इदमेकाङ्किनाटकं पञ्चक्षणावधेरारभ्य एकहोरावधिकं भवितुमर्हति। तृतीयो ग्राह्यविन्दुरस्ति यदस्यैकाङ्किनाटकस्य कार्यव्यापारे सघनतान्विती अपरिहार्ये स्तः। निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यं यदेकदृश्यात्मकमनेकदृश्यात्मकं वेदमेकाङ्किनाट्यं संक्षिप्तं, जीवनसय कमप्येकं प्रसङ्गं विषयीकृत्य सघनतयाऽन्वित्या च दर्शकेषु पञ्चक्षणैर्वाऽधिकाधिकमेकहोरावधौ एवापेक्षितसंवेगं संवेदनार्हं करोति।

रचना-शिल्प एव यथार्थतः एकाङ्किनाटकस्य मौलिकं वैशिष्ट्यम्। एकाङ्कि नाट्यकारस्य रचना शिल्पनिपुणतूलिका तत्र कस्याश्चिदेकस्याः घटनायाः वा स्थितेरेव चित्रणं करोति। सा स्थितिर्वा घटना बाह्यतो नारोपिता पात्राणां चरित्र-मनोभाव-संघर्षेण स्वत एव विकसिता सार्थक्यं वहति। तत्र प्रभावात्मकता-ऽप्यपरिहार्यतया भवेदेव, याऽस्माकं दृष्टिं मनश्चिन्तनं चैकचरित्रं प्रति केन्द्रीकुर्यात्। एकाङ्कीनाटके विविधचारित्रिकपक्षास्तद् वैचित्र्याणि च नोद्भावयितुं शक्यानि। यत एतदर्थं विविधपरिस्थितयः पात्राणां संघर्षाचाप्यपरिहार्यतया परिकल्पनीयाः। कस्यचिच्चरित्रस्य सौक्ष्म्यवगाहनाय एकाङ्किनाट्ये नैवावकाशो न च स्थानम्। अस्यां दुःसाध्य-परिस्थितावपि एकाङ्किनाट्ये सूक्ष्मचरित्राङ्कनमेकाङ्किनाट्यकारस्य रचना शिल्पनैपुण्यमथ च रचनायाः सार्थक्यसाफल्याय तदौचित्यम्। सर्वमप्येकाङ्कि नाट्ये यदि सारभूतं केन्द्रीभूतमेकात्मरूपं च भूत्वा चोपस्थाप्येत तदैवैकाङ्किनाट्यरचनायाः साफल्यमुद्घोषयितुं शक्यम्।

याथार्थ्यमिदं यदेकाङ्कि नाट्ये जीवनस्यैक एव पक्षश्चित्रितो भवेत्, सकल-रचनासूत्रैश्च कस्याश्चिद् एकस्याः मूलघटनायाः विचारस्य वोद्दीप्तक्षणानां चित्रपटो निर्मातव्यः। एकाङ्कि नाट्येऽङ्कितजीवनस्य सङ्कुचितपरिधिस्तन्निपुणं रचना-शिल्पं महनीयतां प्रापयति। अथ च रचनायाः गतिशीलता तस्या-विशिष्टगुणः सञ्जायते। एकाङ्कि नाट्यमस्मान् परिस्थिति-चरित्र-समस्यादिषु गम्भीरचिन्तनाय विचारणाय च प्रभावशालितया सङ्केतयति।

सम्प्रत्याधुनिकैकाङ्किनाट्यरचनायास्तत्त्वानि प्रस्तूयन्ते साम्प्रतिक-विद्वत्साहित्यकारमतेन-

एकाङ्किरचना-तत्त्वानि-

आधुनिकैकाङ्किनाट्यरचनाकाराणां मत्या एकाङ्किनाट्यरचनायाः षट्तत्त्वानि भवन्ति- कथावस्तु, पात्रयोजना, चरित्रचित्रणं सम्वादाः, भाषाशैली, देशकालौ, उद्देश्यं च।

''एष्वेकैङ्कं यथाक्रमं युक्तियुक्तविवेचनपुरःसरं प्रस्तुयते-

''कथावस्तु''- एकाङ्किनाट्यकारः स्वकीयैकाङ्किनाट्यरचनार्थं कीदृशस्यापि कथावस्तुनश्चयनार्थं स्वतन्त्रो भवति। नेदमावश्यकं यत्कथाजीवनस्य कस्याप्येकक्षेत्रस्य, प्रख्यातस्य, प्राग्घटितस्य वृत्तान्तस्य विषयो भवेद् वा स चेदैतिहासिकः, पौराणिको वा लोकगाथा- सम्बद्धः, राजनीतिक-चारित्रिक-संघर्षसम्बद्धो वा कश्चन मानवीय-भावो वा सिद्धान्तो वा जीवनस्य काचिद् घटना वा कश्चनाप्यो विषयः प्रसङ्गो वा कथावस्तुरूपेण ग्रहितुं शक्यते। किन्तु तत्रेदमवश्यमपरिहार्यमवधेयं यत्कथावस्तु मर्यादितं लोकानुरञ्जनकमनोरञ्जक-तत्त्वयुक्तं चावश्यकं भवेत्। कथावस्तु संवेदकतत्त्वयुक्तं मानवजीवनं प्रति मार्मिकमहत्वमण्डितमवश्यं भवेत्। तत्राद्यन्तं रोचकता, हास्यं, सामाजिकापेक्षा- निर्वाह-क्षमता चमत्कृतिश्चाप्यवश्यं भवेत्।[28]

आधुनिकैकाङ्किनाट्यकाराणां मतिरस्ति यत् कथावस्तुविषयचयनानन्तरं तत्कथानकं विविधप्रगतिसोपानैः तद् विकासमार्गं नयति। प्रगतिसोपानानि यथा-

आरम्भः, विकासः, चरमोत्कर्षः, परिणतिश्च। आरम्भादनन्तरं विकासत्कथावस्तु चरमोत्कर्षं परिणतिं च द्रुतगत्या प्राप्नोति। एकाङ्किनाट्यरचनायां कथावस्तुनश्चरमोत्कर्षः परिणतिश्च प्रामुख्यं भजेते। चरमोत्कर्षपरिणत्योरेव एकाङ्किनाट्यरचनाशिल्पस्य वैशिष्ट्यमवलम्बितं भवति। कथावस्तुनश्चरमोत्कर्षे हि एकाङ्किनाट्यस्य मूलाभिप्रायप्रकाशनं सत्यदर्शनं चेदं तत्त्वद्वयं गुम्फितं भवति। एतेनैव कथावस्तुनः सहजापरिणतिर्भवति। इत्थं श्रेष्ठमेकाङ्किनाट्यं कथावस्तुनः चरमोत्कर्ष एव सम्पूर्णतां प्राप्नोति।

एकाङ्किनाटके संकलनत्रयमपि महत्वपूर्णं स्थानं भजते। स्थान-काल-कार्याणां त्रयाणामपि संकलनमेव संकलनत्रयमिति कथ्यते। एकाङ्किनाट्ये संकलनत्रयस्य प्रयोजनमस्ति नाट्ये ऐक्यमैकाग्र्यं च। यतः एकाङ्किनाट्ये सघनता संक्षेपोद्देश्यप्रेरिता क्षिप्रवातिश्च परमावश्यकी। एकाङ्किनाट्यमेकघटना-विचार-भावस्थितीनां चित्राङ्कनं भवति। तत् सौक्ष्म्यस्तरानुसारमेव एकाङ्किनाट्यं सफलं मार्मिकं च भवति। एकाङ्किनाट्यस्य क्षिप्रतैव तत्स्वरूपं परिणमयति।

कस्या अपि घटनायाः क्रियान्वयः देशकालयोः निश्चयं बिना न भवति। कस्या अपि घटनायाः क्रियान्वयः देशं वा कालं बिना वा नैव भवितुमर्हति। अतः एकाङ्किनाट्यस्य घटना सापेक्षतायां दिक्कालसंकलनस्य स्वातन्त्र्यं नाट्यकारो व्यवहरेद्येन एकाङ्कितत्त्वानि संरक्षन् सः एकाङ्कि-प्रभावान्वितिं पूर्णसघनतया वा गतिमत्तया निष्पादयितुं शक्नुयात्।

पात्रयोजना- नाट्ये पात्रयोजना तच्चरित्रचित्रणमप्यपरिहार्यं कथावस्तुवत्। यतः पात्राणां चरित्रैः सम्वादैश्च कथावस्तुनः स्वयमेव निर्माणं भवति। एकाङ्किनाट्ये पात्राणां संख्या स्वल्पीयसी एव भवति। पात्रचतुष्टययुक्तमेकाङ्कि नाट्यं श्रेष्ठं सफलं वा भवति। परन्तु बहुसंख्यक-पात्राण्येकाङ्किनाट्यान्यपि रचितानि, तानि च सफलतान्यभूवन्। उद्देश्यसिद्ध्यनुकूलं पात्रसंख्या-निर्धारणमावश्यकम्।

एकाङ्किनाट्ये वा बृहन्नाट्ये चारित्रिक-भूमिकानुकूलं नायक-प्रतिनायकादि-संज्ञाभिरभिनेतारोऽभिधीयन्ते। नायकः स्वचरित्रैः कथानकं प्रगमयति, विकासयति, आद्यन्तं निर्वहति। अतः स कथानायकसंज्ञयाऽभिधीयते। प्रतिनायकोनाट्ये बाह्यसंघर्षं जनयित्वा कथानकं रोचकमाकर्षकं

विस्मयौत्सुक्यादियुक्तं सम्पादयति। तत्कार्यावस्थाभिर्घटनाक्रमस्त्वरापूर्णां गतिं प्राप्नोति। एवमेवेतराणि गौणपात्राण्यपि नायकस्य प्रतिनायकस्य वा सहायकानि भूत्वा घटनाक्रमविकासे उपकारकाणि भवन्ति।

नाट्ये यो नायकः (मुख्यपात्रं) तस्य महनीयत्वमाकर्षकत्वं च परमावश्यकम्। मुख्यपात्रेण तस्मिन् क्षणे नाटके रङ्गमञ्चे उदेतव्यं यदा स दर्शकाणां मनः समग्रतया उदग्रतयाऽऽकर्षितुं क्षमेत। एकाङ्किनाट्यशिल्पे त्वेतस्य विशेषेण महत्त्वम्। यतो नायकस्त्वत्यल्पकालाय दर्शकाणां समक्षमुपस्थितो भवति।

मुख्यपात्रं वाऽन्यान्यमुख्यपात्राणि, नाट्ये प्रत्येकं पात्रं यथाऽवसरं गतिशीलो भवति, मुख्यपात्रं तु तेषां सर्वेषां नायको भवति।

पात्राणामपेक्षितविशेषताः भवन्ति- यथा तेषां जीवने, चरित्रेषु प्रकृतिभावात्मकं नैसर्गिकत्वं च प्रकाश्येत। पात्रेष्वभिनयकौशलं, पात्रचरित्रानुकूलं-भावप्रकाशननैपुण्यं, यथावसरं साङ्केतिकभवभङ्गिम-प्रकाशनकौशलमेतत् सर्वं सफलैकाङ्किनाट्यस्य लक्षणमस्ति, यत् पात्रैरेव स्वकीय-कर्माभिनयैः, चरित्रैः सम्वादादिभिः साधयितुं शक्यते।

पात्राणां चरित्रचित्रणे एकाङ्किनाट्यकारस्य काव्यार्थो व्याप्नोति।[29] एकाङ्किनाट्यकारः स्वयं किमपि वक्तुं स्वतन्त्रो नास्ति। एकाङ्किनाट्ये काव्यार्थप्रेषणाय प्रमुखं साधनं भवति पात्रविशेषणस्य कार्यव्यापारः। मनुष्यस्य कर्मवचसोर्महान प्रभावो भवति, कर्मवचसी एव तच्चरित्रं प्रकाशयतः। तद्वचः कर्मणोर्या प्रतिक्रिया, तथैव तच्चारित्रिकवैशिष्ट्य-बोधे साहाय्यं भवति।

सम्वादः, कथोपकथनं वा- एकाङ्किनाटये वा सर्वेषु रूपकेषु सम्वादो हि विशेषमहत्वशाली अस्ति। बहवो विद्वत्साहित्यकाराः मन्यते- ''सम्वादस्त्वकाङ्किनाट्यस्य प्राणाः वा सर्वस्वमेव/ वचनमिदमेकाङ्किनाट्ये सम्वादस्य महत्वमेव प्रतिपादयति। सम्वादैरेव भावानाम् अभिव्यक्तिर्भवति, अशेषनाट्यसाहित्ये सम्वादाः सर्वथाऽपरिहार्याः। सम्वाद एव भावानां सशक्त-वाचिकानुभवः। सम्वादो हि काव्यार्थ-संवहन-साधनमात्रमस्ति। नाट्यस्यैकाङ्कि नाट्यस्य घटनाक्रमं संवर्धति, विकासयत्यतः सम्वादः कार्यव्यापारः।

सम्वादैः कथोपकथनैर्वा एकाङ्किनाट्यकारः पात्राणां चरित्राणि चित्रयति प्रकाशयति च। सम्वाद एव तत् तत्त्वं यत् कथातन्तुं तु विकासयत्येव, सहैव पात्राणामन्तर्मनसि निगूढभाव-प्रकाशने, प्रभावोत्पादनेऽपि च सहायो भवति। कथोपकथनैरेव रङ्गमञ्चीय-परिवेशः सहजरूपेणैव मृदुल-तीक्ष्ण-प्रसन्नोदास-चण्डकोमल-शिथिलतनित-दुःखदसुखद- मुक्तरुद्धादिरूपेषु परिणमयितुं शक्यः।

कथोपकथनं मौलिकरूपेणावसरप्रसङ्गोचितं हि भवेत्। तत्र एकैकः शब्दस्तथा सविवेकं जागरूकतया प्रयोक्तव्यः, यथा स लक्ष्यभेदेन परमोपकारकोभवेत्। एकाङ्किनाट्ये मर्मोद्घाटन-रहस्यभेदन-घटनाक्रमाग्रसारण- संघर्षसघनीकरणादिनाट्य-प्रयोजनानि प्रतिपदं सम्वादैः साधनीयानि। औचित्यमेव सम्वादानां सौन्दर्यम्। नाट्यस्य लक्ष्यप्राप्तिरेव सम्वादानां सार्थक्यम्। हिन्दीसाहित्यस्य यशस्वी समालोचकः आचार्यो नन्ददुलारे वाजपेयिमहाभागो मन्यते- ''सत्यमिदं यन्नाट्ये कथोपकथनानि वाग्वैदग्ध्यपूर्णानि भवेयुः। यतो वाग्वैदग्ध्येन कथोपकथनेषु सजीवतायाः सञ्चारो भवति।

कथोपकथनस्यापरं वैशिष्ट्यमस्ति स्वाभाविकत्वम्। कथोपकथनं पात्राणां परिस्थिति-परिवेश-बौद्धिकत्व- कुलीनत्व-रागात्मकत्व-शील-गुण-चारित्रिक-वैशिष्ट्यानुरूपमेव भवेत्। कस्यामपि विशेषपरिस्थितौ कोऽपि विशेषः पात्राभिनेता यां कामपि वाचिकप्रतिक्रियां कुर्यात् सा वाह्यतः आरोपिता न भवेत्, अपितु सहजा नैसर्गिकी च भवेत्। तत् कथोपकथनं स्वाभाविकतया तद्-बुद्धि-वृत्ति-प्रकृति-स्वभावादीनां प्रकाशिका भवेत्। एभिरेव वैशिष्ट्यैर्विभूषित- कथोपकथनयुक्तं पात्र-चरित्रं विश्वसनीयं नैसर्गिकं च भवति।

कथोपकथनस्यान्यद् वैशिष्ट्यमस्ति-तत्सजीवत्वं, संक्षिप्त-सुगठित-सारगर्भिततत्वं च। प्राक्तनघटनाः, अतीतस्मृतयः, मनोविचारतन्तवश्च सम्वादेमार्मिकतां सम्प्रेषयन्ति। फलस्वरूपं सम्वादानां साङ्केतिकी, भावमयी विदग्धा च भवति। सम्वाद-भाषायाः प्रत्येकं शब्दः महत्वपूर्णो मूल्यवान् भवेत्। तत्र कोऽप्यनावश्यको निरर्थकशब्दो न प्रयुज्येत। यदि प्रयोजनशीलता प्रतिपदं विशदतया दृश्येत तर्हि सम्वादाः सुगठिताः, संक्षिप्ताः, सारगर्भिताः, आकर्षकाश्च भवितुमर्हन्ति।

एकाङ्किरूपकेषु लोकोक्तीनां प्रयोगोऽपि सम्वाद-भाषा-सौष्ठवमर्थप्रकाशनक्षमतां च वर्धयति। अतः सम्वादेषु प्रसङ्गावसरानुकूलं लोकोक्तिप्रयोगोऽपि एकाङ्किमहत्ववर्धकः।

यत एकाङ्किरूपकमपि दृश्यकाव्यमस्त्यतोऽत्र अभिनेयतेत्यपरिहार्य-महत्वशालीगुणोऽस्ति। यतोऽभिनेयताया अभावे रूपकं रूपकमेव न भवितुमर्हति। अभिनयास्तु वाचिक-कायिकाहार्य-सात्विकनामानश्चतुर्विद्याः भवन्ति। साहित्यदर्पणे आचार्यो विश्वनाथोऽभिनयं परिभाषमाणस्तद्भेदान् प्राह-

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा।।[30]

अर्थादभिनेत्राऽभिनेयचरित्राणां मनोवाक्कायक्रियाणां वा सकलव्यक्तित्ववैशिष्ट्याणामनुकारोऽनुकरणं वा भवत्यभिनयः, स च चतुर्विधः- आङ्गिकः (कायिकः), वाचिकः, आहार्यः (वेशभूषादिभिः सम्पाद्यः) सात्विकश्च (मनोभावप्रकाशनैः सम्पाद्यः) इति चतुर्विधो भवति। एकाङ्किरूपकेष्वप्यभिनेयता विशेषेण अपरिहार्या महत्वशालिनी चास्ति। यतो ह्यभिनयं विना रूपकाणां न किमपि महत्वं न वा सार्थक्यम्। एकाङ्किषु तु विशेषतोऽभिनयोऽनिवार्यो भवति। एकतस्त्वेकाङ्किरूपकाणि लघूनि, संक्षिप्तानि एकदिवसाधिकानि भवन्ति। तत्र सम्वादा लघवस्त एव वाचिकाभिनयास्तदनुरूपं भावभङ्गिमप्रकाशना-याङ्गिकाभिनयास्तदनुरूपं वेशभूषादिरचनयाऽऽहार्याभिनयाः सात्विकाश्च सर्वेऽयरिहार्याः। सम्वादेषु यो हि वक्तव्यभावः सः सर्वविधैश्चतुर्भिरप्यभिनयैरेकरूपतायाऽविकलरूपेण प्रकाशयितव्यः। एभिश्चतुर्भिरभिनयैरेव एकाङ्किरूपकं सर्वाङ्गीणतया सफलीभवति। एषु यो हि वाचिकाभिनयः, स एव सम्वादो वा कथोपकथनं वा।

उद्देश्यम्- प्रत्येकं नाट्यकाव्यस्य चेदेकाङ्किरूपकं, तस्याप्युद्देश्यं रूपकेऽन्तर्निहितं भवति। यद्यपि सामान्यतः एकाङ्किरूपकस्य तूद्देश्यं केवलं जनमनोरञ्जनमेव भवति। किन्तूच्चस्तरीयैकाङ्किरूपकसृजनं केवलं मनोरञ्जनमात्रायैव नहि भवति। याथार्थ्यं त्विदं यन्नाटककारो जीवने यथाऽनुभूत्या प्रभावितो

भवति, यश्च विचार-भावस्तमालोकयति, यो जनः समस्या वा तं प्रेरयति, तत्सर्वं याथार्थ्येन वर्णनप्रकाशनमेव नाट्यकारस्य स्वीयं मौलिकमुद्देश्यमस्ति।

श्रेष्ठः सफल एकाङ्किनाट्यकारः जीवनस्य कस्मिंश्चिल्लघुतमप्रसङ्गेऽपि निहितद्वन्द्वमादाय तन्मानवीयसाररूपेण परिणमयति। नाट्यसाहित्यकारः कविर्जीवनस्य लघ्वीः अपि घटनाः अन्तर्विगाह्य तत्र गहनार्थवत्तां सन्निदधाति। इत्थमेकाङ्किनाट्यकार एकाङ्किनाट्येन गम्भीरं सुग्राह्य-शिवतमं सन्देशं सम्प्रेषयति। पात्राणामभिनयमाध्यमेन दर्शकेभ्यो मनोमोदपूर्वकं प्रेरकसन्द्रशं प्रेषयति।

सन्दर्भाः -

[1] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-क्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। -काव्यप्रकाशः- 1/2

[2] तद् रूपारोपातु रूपकम्। - साहित्यदर्पणम्- 6/2

[3] रूपं दृश्यतयोच्यते- दशरूपक-धनञ्जयः- 1/7

[4] दशरूपक अवलोकनम्- 1.8

[5] साहित्यदर्पणम्- 6/269-272

[6] साहित्यदर्पणम्- 6/273

[7] साहित्यदर्पणम्- 1/274, 275

[8] साहित्यदर्पणम्- 6/276

[9] साहित्यदर्पणम्- 6/277, 278, 279

[10] साहित्यदर्पणम्- 6/280, 281

[11] साहित्यदर्पणम्- 6/282

[12] साहित्यदर्पणम्- 6/284, 285

[13] साहित्यदर्पणम्- 6/286, 297

[14] साहित्यदर्पणम्- 6/288, 289, 290

[15] साहित्यदर्पणम्- 6/291, 292

[16] साहित्यदर्पणम्- 6/293, 294

[17] साहित्यदर्पणम्- 6/296-300

[18] साहित्यदर्पणम्- 6/301-302

[19] साहित्यदर्पणम्- 6/303-305

[20] साहित्यदर्पणम्- 6/306

[21] साहित्यदर्पणम्- 6/307

[22] साहित्यदर्पणम्- 6/227, पृ. 512 विमर्शः

[23] साहित्यदर्पणम्- (विमर्श) 6/231, 232, पृ. 513 विमर्श

[24] साहित्यदर्पणम्- 6/250-252

[25] साहित्यदर्पणम्- 6/252, विमर्श पृष्ठ 520

[26] साहित्यदर्पणम् 6/264-265

[27] (हिन्दी) साहित्यालोचन- डा. रामकुमार वर्मा

[28] डा. प्रो. उमेशचन्द्र मिश्र- हिन्दी नाट्य साहित्य एकाङ्की

[29] हिन्दी नाट्यतत्त्वमीमांसा- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[30] आचार्यविश्वनाथ-साहित्यदर्पणम्- 6/2

अमरेन्द्रमोहनभाट्टाचार्यस्य जीवनं तत्कृतयश्च

• आलोक सेनः*

शोधसारः - वङ्गीयनैयायिकेषु अमरेन्द्रमोहनभाट्टाचार्यः स्वतन्त्र्योत्तरकालस्य प्रसिद्धो नैयायिको बभूव। आचार्यस्य बह्वीनां कृतीनां नामानि श्रुयन्ते, परन्तु तेषु केचन हि इदानीं प्राप्यन्ते। न केवलं तस्य कृतीनां विषये तथ्यं दुर्लभमस्ति, स्वपरिचयविषयकं किञ्चिदेव तथ्यमत्यन्तं क्लेशेन लभ्यते। तेन प्रणीतं न्यायप्रवेशग्रन्थमाश्रित्य गवेषणावसरे मया आचार्यस्य जीवनवृत्तकृतिविषये यत्किमपि तथ्यं प्राप्तं तदस्मिन् शोधपत्रे निबद्धम्।

बीजशब्दाः - गीताञ्जलिः, सप्तपदार्थी, अनित्यः, न्यायप्रवेशः।

भूमिका - मिथिलानिवासिनः परमन्यायाचार्याः तर्कधुरन्धराः उदयनाचार्याः प्राचीननव्यन्याययोः सन्धिस्थले विद्यमानाः बभूवुः। आत्मतत्त्वविवेके न्यायकुसुमाञ्जल्यां च नव्यन्यायस्य यत् बीजं निहितमस्ति तस्य चरमः प्रकाशः मिथिलावासिना नैयायिकचूडामणिना गङ्गेशोपाध्यायेन तत्त्वचिन्तामण्याख्यप्रगाढपाण्डित्यपूर्णकृतिना अक्रियत। गङ्गेशोपाध्यायाद् आरभ्य प्रायशः शतकद्वयवर्षपर्यन्तं मिथिलाभूमण्डलं नव्यन्यायचर्चायाः प्रमुखस्थलरूपेण रराजे। तदनु पञ्चदशशताब्द्या वङ्गदेशे नवद्वीपे नव्यन्यायचर्चायै विद्यापीठः स्थापितः। षोडशतमे सप्तदशतमे वा शताब्द्यां नव्यन्यायस्य चर्चा विचारविश्लेषणं ग्रन्थप्रणयनादिकं भूरिशः जातम्। तथाहि कालोऽयं नव्यन्यायस्य सुवर्णयुगत्वेन दर्शनसाहित्ये परिगण्यते। अस्मिन्नेव स्वर्णयुगे वङ्गदेशसमुद्भवैः नव्यनैयायिकैः स्वस्वतर्क-चातुर्यपूर्णाः तादृशा ग्रन्थाः रचिताः यैः न्यायदर्शनं भारतीयमोक्षतन्त्रेषु मूर्धन्यभूतं स्थानम् अलभ्यत। वङ्गदेशीयनैयायिककुलललामभूतेषु विद्वत्सु नव्यन्यायधुरन्धरेषु रघुनाथशिरोमणिः मथुरानाथतर्कवागीशः जगदीशभट्टाचार्यः गदाधरभट्टाचार्यः प्रमुखानां नैयायिकतल्लजानां प्रतिस्पर्द्धी कोऽपि नास्ति। शास्त्रीयतत्त्वानामतलस्पर्शिप्रगाढपाण्डित्यपूर्णा या विचारशैली एतै आचार्यैः प्रदत्ता तां शैलीं धारयितुं वाहयितुं च ये आचार्याः स्वस्वजीवनं नियोजितवन्तः तेषु स्वातन्त्र्योत्तरकालिकोऽमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः स्वप्रतिभया नव्यन्यायपरिमण्डलमलंचकार।

*शोधच्छात्रः, रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानं, वेल्लुडमठः, हाउडा

अमरेन्द्रमोहनस्य परिचयः - अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यमहोदयः फरिदपुरजिलायाः धूलजोडा[1]इति ग्रामे अष्टनवत्यधिकद्वादशशततमे वङ्गाब्दे फाल्गुनमासस्य त्रयोदशतमे दिनाङ्के शनिवासरे जज्ञे। आचार्यस्य पितुर्नाम आसीत् रामसुन्दरकृतिरत्नः रामेन्द्रशर्मा वा, मातुर्नाम चासीत् चन्द्रतारादेवी।

गुणेन्दुवसुशुभ्रांशुप्रमिते[2] शाकवत्सरे। पुण्यकृष्णचतुर्दश्यां शनौ कुम्भगभास्करे॥
पाण्डित्यत्यागसारल्यमूर्त्ते रामेन्द्रशर्मणः। श्रीचन्द्रतारादेव्याश्च यः पितृभ्यामजायत॥
धूलजोडाग्रामवासी कलिकातापुराश्रयः। अमरेन्द्रद्विजः सोऽयं नानादेशक्रियारतः॥[3] इति॥

बाल्ये स्वग्रामस्थात् प्राथमिकविद्यालयात् प्राथमिकशिक्षां लब्ध्वा वङ्गप्रदेशस्थायाः हुगलीजिलायाः चचुडामण्डलमागत्य स्वखुल्लतातस्य सुप्रसिद्धपण्डितस्य रामरत्नवेदान्तरत्नस्य समीपे मुग्धबोधव्याकरणं पपाठ। तदा आद्यपरीक्षा-मध्यपरीक्ष-उपाधिपरीक्षाभेदेन परीक्षात्रयं प्रचलितमासीत्। उपरामरन्तवेदान्तरत्नमाचार्यः परीक्षात्रयमुत्तीर्पणो बभूव। तत्र आद्यमध्यपरीक्षायां प्रथमविभागस्य प्रथमस्थानं लब्ध्वा वृत्तिमानर्ज। उपाधिपरीक्षायां पुनः प्रथमविभागे उत्तीर्णो बभूव। अनन्तरं खुलनाजिलायाः नकीपुरं गत्वा तत्र हरिचरणचतुष्पाठ्याः अध्यापकस्य सर्वशास्त्रकृतभूरीपरिश्रमस्य महामहोपाध्यायस्य हरिदाससिद्धान्तवागीशस्य समीपे काव्यशास्त्रम् अधिजगे। परन्तु पठनस्य असौविध्यात् स पुनः तस्य खुल्लतातस्य समीपमागत्य काव्यशास्त्रस्य मध्यपरीक्षायाम् उपाधिपरीक्षायां च ससम्मानम् उत्ततार। ततःपरं पावनानगरस्थितस्य दर्शनटोलस्य अध्यापकमहामहोपाध्यायफणिभूषणतर्कवागीशस्य समीपे नव्यन्यायस्याद्यपरीक्षायां मध्यपरीक्षायां च प्रथमविभागीयप्रथमो भूत्वा वृत्तिम् अलभत। अनन्तरं तत्रापि पठनस्यासौविध्यात् संस्कृतमहाविद्यलयस्य कामाख्यानाथतर्कवागीशस्य समीपे नव्यन्यायस्योपाधिपरीक्षायां प्रथमविभागीयप्रथमस्थानं प्राप्य स्वर्णकेषुपुरस्कारं प्राप्तवान्। अनन्तरं सांख्यशास्त्रं वेदान्तशास्त्रं च अधीतवान्।

अध्ययनसमाप्तेरनन्तरं विश्वभारतीविश्वविद्यालयस्य संस्कृतदर्शनविभागस्य भूतपूर्व अध्यापकः आसीत्। अपि च हेल्कारसंस्कृतमहाविद्यालयस्य नवद्वीपपाकाटोलस्य च न्यायशास्त्रस्य प्रधान आचार्य आसीत्। वङ्गीय-संस्कृत-एसोसियेशन् इत्यस्य आसामसंस्कृतवोर्ड इत्यस्य च उच्चतमोपधिपरीक्षायाः परीक्षकपदमपि अलंचकार। न केवलं तद्धि कलिकाताविश्वविद्यालयस्य स्नातकोत्तरविभागस्य परीक्षकरूपेण नियोजित आसीत्। अयमाचार्यः विद्याभूणण-विद्यालंकार-काव्यशिरोमणि-तर्करत्न-काव्यतीर्थ-तर्कतीर्थेत्यादिभिरुपाधिभिः भूषितो वर्तते। अस्य बह्व्यः कृतयः संस्कृतसाहित्ये सुप्रसिद्धा आसन्। तासां कृतीनां परिचयः अधस्तात् प्रस्तूयते –

गीताञ्जलिः - वङ्गसाहित्यस्य कविरत्नेषु कविगुरुवः महाकवयः रवीन्द्रनाथठक्कुराः मूर्धन्यभूता बभूवुः। दशाधिकोनविंशतिशततमे ख्रीष्टाब्दे षट्चचतुर्दशाधिकैकशतपद्यात्मिका गीताञ्जलिः आचार्यैः अरच्यत। वङ्गभाषां रचितस्यास्य ग्रन्थस्य समादरं प्रदर्श्य कविगुरुः स्वयमेव अस्य ग्रन्थस्य आङ्गलभाषायाम् अनुवादं चकार। तच्चाङ्गलानुवादः Song Offering-इत्यभिधेयेन लण्डनप्रदेशस्थात् India Society-इत्यस्मात् स्थानात् प्रकाशितो जातः। आङ्गलानुवादग्रन्थे तु साकल्येन त्र्यधिकशतं पद्यानि सन्ति। आनुवादोऽयं समग्रेऽस्मिन् विश्वे विद्वत्परमण्डले अत्यन्तं समादरं प्राप। अभूतभवस्यास्य ग्रन्थस्य माहात्वं

ज्ञात्वा तत्कर्तारं सम्मानं प्रदानाय तत्कालीनब्रिटिश्सर्वकारः त्रयोदशाधिकोनविंशतिशततमे ख्रीष्टाब्दे नोवेलपुरस्कारं प्रददे।

अस्य हि ग्रन्थस्य संस्कृतभाषायामनुवादम् आदौ अमरेन्द्रमोहनभाट्टाचार्यमहाभागः चक्रे। ग्रन्थोऽयम् ऊनत्रिंशदधिकोनविंशतितमे ख्रीष्टाब्दे एस्.के.मजुमदारमहोदयस्य तत्त्वावधानेन समग्रे विश्वे प्रसिद्धतमस्य गीताञ्जल्याख्यग्रन्थस्य आद्यसंस्कृतानुवादरूपेण प्रकाशितो जातः। संस्कृतानुवादोऽपि सुरभारतीसेविनां समीपे समादराधिक्यं प्राप्तवान्, अधुनापि प्राप्नोति। भाषातत्त्वविदा डा.सुनीतिकुमारचाटार्ज्जिमहाभागेन आचार्यस्य कृतिविषये स्वाभिमतप्रकाशयता प्रोक्तम् - '...The verses run smooth and read well. ...Sanskrit scholars will be able to obtain from these translations a good idea of the contents of some of the best poems of Rabindra Nath... Pandit Amarendra Nath's work should have a wide circulation among those for whom it is intended, and can very well have a place in a library of modern composition in Sanskrit'[4].

महामोहोपाध्ययैः प्रमथनाथतर्कभूषणमहाभागैः ग्रन्थस्य विषये प्रोक्तम् - 'पण्डितामरेन्द्रमोहनतर्कतीर्थप्रणीतस्य कवीन्द्रस्य रवीन्द्रस्य गीताञ्जल्याख्यस्य ग्रन्थस्य संस्कृतानुवादं पठित्वा मन्मतं यत् – ग्रन्थोऽयं यदि संस्कृतपरीक्षायाः पाठ्यपुस्तकरूपेण निर्वाचितो भवेत् तर्हि अत्यन्तं सुन्दरं भवेत्। कस्यापि जीवितस्य कवेः काव्यग्रन्थस्य पाठ्यपुस्तकरूपेण निर्वाचनेन परीक्षासमितेः कर्तृपक्षिणां बहुत्र असौविध्यं भवतीत्यहं जानामि तथापि विश्वकवेः रवीन्द्रनाथस्य कतिपय श्रेष्ठपद्यानाम् अनुवादस्वरूपस्य अस्य संस्कृतपद्यात्मकस्य ग्रन्थस्य पठनेन विद्यार्थिनां यत् सुमहान् उपकारो भवतीत्यत्र मम अणुमात्रमपि सन्देहो नास्तीत्यहं कमपि सङ्कोचं विना वक्तुं शक्नोमि'[5]। अनेन अस्याः कृतेः समादरः विद्वत्समाजे यथार्थरूपेण ज्ञातुं शक्यते।

न्यायदर्शनम् - न्यायसूत्रस्योपरि वात्स्यायनस्य भाष्यम्, उद्योतकरस्य वार्तिकम्, वाचस्पतिमिश्रस्य तात्पर्यटीकाम्, विश्वनाथन्यायपञ्चाननस्य वृत्तिमाश्रित्य कृतभूरिप्ररिश्रमेण सुप्रसिद्धो न्यायदर्शनमिति ग्रन्थ आचार्यैर्बहुप्रशंसितोऽस्ति। प्राचीनन्यायाचार्यैः सह नव्यन्यायधुरन्धरस्य आचार्यस्य विश्वनाथस्य वृत्तिरपि ग्रन्थेऽस्मिन् रराजे। न्यायशास्त्रीयग्रन्थरत्नेषु अयमेक एव ग्रन्थोऽस्ति यत्र न्यायसूत्रस्योपरि प्राचाम् आचार्याणां कृतिभिः सह नव्यन्यायचिन्तनशैल्या रचितस्य न्यायसूत्रस्योपरि एकमात्रस्य वृत्तेः संग्रहः। न केवलं तद्धि भाष्यवार्तिकादिषु भ्रान्तस्थलं गूढस्थलं च आश्रयेण स्वकीयटीप्पणी संयोजितास्मिन् ग्रन्थे। प्रोक्तञ्च पुष्पिकायाम् –

भाष्यवार्तिकतात्पर्यटीकावृत्तिसमन्वितम्।
गौतमं दर्शनं चापि टिप्पण्याद्यैरयोजयत्॥[6] इति॥

ग्रन्थोऽयं मेट्रोपलिटन्-प्रिन्टिं एण्ड पाब्लिसं-हाउस् इत्यस्मात् कलिकातास्थप्रकाशनालयात् षट्त्रिंशदधिकोनविंशतिशततमख्रीष्टाब्दादारभ्य चतुष्चत्वारिंशदधिकोनविंशतिशततमे ख्रीष्टाब्दे सम्पूर्णतया

प्रकाशितो जातः। ग्रन्थस्यास्य प्रथमाध्यायस्य प्रथमभागस्य संस्कर्तासीत् तारानाथन्यायतर्कतीर्थः, अवशिष्टास्य तथा प्रथमाध्यायस्यान्तिमांशादारभ्य पञ्चमाध्यायस्यान्तिमांशयावदिति समग्रास्यांशस्य संस्कर्ता हि अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः। परन्तु तत्रापि किञ्चदपूरिता अंशा आसन्, येषां संस्कर्ता हेमन्तकुमारमहाभागा बभूवुः। प्रोक्तञ्च पुष्पिकायाम् –

तारानाथामरेन्द्राभ्यां यदारब्धमपूरितम्।
श्रीहेमन्तकुमारेण तत्पूरितमबुद्धिना॥
प्रष्ठयोर्वर्त्मनि क्षुण्णे प्रवृत्तेनाल्पमेधसा।
पूर्वसंस्कर्त्तृवरयोः करयोः कृतिरर्पिता॥
इति भाष्यवार्तिकतात्पर्यवृत्त्युपेतन्यायदर्शनसंस्करणं सम्पूर्णम्।[7] इति।

सप्तपदार्थी - वैशेषिकतत्त्वप्रतिपादकेषु प्रकरणग्रन्थनिचयेषु शिवादित्यविरचिता सप्तपदार्थी सुप्रसिद्धा विपश्चितैश्च बहुप्रशंसिता वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य वह्व्यः टीका वर्तन्ते। तासु माधवस्य मीतभाषिणीं शेषानन्तस्य पदार्थचन्द्रिकां वलभद्रस्य सन्दर्भमित्याख्यां पाण्डुलिपिस्थटीकाम् आश्रित्य अमरेन्द्रमोहोनभट्टाचार्य-नरेन्द्रमोहनभट्टाचार्याभ्याम् एकमालोचनात्मकमध्ययनं चतुर्त्रिंशदधिकोनविंशतिशततमे ख्रीष्टाब्दे मेट्रोपलिटन्-प्रिन्टिं एण्ड पाब्लिसं-हाउस् इत्यस्मात्प्रकाशनालयात् प्रकाशितम्। अस्य ग्रन्थस्य मीतभाषिणीटीकाया आलोचनात्मकमध्ययनम् अमरेन्द्रमोहनभाट्टाचार्यैः पदार्थचन्द्रिकासन्दर्भयोः च नरेन्द्रचन्द्रभट्टाचार्यैः चक्रे। ग्रन्थस्यास्यान्तिमांशे प्रोक्तम् –

नत्वा गुरुपदद्वन्द्वं तत्कृपावलमीयुषा। अमरेन्द्रेण विप्रेण धूलाजोडानिवासिना॥
गीताञ्जलिं विनिर्माय टिप्पनीं सप्तमावधिम्। काव्यप्रकाशे सादर्शे विधाय च ततः परम्॥
इषुबाणवसुक्ष्मामे[8] शाके वृषगते रवौ। सम्पादिता शिवादित्यकृतिस्तत् प्रीयतां हरिः॥[9] इति॥

सप्तपदार्थ्याः अनन्तरम् आचार्येण काव्यप्रकाशस्य आदर्शटीका रचिता। आदर्शाख्या एका महेश्वरभट्टविरचिता टीकापि प्राप्यते। परन्तु अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यविरचिता आदर्शटीका मया न प्राप्ता।

न्यायप्रवेशः - दशवर्षपर्यन्तं कृतभूरीपरिश्रमेण लिखितोऽयं ग्रन्थः वङ्गभाषायां भारतीयज्ञानविज्ञानेतिहास-दर्शनकृष्यर्थनीतिशिल्पादिचर्चायै प्रतिष्ठापितायां श्रीभारतीपत्रिकायां निरन्तरम् अप्रकाश्यत। ततः अष्टचत्वारिंशदधिकत्रयोदशशततमे वङ्गाब्दे इण्डियान्-रिसार्च-इन्स्टिटिउट् इत्यस्मात्प्रकाशनालयात् सतीशश्चन्द्रशीलमहोदयस्य प्रकाशकत्वेन तत्त्वावधानेन प्रकाशितांशेन सह किञ्चिदंशं योजयित्वा संस्कृत्वा च वङ्गभाषायां लिखितस्य न्यायदर्शनस्य द्वितीयग्रन्थरूपेण प्रकाशितः। वङ्गभाषायां विरचितः न्यायदर्शनस्य प्रथमो ग्रन्थो बभूव महामहोपाध्यायफणिभूषणतर्कवागीशविरचितं न्यायदर्शनम्। ग्रन्थेऽस्मिन् ग्रन्थकारेण न्यायवैशेषिकदर्शनप्रतिपाद्यतत्त्वविवेचनपुरःसरं स्वकीयं नवीनं चिन्तनमपि प्रकाशितं स्थले स्थले। यथा –

प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्। यथा – परमाण्वाकाशादीनां नित्यत्वम्। परमाण्वाकाशादीनां प्रागभावः किञ्च ध्वंशो न सम्भवति। अतः ते प्रतियोगिनो न भवन्ति अप्रतियोगिनो

हि भवन्ति। अतो नित्येषु परमाण्वादिषु लक्षणमिदं संगतं भवति। अपरतः प्रागभावप्रतियोगित्वं ध्वंसप्रतियोगित्वं वा अनित्यत्वम्। अत्र प्रागभावप्रतियोगित्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वम् अनित्यत्वमिति कथनस्य आवश्यकता नास्ति। कस्यापि एकस्य दलस्य लक्षणत्वे कोऽपि दोषो न भवति। अत्र ग्रन्थकारस्याभिप्रायः कस्यापि लक्षणे नित्यानित्ययोः कस्यापि एकस्य पदस्य व्यवहारे कार्यं सिध्येत् चेत्तर्हि तत्र न शरीरकृतलाघवम् आश्रित्य नित्यपदस्य प्रयोगः करणीयः। यतो हि नित्यपदज्ञानाय प्रागभाव-ध्वंस-अप्रतियोगित्वानां ज्ञानमावश्यकम्। परन्तु ध्वंस-प्रतियोगित्वयोः ज्ञानेन हि अनित्यत्वमित्यस्य ज्ञानं सम्भवति। तथाहि अक्षरगतन्यूनत्वमात्रं दृष्ट्वा शरीरकृतलाघवाय न नित्यपदं देयम्। तत्रापि अनित्यपदं निवेशनीयम्। अतः शरीरकृतलाघवस्थलेऽपि आदौ अर्थगतलाघवं चिन्तनीयमिति आचार्यस्याभिप्रायः। एतदतिरिच्य तेजः ईश्वरः स्पर्शः परत्वं प्रभृतीनां विषये आचार्यस्य स्वकीयं विवेचनं ग्रन्थेऽस्मिन् दृश्यते।

वङ्गभाषायां न्यायदर्शनस्य द्वितीयग्रन्थरूपेण प्रकाशितस्यास्य ग्रन्थस्य तादृशी प्रसिद्धिर्नास्ति विपश्चितेष्वपि किमुत साधारणमतिषु। गन्थेऽस्मिन् न्यायदर्शनस्य गूढतत्त्वानां नव्यन्यायस्य शैलीम् अनाश्रित्य क्वचित् स्वतन्त्रसरलरीत्या आचार्येण निरूपणं कृतम्।

सन्दर्भाः -

---

[1] धूलाजोडा-इति नाम अपि प्राप्यते। सप्तपदार्थीग्रन्थस्य पुष्पिकायां धूलाजोडा-इति प्राप्यते। पुनश्च न्यायप्रवेशग्रन्थस्य पुष्पिकायां धूलजोडा-इति नाम प्राप्यते।

[2] गुणः – ३, इन्दुः – १, वसुः – ८, शुभ्रांशुः – १, अङ्कस्य वामा गतित्वात् १८१३तमे शकाब्दे इति लभ्यते। अतः १८१३+७८= १८९१तमे ख्रीष्टाब्दे हि अयमाचार्यः जज्ञे।

[3] अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा), न्यायप्रवेशः, पृ. १६३।

[4] अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा), न्यायप्रवेशः, पृ . १।

[5] अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा), न्यायप्रवेशः, पृ . १।

[6] अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा), न्यायप्रवेशः, पृ -१३४।

[7] अमरेन्दमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा.), न्यायदर्शनम्, पृ – १२०२।

[8] इषुः – ५, बाणः – ५, वसुः – ८, क्ष्मा – १। १८५५तमः शकाब्दः। १८५५+७८ = १९३३तमे ख्रीष्टाब्दे ग्रन्थोऽयं समाप्तः जातः।. परन्तु अग्रिमे वर्षे तस्य प्रकाशनमभवदिति बोध्यम्।

[9] अमरेन्द्रमोहनभट्टाचार्यः(सम्पा), सप्तपादर्थी, पृ. ९५।

अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य आद्यप्रस्थानाचार्यः - श्रीरूपगोस्वामी

• बाबनपालः*

शोधसारः - परम्परा आधुनिकता चेति द्वे प्रक्रिये गतिशील एव। द्वयोरनयोरयमेव प्रभेदो यत् परम्परा यात्राया मध्येमार्गं पतितमन्तिमचरणम्, आधुनिकता अग्रेसरं गतिशीलं पदार्पणम्। आधुनिकताया अर्थविश्लेषणानन्तरं संस्कृतसाहित्येतिहासस्य आधुनिककालस्यारम्भः कदारभ्य स्वीक्रियेत इति प्रश्नोऽयं स्वाभाविकतयोदेति। विषयेऽस्मिन् विदुषां मतैक्यं न परिलक्ष्यते। यतो हि राजनैतिकस्थितीनां सामाजिकपरिस्थितीनाञ्च प्रेक्षापटे विद्वद्भिः कृतं युगविभाजनमिदं किञ्चिद्भिन्नं भिन्नं भाति। अतोऽस्माभिर्विवादितं युगविभाजनमिदं नूनं विचारणीयम्। प्राचीनाचार्येषु परिगणितस्य आचार्यस्य श्रीरूपगोस्वामिनः सामग्रिकं साहित्यम् अर्वाचीनसाहित्यस्य सर्वैरेव लक्षणैः विभूषितं वर्तते। अतः तमेव वयमर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य आद्यप्रस्थानाचार्यरूपेण मानयितुं शक्नुमः।

बीजशब्दाः - अर्वाचीनम्, समकालिकम्, साहित्यम्, नाटकम्, लक्षणम्

1. उपक्रमः - यदा मया शोधकार्यनिमित्तं श्रीरूपगोस्वामिनः साहित्यिककृतीनां ग्रहणं कृतं, तदा मया ज्ञातमासीत् अयमाचार्यः मध्यकालीनसंस्कृतसाहित्याकाशे देदीप्यमानः आसीत्। अतः रामजी-उपाध्यायकृतस्य मध्ययुगीनसंस्कृतनाटकम् इति ग्रन्थं परिशीलितवान्। परन्तु, हा हन्त, तत्र तु श्रीरूपगोस्वामी एव न समीक्षितः। अर्वाचीनयुगस्य अनेन समीक्षकेण कथमित्थं त्रुटितमिति विभाव्य मार्गदर्शिकया परामर्शः कृतः। तया उक्तं यत्- आधुनिकभागमपि परिशीलयतु इति। आधुनिकभागं दृष्ट्वा तु अहं नितरां चकितचकितः स्थितः। यतो हि अयं भागः खण्डद्वयेन सहस्राधिकपुटेषु परिव्याप्तः आसीत्। तेन अपि आत्मसन्तोषमप्राप्य आचार्यवर्येण विंशशताब्दिकं संस्कृतनाटकमिति संस्कृतभाषया पुनः अत्याधुनकनाटकानां प्रखरसमीक्षा कृता। हिन्दीभाषालिखितग्रन्थस्य आधुनिकभागे प्रथमतः एव श्रीरूपगोस्वामिनः सर्वाणि नाटकानि मार्मिकतया समीक्षितानि सन्ति उपशतपुटेषु।[1]

*शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, वाँकुडाविश्वविद्यालयः, पश्चिमवङ्गः।

आधुनिकसाहित्यस्य विचारं कृत्वा समकालिकः समीक्षकः डॉ.तन्मयकुमारभट्टाचार्यमहोदयः विविधानामाचार्याणां मतानि परिशीलयति। यथा- "अत्रेदानीमाधुनिकशब्दस्य शब्दार्थं विचारयामश्चेद् "अधुना भवः"इत्यर्थे अधुना इत्यस्मात् ठञ्प्रत्यये आधुनिक इति पदं निष्पद्यते। अस्यायमर्थ इदानीन्तनकालः, साम्प्रतिककालः, वर्तमानकालो वेति। परन्तु इतोऽपि व्यापकोऽस्यार्थः। अस्य मूले विद्यन्ते केचन पुरातनसंस्काराः, केचिच्च नवीनानुभवाः, द्वयोरनयोः सङ्गमो भवति। परिणामतो जायते काचन नवीना कल्पना, क्षणमात्रं वयं तदाधुनिकपदेन निर्देष्टुं शक्नुयाम, परन्तु क्षणानन्तरमेव यदस्मत्कृतेऽद्यतनमस्ति तदेव कालेन ग्रहणवर्जनाभ्यां परम्परारूपेणाविर्भवति। वस्तुतः किमपि तत्त्वं स्थिरं नहि, सर्वं गतिशीलमस्ति। परम्परा आधुनिकता चेति द्वे प्रक्रिये गतिशील एव। द्वयोरनयोरयमेव प्रभेदो यत् परम्परा यात्राया मध्येमार्गं पतितमन्तिमचरणम्, आधुनिकता अग्रेसरं गतिशीलं पदार्पणम्। आधुनिकताया अर्थविश्लेषणानन्तरं संस्कृतसाहित्येतिहासस्य आधुनिककालस्यारम्भः कदारभ्य स्वीक्रियेत इति प्रश्नोऽयं स्वाभाविकतयोदेति। विषयेऽस्मिन् विदुषां मतैक्यं न परिलक्ष्यते। यतो हि राजनैतिकस्थितीनां सामाजिकपरिस्थितीनाञ्च प्रेक्षापटे विद्वद्भिः कृतं युगविभाजनमिदं किञ्चिद्भिन्नं भिन्नं भाति। अतोऽस्माभिर्विवादितं युगविभाजनमिदं नूनं विचारणीयम्। पण्डितकेशवरावमुसलगाँवकरेण संस्कृतसाहित्यस्य अर्वाचीनकालः सप्तदशशताब्दीतः इति सयुक्तिकं प्रतिपादितं स्वीयेऽर्वाचीनसंस्कृतकाव्यरम्पराग्रन्थे। आचार्येण पण्डितबलदेवोपाध्यायवर्येण १७५० ईशवीयाब्दात् तन्नाम अष्टादशशतकादेव अर्वाचीनकालस्य सूचना जातेति स्वीकृतम्। डॉ.हीरालालशुक्लमहाभागेन १८३५ ईशवीयाब्दान्नाम ऊनविंशशतकादाधुनिककालस्यारम्भ इति वादः प्रस्तुतः। आचार्यराजेन्द्रमिश्रवर्येण १७८४ ईशवीयाब्दात्परं लिखितं संस्कृतसाहित्यमाधुनिकमित्यभिहितम्। डि.एच्.लॉरेन्स, रिचर्ड एलमान, सिरिलकोनोली, प्राङ्कमोड इत्यादिभिः प्रतीच्यविपश्चिद्भिः १९०७ ईशवीयाब्दात् १९२५ ईशवीयाब्दपर्यन्तं कालखण्डमेवाधुनिकम् इति गृहीतम्। पण्डितकेशवरावमुसलगाँवकरेण अर्वाचीनकालस्यास्य विभाजनमेवं कृतमस्ति- १. सप्तदशक्रैस्ताब्दः प्रारम्भिककालः। २. अष्टादशक्रैस्ताब्दो जागरणकालः। ऊनविंशशताब्दीतो विंशशताब्द्या उत्तरार्धकालः समृद्धिकाल इति। आचार्येण राजेन्द्रमिश्रवर्येण कालविभाजनमित्थं कृतमस्ति- १.पुनर्जागरणकालः(१७८४-१८८४ई.) २. स्थापनाकालः (१८८४-१९५०ई.) ३. समृद्धिकालः (१९५०ई.- इदानीन्तनकालं यावत्)। तत्रापि कालनिर्णये डॉ.भि.राघवन्, रामजीउपाध्यायः, विश्वनाथभट्टाचार्यः, डॉ.चन्द्रकिशोरगोस्वामी, डॉ.राधावल्लभत्रिपाठीत्यादीनां विशिष्टविदुषां मतानैक्यं सुस्पष्टमालोक्यते पूर्ववर्तिभिः मतप्रवर्तकैः समम्।"[2]

आचार्येण उपाध्यायेन रामजीत्यनेन स्वग्रन्थस्य आमुखे वैदिशिकसमीक्षकाणां तदनुसरतां देशिकसमीक्षकाणामपि कट्वालोचनं विहितम्। यतो हि कोऽपि मूलग्रन्थपठनं विना कथं वा शतसहस्रग्रन्थैः समेधितानां संस्कृतकृतीनां न्यक्कारं कर्तुं शक्नुयात्।[3] अनेन आचार्येण नितरां प्रभावितः अहं श्रीरूपगोस्वामिनः कृतिषु अर्वाचीनयुगस्य सुगन्धं प्राप्तवान्। अस्मिन् लघुपत्रके तस्य प्रतिष्ठायै प्रयासं करिष्यामि।

2. श्रीरूपगोस्वामिनः साहित्यिककृतीनां परिचयः - द्वितीयसहस्राब्दस्य प्रारम्भिकशतकेषु अनन्यभक्तिभावनां पुरस्कृत्य हिन्दुधर्मस्य कापि प्रबला धारा प्रवाहिता। 1375 तः 1700 पर्यन्तं परिव्याप्ते अस्मिन् कालखण्डे श्रेष्ठसाहित्यस्य सृजनमपि अभवत्। अयं कालः जार्जग्रियर्सनेन स्वर्णकालः इति, श्यामसुन्दरदासेन स्वर्णयुगमिति, आचार्येण रामचन्द्रशुक्लेन भक्तिकालः इति, हजारीप्रसादद्विवेदिना लोकजागरणकालः इति वर्णितः। अस्मिन् समये भक्त्यान्दोलनमिति प्रसिद्धमिदमान्दोलनं मध्यकालीनभारतस्य सांस्कृतिकेतिहासे महत्त्वपूर्णं स्थानमधिकरोति। अस्मिन् काले सामाजिकसंस्कारकैः धार्मिकसंस्कारकैश्च समाजस्य विभिन्नस्तरेषु संस्कारं विधाय जनमानसे भगवन्तं प्रति भक्तिभावस्य प्रचारं कृतवन्तः। आचार्यशङ्करात् आरभ्य चैतन्यदेवं यावत् सर्वे तच्छिष्याश्च नवधाभक्तेः प्रसारं कृतवन्तः। तेन क्रमेण श्रीरूपगोस्वामिनः आविर्भावः जातः।

अयं हि रूपगोस्वामी मुकुन्दस्य पौत्रः कुमारस्य च पुत्रः, श्रीचैतन्यमहाप्रभोः साक्षात् शिष्यः आसीत्। भक्तिरत्नाकरग्रन्थानुसारेण अस्य जन्म पूर्ववङ्गे जैसोर-समीपे फतेयाबादे अभवत्। अस्मिन् स्थाने प्रायः चतुर्दशशताब्द्याः अन्तिमभागे रूपगोस्वामिनः पूर्वजाः आगत्य वासं कृतवन्तः। अस्य पूर्वजाः कर्णाटकप्रदेशीयाः भारद्वाजगोत्रीयाश्च आसन्।[4] मालाधरवसोः साहाय्येन रूपः सनातनश्च हुसेनशाहेन परिचितौ दरवारे नियुक्तौ।[5] हुसेनशाहेन तयोः स्वागतं विधाय मन्त्रिपदं प्रदाय धर्मपरिवर्तनं कारयित्वा नामपरिवर्तनमपि अकरोत्। सनातनः साकिरमलिक इति, रूपश्च दबिरखास इति प्रसिद्धौ।[6] 1514 ईशवीयवर्षे तस्य वासस्थानं रामकेलिं प्रति श्रीचैतन्यदेवस्य आगमनसमये तस्य दर्शनं प्राप्य नितरां प्रभावितः रूपः अन्ततः 1516 समये दरवारं त्यक्तवान्।

षोडशशताब्द्यां संस्कृतसाहित्यस्य श्रीवृद्धौ रूपगोस्वामिनः कवित्वम् आचार्यत्वं च अप्रितिमे। स्वप्रतिभायाः पाण्डित्यस्य च निकषभूतानां लक्ष्यलक्षणग्रन्थानां प्रणयनेन सह काव्यसर्जनस्य मणिकाञ्चनसंयोगः तस्मिन् उपस्थितः। तदेव हि रूपगोस्वामिनः कृतित्वस्य स्पष्टप्रमाणिकं निदर्शनम् अस्ति। श्रीजीवगोस्वामिकृतलघुतोषिणीव्याख्यानुसारेण रू-पगोस्वामिनः कृतयः निम्नलिखिताः लसन्ति-

1. हंसदूतम्,
2. उद्धवसन्देशः,
3. अष्टादशच्छन्दः,
4. उत्कलिकावल्लरी,
5. विदग्धमाधवम्,
6. ललितमाधवम्,
7. दानकेलिकौमुदी,
8. भक्तिरसामृतसिन्धुः,
9. उज्ज्वलनीलमणिः,
10. मथुरामाहात्म्यम्,
11. पद्यावली,
12. नाटकचन्द्रिका,
13. संक्षेपभागवतामृतम्,
14. गोविन्दविरुदावली,
15. प्रेमेन्दुमागरः,
16. आनन्दमहोदधिः,
17. मुकुन्दमुक्तावली।

स महम्मदीयानां राजसभायां स्थित्वापि स संस्कृतविदुषां विष्णुभक्तानाञ्च सम्माननं करोति स्म। रामकेलेः सामान्यदूरे रूपगोस्वामिना निर्मिता 'कन्हाई नाट्यशाला' नामा मूर्तिशाला आसीत्, या कृष्णभक्तेः तस्य ज्वलन्तं प्रमाणमस्ति। राजकार्येण सह निरन्तरं साधुसङ्गे शास्त्रचिन्तने च दत्तचित्तः सन् स राजपदात् असीमवैभवात् च शनैः-शनैः विरक्तः भवति। तस्मिन् समये स महाप्रभोः प्रशंसां श्रुत्वा गौडेश्वरात् निलीय तस्य दर्शनमकरोत्। महाप्रभोः निश्छलभगवद्भक्ताय नितरां प्रभावितः स तस्य शिष्यत्वं स्वीकरोति। तद्दिने एव प्रभुः भ्रातृद्वयस्य नाम परिवर्त्य तं रूपमिति अपरं सनातनमिति नाम्ना व्यभूषयत्। म्लेच्छजनसम्पर्ककारणात् यद्यपि तदा धर्मपरिवर्तनस्य आरोपः भवतु, परन्तु तस्य सम्पर्कस्तु नवद्वीपस्य वैष्णवधर्मेण सह आसीदेव, तथा प्रारम्भात् विष्णुभक्तिं प्रति स अवनतः आसीत्। अतः स्पष्टं भवति यत्- रूपगोस्वामी वैष्णवधर्मस्य अनुयायी , मुस्लिम-धर्मात् दीक्षितः नास्ति।

2.1.विदग्धमाधवम् – सहृदयहृदयाह्लादकारित्वात् रूपकेषु नाटकस्य सर्वादौ विदग्धमाधवं प्रथमं स्थानं वर्तते। 'विदग्धमाधवस्य' कथावस्तु श्रीकृष्णस्य श्रीराधायाश्च लीलामयचरित्रमाधारीकृत्य प्रवर्तते। अत्र राधा-कृष्ण-केलि-कथा अतिचमत्काररूपेण प्रस्तुता। श्रीकृष्णः भारतीयसंस्कृतौ सर्वाधिकः प्रभावशाली ऐतिहासिकः महापुरुषः वर्तते, यस्य चरितमुपजीव्य प्रस्तुतं नाटकं विरचितम्। अतः इतिहासप्रसिद्धकथानकम् उपजीव्य इयं रचना इति वक्तुं शक्यते। एतत्तु ध्यातव्यं यत् नवीनोद्देश्यसिद्ध्यर्थं नाटककारः रूपगोस्वामी इतिवृत्तयोजनं स्वदृष्ट्या अकरोत्, सामान्यप्रकरणवक्रतामाश्रित्य, तेन प्रसिद्धघटनाचक्रस्य पात्राणां च समुचितविनियोगः अभवत्। काव्यजगति राधाचरितस्य पूर्णविकसितं रूपं श्रीजयदेवस्य 'गीतगोविन्दे', लीलांशुकस्य श्रीकृष्णकर्णामृते राधाकृष्णप्रेमलीलायाः सुंदरं वर्णनं लभ्यते। श्रीरूपगोस्वामी सर्वमपि संस्कृत्य नाटकीयरूपप्रदानाय प्रयासमकरोत्।

अत्र नाट्यकारेण ज्ञातसारेण श्लिष्टशब्दस्य प्रयोगं करोति, उत्सुकतां वर्धयितुम्। अत्र नाट्यतत्त्वानुसारेण अवस्यन्दितं नाम वीथ्यङ्गम्। अत्र रंगमञ्चे स्त्रीजनानां प्रगल्भव्यापाराः लभ्यन्ते। कराला, मुखरा, जटिला च कलहनिपुणाः दण्डनिष्णाताः च दृश्यन्ते। नाटकेऽस्मिन् स्त्रीजनानां विदूषकाणां च संवादे पद्यभागः संस्कृते वर्तते। नियमानुसारं तत् प्राकृते भवितव्यमासीत्। स्त्रीणां संवादे गद्यभागः प्राकृते एवास्ति। गानयोग्यपद्यानि क्वचित् प्राकृते गायन्ति।

संवादेषु शाब्दिककौशलं, चमत्कारश्लिष्टपदानां प्रयोगः, प्रसङ्गानुकूलं शब्दविन्यासः चेतः प्रसादयन्ति। मधुमंगलस्य प्रश्नस्योत्तरे यदा कृष्णः मालां विना शून्यहृदयः इति वदति तदा साक्षात् मधुमंगलः कथयति- 'बालामिति भण'[7] अर्थात् मालास्थाने बालां (राधां) कथय।

नाटकीयपरिस्थिषु वैपरीत्यसन्दर्शनं कविना कौशलपूर्वकं विहितम्। यथा- रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्। तत् उदाहरणं इति नामके भूषणे अपि स्थापयितुं पारयामः।

वाक्यं यद् गूढतुल्यार्थं तदुदाहरणं मतम्।
शशी वृत्तो वह्निः परमहह वह्निर्मम शशी॥[8]

अर्थात् चन्द्रः वह्निरिव कार्यं करोति तथा वह्निः चन्द्रः इव शीतलः अस्ति। इयं वियोगसन्तप्तायाः राधायाः दशा वर्तते।

नाटके पात्राणां प्रवेशस्य सोद्देश्यं पूर्वसूचना भवेत्, कस्य चरित्रस्य प्रवेशस्य सम्भावनास्तीति। रूपगोस्वामिना तदर्थं श्लेषालंकारस्य आश्रयः नीतः। भिन्नार्थे प्रयुक्तानाम् अनेकार्थकपदानां श्लिष्टपदानां वा पात्रनामसंकीर्त्तनेन पात्रप्रवेशकौशलं प्रादर्शयत्। यथा सप्तमाङ्के वृन्दवनवनस्य शोभां प्रशंसन्ती वदति- अम्महे ललिता वृन्दावनलक्ष्मीः। (ततः प्रविशति ललिता वृन्दा च।) इदम् अदृष्टाहतेः उदाहरणमस्ति। चन्द्रावली यदा वृन्दावनस्य शोभासंदर्शने मुग्धा तदा राधागमनसूचिकयोः सख्योः ललितावृन्दयोः प्रवेशेन चन्द्रावली रुष्टा भवति।

तथैव

चन्द्रावलीं मामनुरुध्यमाना रुणद्धि पद्मे भवती बलेन।
मल्लीं तमालाभिमुखं मिलन्ती हिंस्रेव वल्ली पुरतः कराला॥[9]

इति श्रीकृष्णस्य कथनमात्रेण तत्र कराला समुपस्थिता भवति।

2.1.1.वनलतानां मानवीकरणम् - श्रीरूपगोस्वामिना वनलतानां मानवीकरणं बहुधा कृतम्। यथा-

स्मितं वितनु माधवि प्रथय मल्लि हासोद्गमं
मुदा विकस पाटले पुरटयूथि निद्रां त्यज।
प्रसीद शतपत्रिके भज लवंगवल्लिश्रियं
दधार सह राधया हरिरयं विहारस्पृहाम्॥[10]
अन्यत्र वनदेवी स्वयं पात्ररूपेण रंगमंचम् आरोहति।

नाट्यकारः कौशलेन शुकं सारिकां चापि पात्रीकरोति। नेपथ्यात् तयोः कथनं वाचयति। सारिका कथयति-चञ्चल सन्ध्याघन इव मुहूर्तरागं तनोति ते स्वामी।

वहति स्नेहं राधा केवलं नवनीतपुत्रीव॥[11]

एकविंशशतकीयानाम् आधुनिकानां नारीणां स्वरूपं वयं षोडशशतकीये अस्मिन् नाटके पश्यामः। राधा श्वश्रूविषये वदति- एषा कालरात्रिरिव दारुणा वृद्धा मां दृष्टवती। सर्वथा अभव्या इयं कटूक्तिः। एवं कटूक्तिः चन्द्रावली अपि करोति- अकाण्डकर्कशाया भवितव्यं चाण्डित्या ... चण्डिम्ना।

2.1.2.विदग्धमाधवस्य रचनाशैली - श्रीरूपगोस्वामिनः नाट्यशैली नितरां श्लिष्टा, शृङ्गाररसोद्दीपिका, संवादप्रवणा, कूटरचनाप्रवीणा, वाग्धारानिरूपिता वर्तते। तस्य शैलीं समीक्षमाणैराचार्यैः उपाध्यायोपाह्वयैः रामजीमहोदयैः सत्यमुक्तं तेषां आधुनिकसंस्कृतनाटकग्रन्थे- "रूपगोस्वामी श्लेषात्मकशब्दप्रयोगकुशलः आसीत्। यदा कृष्णः 'अपराधिकासु वल्लवीषु' कथयति तदा पौर्णमासी प्रतिवदति- अपराधिका कथम्? गोपीभिः सह राधा अस्ति एव खलु। क्वचित् श्लिष्टपदावली अक्षरसंघातनामकं भूषणं सृजति। वाक्यमक्षरसङ्घातो भिन्नार्थं श्लिष्टशब्दकम्। यथा- भवतैव समुल्लासितो कुसुमेषुरागो वल्लवीनाम्' इत्यत्र कुसुमेषु इत्यस्यार्थः कामः पुष्पं च। रूपगोस्वामिनः रूपकपरम्परा श्रेणीबद्धा वर्तते। उपमानानां चयनं दर्शनीयमेव। यथा, कृष्णमुखस्य उपमेयम्-

वदनदीप्तिविधूतविधूदया कुमुदधामधुरामधुरस्मिता।
नखजितोडुरियं हरिणेक्षणा तृणयति क्षणदामुखमाधुरीम्॥[12]

क्वचिच्च समानपदविन्यासेन संवादं सरसयति। यथा सप्तमे अङ्के- एषः पलाशी न खलु तव विलासी।[13]

काव्यशास्त्रानुसारेण काव्यं द्विविधम्- श्रव्यं दृश्यं चेति। प्रस्तुतः ग्रन्थः दृश्यकाव्यान्तर्गतः। प्रस्तुतग्रन्थकारः साहित्यदर्पणस्य नाट्यलक्षणवर्जनपूर्वकं श्रीभरतमुनेः मतेन नाटकं लक्षयितुं नाटकचन्द्रिका इति नाट्यशास्त्रीयं ग्रन्थं रचयति। अस्य लक्षणग्रन्थस्य दृष्टान्तरूपेण स विदग्धमाधवम्, ललितमाधवम् इति नाटकद्वयं प्रणयति। अस्मिन् नाटके नाटकस्य लक्षणं पूर्णरूपेण रक्षितं भवति। सर्वेषां नाटिकाचन्द्रिकोक्तलक्षणानुरूपं विषयनिर्वाहः अस्मिन् नाटके सुन्दररूपेण दृश्यते। प्रस्तुतग्रन्थे धीरोदात्तः लालित्यगुणयुक्तः श्रीकृष्णः एव दिव्यः नायकः , मुख्यरसः रसराजः शृङ्गारः भवति। सप्ताङ्कयुयस्यास्य ग्रन्थस्य प्रत्येङ्कं हि ग्रन्थकारः विविधकलाकुशलतया दर्शकानां तथा श्रोतृवर्गस्य आनन्दवर्धकसामग्रीं सम्पूर्णरूपेण सन्निवेशयति।

भक्तिव्याजेन मर्यादापूर्णशृङ्गारस्य चरमप्रकर्षः अत्र नाटके प्रदर्शितः। यथा-

सर्वस्वं प्रथमरसस्य यः प्रथीयान् कंसारेन्द्रयति राधया विलासः।
वक्तुं को विरमतु तं जनः समन्तादानन्दस्तिरयति चेद्गिरां न वृत्तिम्॥
हरिरेष न चेदवातरिष्यन्मथुराया मधुराक्षि राधिका च।
अभविष्यदियं विसष्टिर्मकराङ्गस्तु विशेषतस्तदात्र॥[14]

2.2.ललितमाधवम् - ललितमाधवम् रूपगोस्वामिनः द्वितीयं नाटकं वर्तते। अस्य रचना १५३७ ई.संवत्सरे अभवत्। कथितमस्ति- नन्देषु वैदेन्दुमिते शाकाब्दे(1459) समापयं भद्रवने प्रबन्धम्। विदग्धमाधवस्य इव अत्रापि श्रीकृष्णस्य चन्द्रावलीराधादिनायिकाभिः सह प्रणयक्रीडानां कथा वर्तते। वैष्णवानां मनोरंजनाय अस्य प्रथमाभिनयः राधाकुण्डतटे माधवमन्दिरस्य समक्षमभवत्। सम्भवतः मुक्ताकाशतले अस्थायिरङ्गमञ्चस्य व्यवस्था आसीत्।

ललितमाधवं कविनाट्यकारः स्वनाटकचन्द्रिकानुरूपं रूपकस्य सन्धि-सन्ध्यङ्ग-सध्यन्तर-नाटकक्षणादीनाम् उदाहरणं प्रस्तौतुं रचितवान्। अत्र प्रस्तावनायाः परम् अंकमुखं वर्तते। नाटकारम्भे अंकमुखस्य योजना विरला वर्तते। संस्कृतनाटकानाम् अंकमुखं द्विविधं वर्तते। एकतः अंकान्ते आगतैः पात्रैः अग्रिमांकस्य कथांशः सूच्यते।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।[15]

द्वितीयप्रकारे अंकमुखे प्रथमअंकात् पूर्वमेव सर्वेषाम् अंकांनां पूर्णतः नाटकस्य कथासारः प्रदीयते।

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला।
इदमेव द्वितीयप्रकारकम् अङ्कमुखं ललितमाधवे प्रयुक्तमस्ति।

रूपगोस्वामिना प्राचीननाट्याचार्याणां मान्यताः न स्वीकरोति। नाटकस्य नायकः धीरोदात्तः भवेत्। अस्य नियमस्य विपरीतम् अत्र नायकः धीरललितः वर्तते। नाटकस्य कथावस्तु प्रख्यातं स्यात्। तद्विपरीतमत्र कथावस्तु मिश्रं वर्तते। नारायणेन स्वटीकायां लिखितं वर्तते- ललितनायकगुणान्यैवात्र ग्रन्थे प्रकटनात् ललितमाधवाख्यं मिश्रेतिवृत्तयुतनाटकं चिकीर्षुः इत्यादि।

गावः कृष्णं प्रति स्ववत्सेभ्यः अधिकः प्रेमभावः वर्तते। नायिकाः स्वपतीन् उपेक्ष्य नानाव्याजमायाछलकपटैः उपपतिं कृष्णं प्राणपतिं स्वीकुर्वन्ति। प्रकृतेः पूर्णः शृङ्गारसम्भारः कृष्णोपचितः वर्तते।

नायकः प्रारम्भे किशोरवयःक्रमे वर्तते। स्वमात्रादीनां कृते सः बालकः अस्ति, गोपीभिः सह तस्य विलासः प्रवर्तितः वर्तते। एवं नायकयुक्तं नाटकं संस्कृते विरलमेव वर्तते।

रंगमञ्चोपरि नायकस्य गमनागमनं प्रचलति। विशुद्धे शास्त्रीये नाटके तु नायकः यदि एकदा रंगपीठम् आयाति, अङ्कान्तात् पूर्वं तस्य निष्क्रमणम् अनुचितम्। परमत्र प्रथमाङ्के कृष्णः स्वपित्रा मेलितुं रंगपीठात् चलितः पुनः राधया मेलितुं रंगपीठमायाति। द्वितीयाङ्के कृष्णस्य तथैव गमनागमनं चलति। अष्टमाङ्के एषा एव प्रवृत्तिः वर्तते।

विष्कम्भकान्ते नियमानुसारं सर्वेषां पात्राणां निष्क्रमणम् उचितम्, किन्तु अस्मिन् नाटके प्रथम-द्वितीयाङ्कयोर्मध्ये यः विष्कम्भकः वर्तते, तदन्ते कुन्दलतां विहाय केवलम् अन्यानि पात्राणि रंगपीठात् निष्क्रान्तानि।

ललितमाधवे अदृष्टाहति वर्तते। जटिला कृष्णं कथयति- एकया मम बधूट्या एव रक्षिता गोकुलस्य कीर्तिः।

अर्थात् केवलं मम बधूः राधा कृष्णप्रेमपाशात् निष्क्रान्ता इति गोकुलस्य कीर्तिं रक्षति। प्रेक्षकाः जानन्ति एन यत् जटिला स्वसरलस्वभावात् राधायाः प्रवृत्तिं न जानाति। पंचमाङ्के माधवी कृष्णम् अनभिज्ञाय वदति-

'रे महासाहसिक धृष्टनर्तकयुवराज, मुंचैनां महाराजपुत्रिकाम्।' इयम् अदृष्टाहतिः वर्तते। सा न जानाति स्म यत् राधा अस्य नटवरस्य कृते प्राणान् त्यजति इति।

प्रेक्षकाः नाटकस्य नेकेषु दृश्येषु हास्याप्लुताः भवन्ति। यथा द्वितीयाङ्के जटिला राधां कृष्णात् रक्षितुमिच्छति। से बचाना चाहती वर्तते, किन्तु तां भ्रामयित्वा विप्रवेशधारी कृष्णः राधायै सूर्योपस्थाननाम्ना प्रेममन्त्रमेव ददाति। स्वयं जटिला अस्मिन् कार्यक्रमे अध्यक्षा वर्तते। द्वितीयतृतीयाङ्कमध्यस्थे विष्कम्भके वर्तमानकालस्य परिस्थितिः वर्णिता।

यथास्थानं सन्ध्यन्तराणां समावेशः वर्तते। यथा- देव, वाढमातपत्रफणापटली लघीयसः किंकरस्यास्य गरुत्मतः सकृत्पक्षविक्षेपकेलयेऽपि न, पर्याप्तिमेष्यति। दूरे विभ्राभ्यतु सखा मे सुदर्शनः कल्पान्तकृशानुः, इति ओजः इति सन्ध्यन्तरं वर्तते।

नाट्यनिर्देशानां विविधता तथा नवीनता स्थाने स्थाने लभ्यते। चतुर्थे अङ्के एकः नाट्यनिर्देशः वर्तते- इति नासया थूं थूं कुर्वती सलीलं रोदिति।

लोकानुरञ्जनस्य सामग्री रूपगोस्वामिना व्यावहारिकपरिहासैः अपि दत्ता वर्तते। यथा- चतुर्थे अङ्के शुकशारिकासंवादेन जटिलायै सूचना प्रदीयते यत् माधवः अभिमन्योः वेशं धृत्वा मम गृहम् आगमिष्यति। यदा वास्तविकतया अभिमन्युः स्वगृहसमीपे आयाति तदा जटिला भ्रान्तिवशात् माधवं मत्वा भारुण्डा-कुन्दलतादीनां समक्षं प्रकाशयति। माता जटिला पुत्रस्य हस्ते धृत्वा वदति- गोपीभिः लम्पटतां करोति, अन्यगृहं लुण्ठति। वस्तुतः अभिमन्युः लज्जया पलायनं कृत्वा तारस्वरेण चीत्करोति- माता भूतग्रस्ता वर्तते। सर्वे ज्ञातवन्तः यं जटिला माधवं कथयति, सः वस्तुतः तस्य पुत्रः अभिमन्युः एव वर्तते। तदनु यदा स्वयं माधवः अभिमन्युरूपेण आयाति तदा जटिला तं अभिमन्युं मत्वा स्वागतं वदति। जटिला पश्यति तस्याः वधूः अपि तस्मिन् प्रीणाति, यद्यपि वस्तुतः माधवः आसीत्। जटिला तस्मै वदति- सन्ध्यासमये सा स्पष्टं न पश्यति। कृत्रिमाभिमन्युरूपधारी माधवः तस्यै अञ्जनं प्रदातुं वदति। पुनः वधूः वृक्षतले मया सह गन्तुं न इच्छति। जटिला राधां गन्तुं निर्दिशति। अनेन प्रकारेण नायकनायिकयोः परिहासात्मकेन छद्मना मेलनं भवति। इदम् अभूताहरणमिति सन्ध्यङ्गस्य उदाहरणं वर्तते।

छद्म कदाचित् नाट्यकारस्य अतिप्रियं संविधानं वर्तते। कामप्रभावात् आत्मानं रक्षितुं कृष्णः शिवरूपेण स्थातुमिच्छति। सः मधुमंगलं कथयति-

ललाटे काश्मीरैः कुरु मम दृशं पावकमयीं
दधीथाः भोगीन्दुद्युतिमुरसि मुक्तामणिसरम्।
तनोः कण्ठं मुक्त्वा जनम घनसारैर्धवलतां
हरभ्रान्त्याभीतस्तुदति न यथा मां मनसिजः।।[16]

एवं मनःस्थित्या सः विनोदाय नववृन्दावनं चलति, यत्र सत्यभामारूपेण राधा आसीत्।

आवश्यकतायां सत्यां नायकादिभिः असत्यभाषणप्रवृत्तिः छद्मपरायणतामेव प्रकटीकरोति। प्रेमानुवृत्तौ तथा परिस्थितिः आगच्छति यत्र आत्मरक्षार्थं मिथ्याभाषणं करणीयं भवति। अष्टमाङ्के कृष्णः राधया सह स्वसम्पर्कं गोपायितुं चन्द्रावलीं भ्रामयितुं वदति- सौगन्धिका माला यमुनानिर्झरपातेन विशीर्णा। वस्तुतः सा माला राधालिङ्गनात् त्रुटिता आसीत्।

छद्मनः अन्यरूपं श्लेषात्मकेन अर्थेन वर्तते। यदा माधवी चन्द्रावलीविषये वदति- यदेषा न सत्यभामा, तदा कृष्णः भामा इत्यस्य श्लिष्टार्थं समर्थयन् इव वदति- यदेषा न सत्यकोपा देवी।

विविधकार्यव्यापारशब्दानां भ्रान्तियुक्तार्थः नायकादिभिः निरूप्यते। अनुरागयुक्तानां हृदयं कम्पितमिव भवति। सापल्यकारणात् वस्तुस्थित्यवगमनात् पूर्वमेव भीतैः जनैः नायकदाक्षिण्यकामैः वा तथा किमपि क्रियते यस्य प्रेक्षणात् प्रेक्षकस्य हास्यः समुत्पद्यते। मधुमंगलस्य शुकः कथयति- वृन्दावने स्फुरत्येषा माधवी सुमनस्विनी॥

एतच्छ्रुत्वैव राधा चन्द्रावलीसखी माधवी आयाति इति कन्दरायां निलीना वर्तते। सा श्रोतुमेव प्रतीक्षां न करोति यत्- भवति स्तवको यस्या जगद्भूषणभूषणम्। वस्तुतः माधवीलतायाः विषये शुकेन उक्तमासीत्।

न केवलं शाब्दिकस्य अपितु आर्थिकस्य छद्मनः अपि प्रयोगः वर्तते। दशमाङ्के राधा यदा कालीयह्रदे प्रविशति, तदा आश्चर्यचकिता भवति यदा कोऽपि सर्पः तां न दशति। पृष्ठतः कृष्णः तां धरति। सा चिन्तयति सर्पः, परं किमर्थं न दशति? परावर्त्य कृष्णं मिलति।

2.2.1.प्रकृतिचित्रणम् - नाटके नायकः कृष्णः विष्णोः अवतारः वर्तते। तस्य मानवोचितलीलायां परोक्षतः सूर्यः, ब्रह्मा, शिवादयः देवाः तथा प्रत्यक्षतः सुपर्णः (गरुडः), नारदः विश्वकर्मा च सहायकाः वर्तन्ते। तदतिरिक्तं प्रकृतिरूपिणी शरद्, हंसिनी, कीरः, हारीतः इत्यादयः पक्षिणः। मानवोचितकार्यकलापेषु एते सर्वे व्यापृताः दृश्यन्ते। कौस्तुभं प्रति कृष्णः कथयति- सखे कौस्तुभ, सोऽयं विलासिनी विश्लेषणलब्धशोकः ... विस्तारय मयूखलेखाम्। सः तथैव करोति।

प्रकृतिः बहुधा अस्याः लम्बायमानायाः कथायाः पूर्तिं विदधाति। तथापि प्रत्येकं नायकः स्वकार्यव्यापारस्य प्रातिस्विकतां सुरक्षितां स्थापयति।

अत्र भल्लूक-मल्ल-प्रकृतिरूपेण विराजमानः अस्ति। सः विन्ध्याय समाचार ददाति – कृष्णस्य राधामेलनम द्रष्टुं चल इति। अत्र गोवर्धनः रैवतकादिपर्वता अपि दृश्यन्ते।

2.2.3.शैली - रूपगोस्वामिनः पूर्णरूपेण शब्दाधिकारः आसीत्। सिंहनिमित्तं पारीन्द्रस्य, नवदलस्य कृते संवर्तिकायाः, गूलरपुष्पस्य कृते भाण्डीरस्य, उपासनायाः कृते वरिवसितस्य, श्रुतम् इत्यस्य कृते कर्णयोः प्राङ्गणमधिरूढम्, कृष्णस्य कृते दर्वीकरारिकेतोः, श्रेष्ठगोः कृते नैचिकीशब्दस्य प्रयोगं करोति।

श्लेषप्रयोगद्वारा अर्थालङ्काराणां समञ्जसता सर्वत्र दरीदृश्यते। यथा-

भूयो भूयः स्वयमनुपमा क्लान्तिमासादयन्ती।
मन्दाक्रान्ता भवति जगतः क्लेशदात्री हि चित्रा॥[17]

अत्र मन्दः वर्तते शनिः तथा कंसः तथा चित्रा वर्तते नक्षत्रम् तथा राधा। अत्र छन्दः अपि मन्दाकान्ता वर्तते।

अन्यत्र उपमेयः सर्वथा निगीर्णः वर्तते। राधायाः परिचये यथा-

अत्र पूर्ववर्तिलेखकानाम् असङ्ख्यग्रन्थानां सौरभं स्थाने स्थाने लभ्यते। दशकुमारचरितस्य इव अस्य नायकादिप्रकृतिः इतस्ततः व्यापृता कथमिव जीवन्ती अन्ततः दशमाङ्के चित्रविचित्रगाथाभिः मिलता वर्तते। उत्तररामचरितस्य इव नवमाङ्के चित्रदर्शनं चित्ताकर्षकम वर्तते। महावीरचरितस्य बालरामायणस्य इव वा अत्र छायातत्त्वं तथा गर्भाङ्कनाटकं विशेषतां धत्ते। अत्र प्रियतमवियोगेन प्रेयसी पशुपक्षिभ्यः पृच्छा विक्रमोर्वशीयस्य स्मृतिम् आनयति। अविमारक-नागानन्द-रत्नावलीत्यादीनामिव नायिका नायकवियोगेन स्वप्राणविसर्जनाय समुद्यता वर्तते।

स्वीयप्रौढतायाः सम्पन्नतायाः च कारणात् ललितमाधवं महानाटकं प्रतीयते।

2.3. हंसदूतम् - संस्कृतसाहित्ये कालिदासकृतमेघदूतात् परं रूपगोस्वामिप्रणीतं काव्यमिदं विशेषमहत्त्वपूर्णं वर्तते। यत्र कालिदासः मेघदूतस्य रचनां सामान्यमन्दाक्रान्ताच्छन्दोभिः कृतवान् तत्र रूपगोस्वामी दूतकाव्यस्य रचनां सुमधुरमाधुर्यरसपरिपूर्णैः भक्तियुक्तशिखरिणीछन्दोभिः रचितवान्। इदं लक्ष्यग्रन्थेषु श्रव्यकाव्यस्य कोट्यां स्वीकर्तुं शक्नुमः। महाकविभवभूतिमुद्दिश्य- भवभूतेः शिखरिणी

निरर्गलतरङ्गिणी, रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति' इति यदुक्तं सुवृत्ततिलककारेण क्षेमेन्द्रेण तदत्रापि सुप्रयोज्यमनुभूयते।

यदा गोपीहृदयमदनो नन्दसदनात् गान्धिन्यास्तनयमनुरुन्धन् मधुपुरीं गतः विरहिणी राधा तदा घनघूर्णापरिचयैरगाधायां वाधामयपयसि चिन्तासरिति अमाङ्क्षीत्॥ तस्याः विरहिण्याः वर्णने शतमुखः भवति कविः। हंसस्य मार्गम् आदिशन्ती श्रीराधा व्रजपुरीतः मथुरापुरीं यावत् वर्णयामास। अक्रमेण सकलविहारलीलास्थलीमपि यथा-

किरन्ती लावण्यं दिशि दिशि शिखण्डस्तवकिनी, दधाना साधीयः कनकविमलद्योतिवसनम्।
तमालश्यामाङ्गी सरलमुरलीचुम्बितमुखी, जगौ चिचं यच प्रकटपरमानन्दलहरी॥[18]

विरहिणः नायकस्य वर्णना शिखराधिरूढा वर्तते-

मुहुः शून्यां दृष्टिं वहसि रहसि ध्यायसि सदा, शृणोषि प्रत्यक्षं न परिजनविज्ञापनशतम्।
अतः शङ्के पङ्गेरुहमुखि ययौ श्यामलरुचिः। स यूनामुत्तुंसस्तव नयनवीथीपथिकताम्॥[19]

मानिनी विविधवचोभिः स्वमनोभिलषितम् अभिव्यनक्ति-

कदा प्रेमोन्मीलन्मदनमदिराक्षीसमुदयं, बलादाकर्षन्तं मधुरमुरलीकाकलिकया।
मुहुर्भ्राम्यचिल्लीचुलुकितकुलस्त्रीव्रतमहं, विलोकिष्ये लीलामदमिलदपाङ्गी मुरभिदम्॥
रणद्भृङ्गश्रेणीसुहृदि शरदारम्भमधुरे, वनान्ते चान्द्रीभिः किरणलहरीभिर्धवलिते।
कदा प्रेमोद्दण्डस्मरकलहवैतण्डिकमहं, करिष्ये गोविन्दं निविडभुजबन्धप्रणयिनम्॥[20]

श्रीरूपगोस्वामिविरचितस्तवमालाग्रन्थस्थानि 45 स्तोत्राणां शब्दझङ्कारः अनुप्रासप्रासः अन्त्यानुप्रासस्य चारुता च दर्शनीयाः सन्ति। यथा प्रथमे श्रीकुञ्जविहार्यष्टके -

राधिका वदनचन्द्रचकोरः सर्ववल्लववधूधृतिचोरः।
चर्चरीचतुरताञ्चितचारी चारुतो जयति कुञ्जविहारी॥[21]

रूपगोस्वामिना नाट्यशास्त्रोपरि ग्रन्थस्यापि रचना कृतास्ति। अस्य ग्रन्थस्य नाम नाटकचन्द्रिकाऽस्ति। ग्रन्थोऽयम् अष्टखण्डेषु विभक्तः अस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे नाटकस्य स्वरूपस्य पर्याप्तं विवेचनमास्ते। ग्रन्थारम्भे रूपगोस्वामी लिखति यदस्य ग्रन्थस्य रचनायै तेन भरतस्य नाट्यशास्त्रम्, शिङ्गभूपालस्य रसार्णवसुधाकरञ्चाधीतवान्। नाटकचन्द्रिकायाः विषयाः निम्नाङ्किताः सन्ति- नाटकस्य सामान्यं लक्षणम्, नायकवर्णनम्, रूपाकाणामङ्कानि, सन्ध्यादिकानां प्रकाराः, अर्थोपक्षेपकस्य, विष्कम्भकादिकस्य च भेदाः, नाटकस्याङ्कानां दृश्यानां च विभाजनं, भाषाविधानम्, वृत्तिविचारः, रसानामनुसारेण तेषां प्रयोगश्च। अस्य ग्रन्थस्य उदाहरणानि प्रायेण वैष्णवग्रन्थेभ्य एव स्वीकृतानि सन्ति।

2.4. उपसंहारः - एवं यदि श्रीरूपगोस्वामिनः ग्रन्थसम्भारं शब्दचमत्कारं च निरीक्षामहे, सर्वत्र प्रासादिकम् अर्वाचीनयुगानुरूपं प्रयोगनैपुण्यं च प्राप्नुमः। कुत्रापि मध्ययुगीनमान्यतानां भारं न पश्यामः। अतः प्राचीनाचार्येषु परिगणितस्य आचार्यस्य श्रीरूपगोस्वामिनः सामग्रिकं साहित्यम् अर्वाचीनसाहित्यस्य सर्वैरेव लक्षणैः विभूषितमिति तमेव वयमर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य आद्यप्रस्थानाचार्यरूपेण मानयितुं शक्नुमः।

सन्दर्भाः -

[1]आधुनिक संस्कृत नाटक [नये तथ्य नया इतिहास], भाग-1, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन, गोपालमन्दिर लेन पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001पुनर्मुद्रित संस्करण 2014, पृ.5-50।

[2] पृ.8, अग्रलेखः, आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये पश्चिमवङ्गस्य योगदानम्, नारायणदाशः, तुहिनाप्रकाशनी, कलिकाता-6, 2013।

[3] निःसन्देह लगभग दसवीं शती तक के नाटकों को लेकर संस्कृत-साहित्य के देशो और विदेशी इतिहासकारों ने अच्छे ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु उन्होंने परवर्ती युग की संस्कृत रचनाओं को उपेक्षा भाव से देखा है। उनका अभिमत है कि दसवीं शती के पश्चात् संस्कृत में कोई अच्छी रचना यदि हुई भी तो वह अपवाद स्वरूप हो हुई। इस असत्य उद्घोष से न विचलित होने वाले महातपस्वी स्वर्गीय एम. कृष्णमाचार्य ने History of Classic Sanskrit literature नामक इतिहास अंगरेजी में १९३७ में लगभग ११०० पृष्ठों में प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने आदिकाल से लेकर अपने समय तक लिखी हुई सभी संस्कृत रचनाओं का परिचय देने का अनुपम प्रयास किया है। इस मनस्वी को पदे पदे स्मरण करते हुए तथा उनसे उत्साह और प्रेरणा ग्रहण करते हुए यह महाग्रन्य सम्पन्न हो सका है।

प्रस्तुत इतिहास में संस्कृत नाटकों के विषय में अपनी दृष्टि से मैंने उन सभी बातों का समावेश किया है, जिनसे उनके सम्बन्ध में पाठकों को नीचे लिखी भ्रान्तियाँ अथवा पूर्वाग्रह दूर हो जायें- (१) दसवीं शती के बाद संस्कृत रचनायें भाषा और भाव की दृष्टि से हीन कोटिक और निष्प्राण हैं। (२) परवर्ती रचनाओं में भाषा, भाव भोर शैली की दृष्टि से पहले के महाकवियों का थोथा अनुकरण मात्र है। (३) आधुनिक युग में संस्कृत में कुछ लिखा ही नहीं गया। अपनी वात, आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग-1, रामजी उपाध्याय।

[4] चैतन्यचरितावली, प्रभुदत्तब्रह्मचारी, खण्ड-4, पृ. 38।

[5] एडवान्स्ट हिस्टरी आफ इण्डिया, डा.कालीकिंकरदत्त, भाग-2, पृ. 346-347।

[6] हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसफी, डा.एस्.एन् . दासगुप्ता।

[7] पृ.65, तत्रैव।

[8] 2.3, तत्रैव।

[9] 7.28, तत्रैव।

[10] 5.64॥

[11] 5.37॥

[12] 3.25, तत्रैव।

[13] पृ. 18-19, आधुनिकसंस्कृतनाटक, रामजीउपाध्यायस्य हिन्दीमूलात् मया संस्कृतीकृतम्।

[14] 7.2-3, तत्रैव।

[15] दशरूपकम्, 1.62।

[16] विदग्धमाधवम्, ६.४५।

[17] तत्रैव,2.9।

[18] हंसदूतम्, श्लो.17।

[19] तत्रैव, श्लो.38।

[20]स्तवमाला, श्लो. 102।

[21] श्लोकः-2।

स्वप्नदूते नदीमातृकाः

• कपिलेश्वर साहु*

शोधसारः – साम्प्रतम् आपत्कालेषु जलसंरक्षणं विषयमुपस्थाप्य आलोचकानां मतमस्ति यत् नद्यः दैविकसम्पदा भवन्ति। अतः रक्षणीयाः भवन्ति। मानवजीवनेन सह नदीनां अङ्गाङ्गी सम्बन्धमस्ति। अतः कविभिः स्वीये काव्यनाटके नदीनां विषयः उल्लेखः कृतः। अस्यां परम्परायां दूतकाव्येषु विशेषत्वेन किञ्च तत्र भौगोलिकाः विषयाः विराजमानाः सन्ति। अतः नदीनां वर्णनं ते स्वकीयः लेखन्यः प्रमुखविषयत्वेन स्वीकृत्य अस्य महत्त्वं प्रतिपादितम्। अस्मिन् क्रमेण आधुनिक संस्कृतदूतकाव्येष्वन्यतमं स्वप्नदूतमिति काव्येऽपि नदीनां उल्लेखः प्राप्यते। यस्मिन् विषये प्रकाशः शोधपत्रस्यास्य विषयत्वेन स्वीकृतः।

कूटशब्दाः – जल-संरक्षणम्, पवित्रम्, नदी, संस्कृतिः, इतिहासः, ज्ञान-विज्ञानम्

मोक्षप्रदाः नद्यः अस्माकं देशस्य गौरवस्य विषयभूताः भवन्ति। पक्षान्तरे वदामश्चेत् नद्यः भारतीयानाम् आस्था-श्रद्धा-विश्वासस्य परिचायिकाः भवन्ति। यत्र भारतीया संस्कृतिः संरक्षिता सम्वर्धिता चाऽस्ति। प्राचीनकाले भारतीयसंस्कृतौ नदीनां महनीया भूमिका आसीत्।

जलम् आद्या सृष्टिः वर्त्तते। तां बिना जीवनस्य कल्पनामपि नैव कर्तुं शक्यते। जलस्याधारभूताः नद्यः भवन्ति। अतः तस्याम् पार्श्वदेशे जनवसतिः तिष्ठति। मानव जीवनस्य सुसञ्चालनार्थं भवतु अथवा यत्किमपि प्रायशः सर्वेषु क्षेत्रेषु नदीनां महत्त्वं सर्वस्वीकार्यमस्ति। वैदिकऋषेः विद्या-बुद्धि-तपस्यायाः आधारस्थलीयं नदी।

भारतीय धार्मिकपरम्परायां प्रायशः नद्यः गङ्गातुल्या पूतापवित्राश्च भवन्ति। जलस्य संस्पर्शेण शुद्धतामागच्छतीति अस्मदीया भारतीया परम्परा। वेदे विश्वामित्रनदी सम्बादसूक्ते नद्यः संस्तुताः। लौकिकसंस्कृतस्य अयमारम्भे महर्षिणा वाल्मीकिना विरचिते रामायणस्य प्रादूर्भावः तमसातीरे अभूत्। व्याकरणपरम्परायां नदीनां महत्त्वमङ्गीकृत्य तत्र नदीनां नामानि वैयाकरणैः नीतवन्तः। महर्षिणा पाणिनिना समास प्रकरणे नदीभिश्च[1] इति सूत्रमुल्लिख्य तथा च व्याकरणग्रन्थेषु सुवास्तु- सिन्धु-विपाश्-

*शोधच्छात्रः, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

उद्धय-भिद्य-देविका-सरयू-अजिरवती-शरावती-चर्मण्वती-गङ्गा-यमुना-रथस्पा-उदुम्बरावती-मशकावती-विरणावती-पुष्करावती-इक्षुमती प्रभृतयः नदीनां वर्णनं नदीनां महत्त्वं सूचयति।

अष्टसप्ततिः श्लोकपरिमितं दूतकाव्येऽस्मिन् काव्यस्य मर्ममधिगन्तुं मन्दाक्रान्ता-शार्दूलविक्रीड़ितं-स्रग्धरा-वंशस्थादिनां छन्दसां प्रयोगः कविना कृतः। एतत् दूतकाव्यमधिगम्य पाठकाः सहदयाः विपश्चिताश्च सर्वे आनन्दिताः भूत्वा काव्यरसस्वादनेन स्वात्मानं कृतार्थमामनन्ति जलसंरक्षणं प्रति च अग्रसराः भविष्यन्तीति मे विश्वासः।

संस्कृतगीतिकाव्यानां विशेषतो दूतकाव्यानामेकं स्वतनत्रमाकर्षणं विद्यते। समयस्य परिवर्तनेन सह संप्रति दूतकाव्यक्षेत्रेऽपि नूतनपरीक्षा सञ्जाता। दूतकाव्यमाध्यमेन विरहस्य सन्देशप्रेषणं क्रियते। सम्प्रति दूतकाव्यं पुराकाले विरचितानां दूतकाव्याद्भिन्नतां स्वीकृत्य नूतनतां प्राप्नोति।

महाकवेः कालिदासस्य मेघदूतं संस्कृतस्य दूतकाव्यपरम्परायां मूलोपजीव्यमस्तीति नास्त्यत्र शङ्कावकाशः। मेघदूतस्य साफल्येनोद्बुद्धाः प्रेरिताश्च सन्तः परवर्तिनः कवयः दूतकाव्यानि व्यरचयन्। अद्यपि दूतकाव्यानां रचना प्रचलति। पुनश्च नैके विधयः अपि दूतकाव्यक्षेत्रे द्रष्टुं शक्यते। तेषु स्तोत्रमूलकानि, शृङ्गारमूलकानि, उपदेशमूलकानि, सन्देशमूलकानि, हास्यविनोदव्यङ्ग्योपहासमूलकानि, आध्यात्मिकभावान्वितं भक्तिभावमूलकानि च दूतकाव्यानि प्रमुखाः भवन्ति। प्रस्तुतोऽयं दूतकाव्यं शृङ्गारप्रधानम् अस्ति।

स्वप्नदूतम् – स्वप्नश्चासौ दूतश्च स्वप्नदूतः स एवाभेदोपचारात्ततत्संज्ञं काव्यं स्वप्नदूतम्। स्वप्नसमये दूतः यस्मिन् काव्ये तत्काव्यं स्वप्नदूतम्। स्वप्नकाले काचिद्यतोऽत्र दूतकर्म निर्वाहयति ततः काव्यमिदं स्वप्नदूतमिति नाम विधत्ते। एवं त्रिधा विग्रहं वहन्तं स्वप्नदूताख्यं काव्यं भवति प्रणयसन्देशात्मकम्। समाजवादी चिन्तनस्य प्रकटनम् अत्र कविना कृतम्। आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये दूतकाव्यमिदं आषाढ़स्य प्रथमदिवसे सप्तत्यधिकम् ऊनविंशतितमशतकस्य जुनमासस्य षोड़षतमे दिनाङ्के प्रकाशितं जातम्।

उत्कलकालिदास-प्रज्ञावाचस्पति-भारतकेशरी-वाणीरत्न-पण्डित-प्रबोधकुमारमिश्रमहाभागाः संस्कृतसाहित्यस्य सृजनात्मकक्षेत्रे सुमहद्योगदानं दत्तवन्तः। विशेषतया सः गीतिकाव्यक्षेत्रे नवसंख्यकानि दूतकाव्यानि विरच्य समग्रेविश्वे प्रसिद्धः जातः। इतोऽपि प्रायशः शतसंख्यकानि काव्यानि आङ्ग्ल-ओडिया-संस्कृतभाषायां विलिख्य ते स्वकीयप्रतिभायाः परिचयं विश्वसाहित्ये दत्त्वा नैकेषु उपाधिषु विभूषिताः वर्त्तन्ते।[2] अयं सुरभारत्याः समुपासकाः देव्याः सरस्वत्याः वरपुत्रः ख्रीष्टीयः त्रिचत्वारिंशदधिकोनविंशतितमे शतके अक्टूवरमासस्य अष्टादशतमे दिनाङ्के (18.10.1943) भारतवर्षस्य उत्कलप्रदेशस्य कटकमण्डलान्तर्गतस्य सरपड़ा इति ग्रामे जनिं लेभे।

काव्यस्यास्य मुखबन्धः भारतवर्षस्य प्रज्ञापुरुषेण श्रीमता सर्वपल्लीराधाकृष्णन्-महोदयेन लिखितः। एवं च भारतवर्षस्य तत्कालीन राष्ट्रपतिना माननीयैः भि. भि. गिरि महोदयैः काव्यमिदं पुरस्कृतम्। स्वप्नदूतस्य रचयिता पण्डितः प्रबोधकुमारमिश्रो भवति उत्कलीयदूतकाव्यपरम्परायां मूर्धन्यस्थानस्याधिकारी। केवलं तेनैव अद्यावधि नवसंख्यकानि दूतकाव्यानि विरचितानि। यस्माद्धेतोः ते उत्कल-कालिदासः पदमलंकुर्वाणः सन्ति।

काचित् मुग्धा-नवोढ़ा-प्रणयिनी-विरहविधुरा नायिका स्वस्याः स्वप्नावस्थायां गृहपालितामेकां सारिकां दूती रूपेण नियोज्य दिल्लीनगरे वृत्तिजीविरूपेण वसन्तं स्वप्रियतमं प्रति सन्देशं प्रेषयति। प्रसङ्गेऽस्मिन् भुवनेश्वरनगरादरभ्य दिल्लीनगरीं यावन्मार्गवर्णनं प्रस्तुतमस्ति। तदनन्तरं विरहिणः प्रियस्य वर्णनं कृत्वा साऽन्तिमे सन्देशवचनं श्रावयति। अन्तिमे कान्तस्य शुभकामनां कृत्वा सा सन्देशमुपसंहरति। अनेन काव्यमिदं सम्पूर्णतां प्रति गच्छति।

मिश्रवर्याणां भाषायाः सारल्यं, भाव-व्यञ्जना, प्रतीकात्मकशब्दानां प्रयोगः, विषयानुरूपं छन्दोयोजना, अलंकारविच्छितिः, प्रणयाभिव्यक्तिः, मार्मिकसन्देशस्तथा च प्राञ्जलचित्रणकलाकल्पनायाश्च भावानुकूलमधुराभिव्यक्तिः, सङ्गीतस्य मधुरत्वं, वैदर्भी रीतेः प्रयोगः इत्यादिकं दूतकाव्यस्यास्य महत्वं प्रदर्शयति। काव्यमिदं कवेः प्रथमा सृष्टिः वर्त्तते इति कविनोद्घोषितं स्मृतिदूतस्य चतुश्चत्वारिंशत्यधिकं एकशततमे श्लोके द्रष्टुं शक्यते। तद्यथा-

आद्यं काव्यं स्मृति-रतिभरं स्वप्नदूतं प्रमाणं, तत्पश्चाद्वै सरस-मलयादूतकं जाति मान्यम्।
तत्पूर्वाद्वै सफल-कविता वन्दिनः देशचिन्ता, प्रज्ञादूतं रचितमिह वा रक्तझंकार-काव्यम्।।[3] इति।

स्वप्नदूते नद्यः - बौद्धिकस्तरे मानवीयचेतनायाः उन्मेषात् पूर्वं प्रागैतिहासिककालादारभ्य अद्यावधि पर्यन्तं नद्यः मानवीयजीवनेन सह सम्बन्धितमस्ति। जलमेव जीवनमिति धिया जलस्याधारत्वेन नदीनां विशिष्टमहत्त्वम्। विशेषतः आर्यावर्त-भारतवर्षं नदीमातृका देशत्वेन समग्रेविश्वेऽस्मिन् प्रसिद्धोऽस्ति। अतः भारतभूमेः सुयोग्यपुत्राः कविर्मनीषी विद्वांसः तेषां विरचितेषु काव्यसम्भारेषु नदीनामं सुमहत्स्थानं दत्तवन्तः। उत्कलकालिदासः पण्डित-प्रबोधकुमार-मिश्रमहाभागस्य विरचिते स्वप्नदूतेऽपि नदीनां चित्रं स्पष्टरूपेण चित्रितम्। येषां वर्णनोऽधः प्रदीयते –

दयानदी - दधीचिमुनेः नामानुसारं नदीयं विख्याता। पुराकाले अस्याः नद्याः नाम दधिभद्रासीत्। क्रमशः नाम्ना अपभ्रंशो भूत्वा दधिया ततः दहिया ततः दया इति नाम संप्राप्ता। इयं नदी भारतवर्षस्य उत्कलप्रदेशस्य खोर्धामण्डलस्य बालकाटीग्रामपार्श्वस्थ सरदेइपुराद् समुद्गमोऽस्ति।[4] भुवनेश्वरतः दिल्ली (देहली) नगरीं प्रति सन्देशयात्रायां गम्यमाना काव्यस्यास्य नायिका द्वारा प्रेषिता सुमधुरस्वरनिनादिनी-सारिका सर्वप्रथमे दयानदीं द्रक्ष्यति। शुभकमलपरिपूर्णा-सर्पद्वारापरिवेष्टिता-सारङ्गारम्या-विविधपुष्पविमण्डिता-सूर्यकिरणाच्छादिता-सुरम्यां दयानदीं पश्यति। या दयानदीं स्वकीयां लहरिसदृशा हस्तमुत्तोल्य कलिङ्गयुद्धे सम्राट् अशोकस्य विकम्पमानः हस्ताद्गलितां अस्त्रशस्त्रस्य गाथां श्रावयति। प्रतीयते यत् कविना वर्णितं नदीयं मानवीयरूपं धृताऽस्ति। कवेर्भाषायाम् –

किञ्चित्पश्चादृत्वा शभकमलभरा व्यालवृन्दातिलोला।
सारङ्गारम्यगर्भा हरिकरसुभगा ते दयान्दर्शनीया।।
यावीचि व्याजहस्तान् कपिसुतचलितान् नित्यमुत्तोल्य नष्टां।
चण्डाशोकस्य कम्पद्भुज-मद-गलितां शास्त्रगाथां विचष्टे।।[5]

महानदी तथा काठजोड़ी – भारतस्य षडतमबृहत्तमा नदीषु उत्कलप्रदेशस्य नदीयमन्यतमा। छत्तिशगढ़राज्यस्य धमतरिमण्डलस्य अमरकण्टकाद् निसृत्य उत्कलदेशे प्रवहति। पुराणेषु संप्राप्ता

चित्रोत्पला अस्याः नामान्तरमासीत्। महाभारतस्य भिष्मपर्वणः ज्ञायते यदस्या तीरदेशे भारतीय आर्याणां वसतिरासीदीति।[6] अस्याः उपनदीषु काठजोड़िनदी अन्यतमा। काव्यनायिकाद्वारा प्रेषिता सा सारिका उत्तरस्यां दिशि व्योममार्गात् कटकनगरस्य श्रीसम्पन्नः वरनदी-युगलं महानदीं तथा च काठजोड़ीति नाम्ना प्रसिद्धाः नदीद्वयं पश्यति। या नदीद्वयं प्रस्तरबन्धवेष्टिता भूत्वा मरकत-केशरी नृपतेः कीर्तिगानं विघोष्य दृप्तसिंहः रूपेण विराजिताः भवन्ति। यथा –

दूरं गत्वोत्तराशां सुकटक-नगरं वीक्ष्यसे व्योममार्गात्-
श्रीसम्पत्सुप्रसन्नं प्रथित-वरनदीयुग्मयोषिद्वरान्तम्।
प्रख्यातैः सेतुबन्धैर्मरकत-नृपतेः कीर्तिगीति विघोष्य
दृप्तं दण्डायमानं विलसति रुचिरं प्राक्तनैरैतिहैर्यत्।।[7]

पुनश्च कटकचण्डी-देव्याराधनायाः मानसिकशान्तिमवाप्य तथा च उत्कलमणि-गोपबन्धुदासमहोदयस्य आदर्शं वहन्तं तेषां भवनस्य संदर्शनेन शारीरिकदृष्ट्या प्रसन्नो भूत्वा सा अभिनवा कान्तिमती महानदीतटस्थ जोब्रा इति स्थाने स्थित्वा स्रोतोधारोच्छ्वसित गरिमोद्गारदृप्ता पवित्रतोया-महानदीं पश्यति। यथा कवेर्भावनायाम् –

दुरं गत्वा प्रतिनव-रुचोर्मण्डलैर्मण्डिताङ्गी
स्थित्वा जोब्रा-पथतट भूवां वीचिपाणिप्रसन्नां ।
स्रोतोधारोच्छ्वसित-गरिमोद्गारदृप्तां विशाला-
मन्तः शुद्धां सपदि तटिनीं लोकयेस्तां प्रसिद्धाम्।।[8]

विरूपानदी – उत्कलप्रदेशस्य कटकनगरस्य सालेपुरात् निसृत्य याजपुरमण्डले प्रवाहिता इयं नदी। या महानद्याः शाखानदी आसीत्। काव्ये वर्णनाप्रसङ्गे उच्चस्थानेषु उड्डीयमाना सा सारिका चन्द्रकिरणे विशोभितं धवलप्रासादेषु परिपूर्णं तथा च विरूपानदीद्वारा वेष्टितं यन्त्रशिल्पादिद्वारा गर्वितं उत्कलप्रदेशस्य कटकमण्डलस्य चौद्वारनगरं द्रक्ष्यति। कवेर्कल्पनायां चौद्वारनगरं यन्त्रशिल्पादि द्वारा सुसमृद्धमस्ति इत्यस्माद्धेतोः तत् राक्षसपुरिमिव भ्रममुत्पादयति।

उड्डीयाच्चैस्ततस्तद् विधुकरधवलोद्दीप्त-सौधव्रजान्तं
द्रक्ष्यसि त्वं विरूपा-वलय-वलयितं यन्त्रशिल्पातिदृप्ताम्।
कृत्यैर्नव्यैः मनोहृत् खलु सपदि चतुर्द्वार मालोलशोभं
लोकाकीर्णां सुशान्ते ! दितिजवरपुरीभ्रान्ति माशंसते यत्।।[9]

गङ्गानदी – भगवान् विष्णोश्चरणाङ्गुष्ठाज्जाता गङ्गानदी सगरतनयेन भगीरथेन स्वात्मवंशपूर्वजानां समुद्धर्तुं स्वर्गात् पृथिव्यां प्रति समानीताः इति पौराणिकी वार्ता। पुनश्च भगवतः शिवस्य शिरसा शोभायमाना इयं पतितपावनासूरधूः गङ्गा। सामाजिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक-आर्थिकदृष्ट्या च इयं नद्याः अत्यन्तं महत्त्वपूर्णा भवति। भारतेवर्षे नदीयं पवित्रतमा वर्त्तते। उपासनादृशा माता तथा देव्या रूपेणापि वन्दिता पूजिता च। पुराणसाहित्ये भवतु अथवा साहित्यिक सन्दर्भे सर्वत्रैव अस्याः नद्याः संपूजिता। सौन्दर्यदृष्ट्या भवतु महत्त्वदृष्ट्या वा भवतु **गङ्गानदी** सर्वेषु क्षेत्रेषु समादरपूर्वकं भारतीयसाहित्ये पाश्चात्यसाहित्येऽपि

प्रशंसिता वर्णिता च।[10] काव्येऽस्मिन् स्वप्नावस्थायां नायिका दूती सारिकया वदति यत्, हे स्नेहमयि ! आकाशे व्योममार्गे सत्वरगमनहेतोः समग्रनगर्यां सौष्ठवं सन्दर्शयितुं बहुसमयः न प्राप्स्यति। परन्तु गङ्गानद्याः वेष्टिताः कलिकता महानगर्याः शुभ्रशोभां दृष्ट्वा त्वया निश्चितमेव मुग्धाः प्रसन्नचित्ताश्च भविष्यतीति। कवेर्वचनेन –

तत्राशु स्नेहसिक्ते ! त्वरितगतितयाव्योम्नि संशुभ पक्षे !
दुःखार्ता स्यादलब्ध्वाऽखिल-नगर-रुचो लोकने दीर्घकालं।
किन्त्वेवं मुग्धचित्ताऽदितिसुतातटिनी वेष्टितानां विलोक्य
शोभां शुभ्रां प्रकामं प्रियकर ललिते ! कालिकापत्तनानाम्।।[11]

गर्भदेशे पुष्पाणि प्रभृतयः भासमानाः सन्तः धवल-बहलां फेनराशिं दधानां, मन्त्रध्वनि-प्रमुखर तटां जाह्नवीगङ्गानदीं आकाशमार्गात् त्वया संवीक्ष्य शीघ्रमेव अग्रेसरति। कवेर्कल्पनायाम् –

दर्शं दर्शं व्रतति-तनुजा-व्रात-विस्तार-वर्या-
मानीलापां धवल-बहलां फेनराशिं दधाना।
मन्त्रध्वनि-प्रमुखर तटां जाह्नवीं व्योममार्गात्
लीलादृष्ट्या विमल-सलिलां पास्यसीति प्रमाणम्।।[12]

अस्याः देवपूज्या-पतितपावनीगङ्गा नित्यशुद्धाः भवति। सा गङ्गा अद्य स्वकीया लहरीवत् हस्ते सगरतनयानां वंशसमुद्धरणरूपं प्रथितगौरवस्य प्रकाशनं विदधाति। यस्य वर्णनं कवेर्वाचामुद्गीरति –

शुद्ध (शुची) नित्यमर-वर-नुता जाह्नवीं पावनीय-
मानिता या सगरतनयेनात्मवंशपावनाय।
वीचि-व्याज-स्फुट-शतकर स्पर्धिनी सारिके ! सा
गीतिं गाति प्रथित-गरिम-द्योतिनीं श्रोत्रपेयाम्।।[13]

स्वप्नमोहात् नायिका सारिकां प्रति कथयति यत्, तत्र गङ्गाकूलस्थां विपणीमालां दृष्ट्वा त्वं आनन्दमनुभविष्यसि। किञ्चिद्दूरे बहुशः जनानां अस्पष्ट-कोलाहलमपि श्रोतुं शक्ष्यति। श्राव्ययन्त्रैः प्रचारितं नूतनां कथां श्रुत्वा एवं च विपुल-नगरी-सौष्ठवं वीक्ष्य आनन्दिताः भविष्यति। काव्यकारस्य भाषायाम् –

दृष्ट्वा हृष्टा सपदि विपणीमालिनीं तीरभूमिं
पश्चाद्दूरेऽगणित जनताऽस्पष्ट-कोलाहलञ्च
श्रावं श्रावं नवनव-कथाज्ञापनं श्राव्ययन्त्रैः
दर्शं दर्शं विपुल-नगरी-सौष्ठवं नन्दिताऽसि।।[14]

फल्गुनदी – बिहारराज्यस्य गयाप्रान्ते नदीयं प्रवहति। स्वप्नसमये सारिकां प्रति नायिका कथयति यत्, त्वया विरलाप्लानेटोरीयं दृष्ट्वा ततः परं किञ्चित् दूरं प्रति गत्वा तेजोदीप्ता प्राचीना-बुद्धगया द्रष्टुं शक्ष्यति। तस्मिन् निकटे प्रवाहिता फल्गुनदीं प्रति प्रणामं निवेदनं करिष्यति। या पुण्यतोया नदी महात्माबुद्धदेवस्य स्नानद्वारा गौरवान्विता भवति। अर्थात् नदीयं अत्यन्तं पवित्रामनोहराञ्चास्ति। यथोक्तं कविना –

दुरं गत्वा विपुल महसा-दीप्तिमाप्तां पुराणां
लोकेथास्त्वं सुविदित गयां बुद्ध-बोधिद्रुमान्ताम्।
पुण्याम्भोभिः ध्रुवमनुदिनं गौरवं ख्यापयन्त-
मन्तःशुद्धां प्रणत शुभदां फल्गुमेतां वहन्तीम्।।[15]

पवित्रा नदीयं बुद्धदेवस्य चरणधौतद्वारा नयनाभिरामात्वेन विराजिता। पुनश्च इयं कीर्तिमती-तटिनी अद्यापि बुद्धदेवस्य वाणीं श्रोतुमिच्छति। अर्थात् कविना अत्र निर्देशं कृतमस्ति यत् मानवाः महापुरुषाणां वचनेन श्रद्धा स्थापनीया। सदुपदेशेन जीवनं मार्जितं तथा च शुभप्रदं भवति। कवेः कल्पनया –

शुद्धाबुद्ध-प्रवर-चरण-क्षालनेनाभिरामा
स्रोतोऽधीरा प्रथित-पुरुष-स्पर्शकर्षैर्लसन्ती।
अद्याप्येवं विरचितनुतिः क्लुप्त-कीर्ति-प्रतीका
बुद्धोद्बुद्ध-स्फुट-मधुगिरां कामनाया चकास्ति।।[16]

त्रिवेणीसङ्गमः (प्रयागक्षेत्रम्) – गङ्गायमुनासरस्वतीनां सङ्गमः इयं स्थली शोक-ताप-पापानां विनाशिका अस्तीति पुराणप्रसिद्धा कथा। वाराणस्यां शोभां विलोक्य तत्रस्थानां जनानां आनन्दवर्धनाय सारिका स्वकीया स्वभावसुलभां वाणीं प्रकाशयति। ततः परं किञ्चित् दूरे आह्लावादे तीर्थराजप्रयागक्षेत्रे स्नानं कृत्वा पूतापवित्राश्च भविष्यति। यथा –

दर्शं दर्शं विपुलनगरी-श्रीमथो श्रोत्रपेयां
तत्रत्यानां विरचय मुदे स्निग्धवाणीं स्वभावात्।
आह्लावादे प्रविश च सखे ! मुक्तवेणीं त्रिवेणीं
किञ्चिद्दूरे क्षणमुपसर स्नानशुभ्रां भवाथ।।[17]

आर्यविनुता मुक्तेः भवनकल्पा त्रिवेणीं प्रणम्य किञ्चित् दूरं प्रति गत्वा प्रेमसौधं ताजमहलस्य दर्शनं करिष्यति। कवेर्भाषायाम् –

दृप्तां मुक्ति-प्रभव-भवनां शुद्धतोयां त्रिवेणी
मार्यन्ब्रात-घृतज-विनुति-स्पर्धिनी तां प्रणम्य-
किंचिद्गत्वाऽकलित-ममता-भाजन ! प्रेमसौधं
सोत्क शोभा-विभव-वीभरं लोकसे ताजराजम्।।[18]

यमुनानदी – गङ्गानद्याः सहायिका नदीयम्। पुराणानां अनुशीलनेन ज्ञायते यत् यमुनानदी सूर्यस्य आत्मजा यमराजस्य भगिनी च। पापविनाशिनी मोक्षदा पवित्रा इयं नदी। अधीरानायिका सारिका स्वप्नावस्थायां कथयति, हे स्नेहमयि ! तत् चिरन्तनप्रेम्णः मधुरस्मृतिरूपं ताजमहलं प्रेमगाथां वहन्तं अद्यापि उत्तरप्रदेशस्य आग्रामण्डले विशोभितम्। तां गाथां यमुनानदी लहरीगीतरूपेण प्रकाशितं करोति। अर्थात् शाश्वतप्रेणः वाहिका इयं नदी। हा हन्त ! प्रियविरहे अद्याऽहं दैववशात् अश्रुविनिर्गत्य अधीराऽस्मि। कविः वदति -

हे स्नेहार्द्रे ! प्रणयमधुरा संस्मृतिः शाश्वती या
स्वर्गीयाद्योल्लसति महले प्रेमगाथां वहन्तीम् ।
तां तामुच्चैः रटति यमुना लोलहिल्लोलगीतैः।
हा हन्ताहं ! खलविधिवशात् क्रन्दनिर्विन्न दृष्टिः।।[19]

तत्र साहाजाहानस्य प्रणयिनी ममता मूर्तिमती अस्तीति प्रतिभाति। प्राणस्य गुरुतमशोचना तथा च व्यथा तत्र लीलायिता भवति। यमुनानद्याः तीरप्रदेशं दिव्यामृतेन प्लाविता भवति। हा हन्त ! सृष्टेः प्रणयमधु एव धन्यतां वहति एवं च एतत् सौभाग्यवशादेव प्राप्तुं शक्यते इति कवेराशयः। कवेर्कल्पनया-

साजाहानं प्रणय-ममतोद्वेदनं मूर्तिमत् यत्
तत्र प्राण-स्फुट-गुरुशुचः शायिता लीलयैव।
दिव्य-प्रेम-क्षरित सुधया प्लाविता तीरभूश्च
धन्यं सृष्टौ प्रणय-मधुरं हन्त ! सौभाग्य-भोग्यम्।।[20] इति।

भारतवर्षस्य सुमहत्परम्परायां देशस्य कोणानुकोणे प्रवाहिता एते नद्यः अस्माकं एकतायाः परिचायिका भवन्ति। अस्मदीया संस्कृतिः वसुधैव कुटुम्बकमिति भावनया प्रेरिता प्रचोदिताश्च। नद्यः संयोगिता रूपेण देश-देशान्तरं संयोजयति। इत्थं ज्ञायते यत् नदीनां संयोगमेव वयं सर्वे राग-द्वेषो विनिर्मुक्तो सन् सर्वेषां प्रति समभावसम्पन्नो भूत्वा स्वात्मानं पुनीमहे इति। वस्तुतः स्वप्नदूते नदीनां वर्णनाद्वारा प्रेम्णः तथा च पुण्यस्य अपूर्वसमन्वयस्य संदर्शनं भवति। पुनश्च एतस्याम् ऐतिहासिक वर्णनाद्वारा सहृदयाः इतिहास सम्बन्धिन्यः विषयेन सह परिचिताः भवन्ति।

शोधार्थी यदि दूतकाव्येषु सन्निहिताः भौगोलिकवर्णनं तथा च नूतनत्वस्य सन्धानं कर्तुमिच्छन्ति चेत् ते लेखनीं सञ्चालयितुं प्रभवन्ति। इति शम्।

सन्दर्भाः -

[1] अष्टाध्यायी, २.१.२०

[2] प्रबोध कुमार दूतकाव्य ग्रन्थावली

[3] स्मृतिदूतम्, श्लोक-१४४

[4]https://or.wikipedia.org/wiki/%E0%AC%A6%E0%AD%9F%E0%AC%BE_%E0%AC%A8%E0%AC%A6%E0%AD%80#cite_note-Daya-2

[5] स्वप्नदूतम्, १९

[6]https://or.wikipedia.org/wiki/%E0%AC%AE%E0%AC%B9%E0%AC%BE%E0%AC%A8%E0%AC%A6%E0%AD%80

[7] स्वप्नदूतम्, २१

[8] तत्रैव, २६

[9] तत्रैव, २७

[10]https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%97%E0%A4%82%E0%A4%97%E0%A4%BE_%E0%A4%A8%E0%A4%A6%E0%A5%80

[11] तत्रैव, ३०

[12] तत्रैव, ३४

[13] तत्रैव, ३५

[14] तत्रैव, ३६

[15] तत्रैव, ४६

[16] तत्रैव, ४७

[17] तत्रैव, ५४

[18] तत्रैव, ५५

[19] तत्रैव, ५६

[20] तत्रैव, ५७

पर्यावरण विज्ञान के वानस्पतिक आयाम

• प्रो. प्रयाग नारायण मिश्र*

शोधसार - परि तथा आ उपसर्ग-पूर्वक वृञ्-वरणे धातु में ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न पर्यावरण शब्द को संस्कृत वाङ्मय के आद्यज्ञानकोश वेदों में परिधि, पर्यावृत्ति इत्यादि रूपों में अन्वेषित किया जा सकता है। परिधिर्जीवनायकम्[१] कहकर अथर्ववेद में परिधि से अभिप्राय ऐसे घटकों से है जो बाह्य शक्ति के रूप में स्थूल प्राकृतिक परिवेश की रक्षा करने में समर्थ हैं। इसीलिए अथर्ववेदोक्त उस परिधि को ही पर्यावृत्ति अर्थात् पर्यावरण मानकर पर्यावरण को अधोलिखित शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है।

बीजशब्द - पर्यावरणम्, बृहदारण्यकोपनिषद्, उद्भिजसृष्टि, चरकसंहिता, वृहद्वास्तुमाला, ताम्बूल, पञ्चपल्लव, श्रीफल, भवमोक्षप्रदा

क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर सञ्तक पञ्चमहाभूत, स्थावर-जड़-जङ्गम आदि जागतिक पदार्थ, समस्त प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक भौतिक तथा अभौतिक उपादान जो सृष्टि में अन्योऽन्याश्रित रहकर परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हुए **'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**[२] की शाश्वत परम्परा को चरितार्थ करते हुए मूर्त या अमूर्त रूप में सूक्ष्म या स्थूल रूप में सत्ता सम्पन्न प्रतीत होते हैं वे सभी पर्यावरण के समन्वित द्योतक है। इसीलिए पञ्चमहाभूतों के साथ वृक्ष, लता, गुल्म, वनस्पति, सरित् सरोवर, जङ्गल-पर्वत, पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, जलवायु, ऋतुएँ तथा आसपास के सम्पूर्ण परिवेश की गणना पर्यावरण के अन्तर्गत करके स्वरचित शब्दों में कहा जा सकता है-

पर्यावरणमेवेदं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन यत्नेन संरक्षेत् पर्यावृत्तिं जगन्निधिम् । ।

पर्यावरण संरक्षण की इसी समसामयिक सञ्चेतना का धर्मशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अन्वेषण करने हेतु भारतीय धर्म के मूल[३] वेदों की अनुगामिनी स्मृतियों के ज्ञान-विज्ञान को साम्प्रतिक समाज में धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है-

*समन्वयक तथा प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः[४]

प्रातः स्मरण की श्रृङ्खला में गणेश-विष्णु-शिव तथा अन्य देवों के साथ ग्रहाधिपति, जडजङ्गमस्थावराधिपति सूर्य-सहित नवग्रहों का स्मरण करके धर्मशास्त्र में सर्वप्रथम पर्यावरण के परमतत्त्व पञ्चमहाभूतों से सुन्दर प्रभात की याचना की गयी है-

पृथिवी सगन्धा सरसास्तथापः स्पर्शो च वायुज्वलितं च तेजः।
नभः सशब्दं महता सहैव कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ।।[9]

धर्मशास्त्रीय चिन्तन प्रवाह के मूल में ऋषियों का तपःपूत जीवन तथा उनकी जीवनचर्या पर्यावरण-संरक्षण का प्रतिमान प्रतीत होती है। इसीलिए कलियुग में सर्वाधिक मान्य[१०]पाराशर-स्मृति में धर्म जिज्ञासु ऋषियों की धर्म पिपासा को प्रशान्त करने हेतु महर्षि व्यास जिस बदरिकाश्रम में अपने पिता पाराशर के पास ऋषियों को ले जाते हैं वह पर्यावरण-विज्ञान का देदीप्यमान प्रतिमान माना जा सकता है-

नानावृक्षसमाकीर्णं फलपुष्पोपशोभितम् ।
नदीप्रस्रवणोपेतं पुण्यतीर्थैरलङ्कृतम् ।
मृगपक्षिनिनादञ्च देवतायतनावृतम् ।
यक्षगन्धर्व सिद्धैश्च नृत्यगीतैरलङ्कृतम् ।।[११]

आज पर्यावरण-विज्ञान के बहुआयामी चिन्तनक्रम में वन-सम्पदा का अप्रतिम स्थान है। क्योंकि वन-संरक्षण मात्र से ही मृदा संरक्षण, वायु-प्रशोधन, वृष्टि-सम्पादन तथा स्वस्थवातावरण जैसे विविध आयामों के साथ सर्वप्राणि-कल्याण की शाश्वत परम्परा संरक्षित की जा सकती है। इसीलिए धर्मशास्त्रीय चतुर्विध सृष्टि में उद्भिज सृष्टि का अपना विशिष्ट महत्त्व है। धर्मशास्त्रीय परम्परा में उद्भिज जीव भी अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण प्रायः तमोगुण से युक्त होकर अन्तश्चेतना वाले तथा सुःख-दुःख से युक्त बताये गये हैं-

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुःखदुःखसमन्विताः ।[१२]

इसीलिए तो बृहदारण्यकोपनिषद् में एक सुन्दर उपमान-श्रृङ्खला के द्वारा मनुष्य तथा वृक्षवनस्पति आदि में सादृश्य की स्थापना की गयी है-

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः।
त्वच् एवास्य रुधिरं प्ररूपन्दि त्वच् उत्पटः ।
तस्मात् तदातृणात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ।
मांसान्यस्य शकराणि किनाट् स्नाव तत् स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता।।[१३]

इसीलिए मनुस्मृति में उद्भिजसृष्टि का वर्णन भी विस्तरतया किया गया है-

उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्याः फलपाकान्ताः बहुपुष्पफलोपगाः ।
अपुष्पाः फलवन्तो ये वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पाणि फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः।
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृण-जातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्लभ एव च।।[१४]

मनुस्मृति में प्रोक्त उद्भिज के प्रायः इन्हीं भेदों की पुष्टि चरकसंहिता में की गयी है-

भौममौषधमुद्दिष्टं औद्भिदं तु चतुर्विधम् ।
वनस्पतिर्वीरुधश्चैव वानस्पत्यस्तथौषधिः।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्याः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृतः ।।[१५]

वैदिकवाङ्मय के अनुसार प्रत्यक्ष भूत दो प्रकार की हवाएँ सागर-पर्यन्त तथा सागर से दूर-देश पर्यन्त प्रवाहित होती हैं। एक बल को प्राप्त करती है दूसरी दूषित वायु को बाहर निकालती है।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरापरावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रयः।।[१६]

ऋग्वेद में शुद्धप्राणवायु को जीवन हेतु उपयोगी बताकर प्राणवायु हेतु प्रार्थना की गयी है-

यददौ वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे ।।[१७]

इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रार्थना की गयी है-

वात आ वात भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूंषि तारिषत् ।।[१८]

वायु का समाश्रय लेकर ही समस्त प्राणियों का जीवन सम्भव है। इस मनोवैज्ञानिक तथा परमव्यावहारिक तथ्य का समर्थन मुक्तकण्ठ से धर्मशास्त्र में किया गया है।[१९]

सम्पूर्ण वायु मण्डल का शोधन करके प्राणवायु का सञ्चार विविध वृक्षों-वनस्पतियों तथा लता-गुल्मों से ही सम्भव है इसीलिए अधोलिखित रूपों में औषधियों, वनस्पतियों की स्तुति की गयी है-

- ❖ औषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरूपठुवे।[२०]
- ❖ औषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम् "[२१]
- ❖ वायुगोपा वै वनस्पतयः [२२]
- ❖ अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा विवयं रुहेम [२३]

सम्भवतः इसीलिए रुद्रहृदयोपनिषद् में रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः इत्यादि रूप में बहुशः वृक्षलता आदि की प्रशंसा की गयी है।

मनुस्मृति में प्रोक्त चतुर्विध सृष्टि क्रम में उद्भिद के जिन भेदों की चर्चा की गयी है उसके अतिरिक्त भी उनके भेद-प्रभेद होते हैं जैसा कि शार्ङ्गधरसंहिता में प्रोक्त है-

दिव्यौषधीनां बहव प्रभेदाः वृन्दारकाणामिव विस्फुरन्ति ।
ज्ञात्वेति सन्देहमात्रस्य धीरैः सम्भावनीया विविधप्रभावाः ।।[२४]

वृक्षादि के इसी बहुविध अवदान को दृष्टि में रखकर धर्मशास्त्र में एक वृक्ष को दश पुत्रों के समान बताकर लिखा है-

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः ।
दशह्रदः समः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः ।[२५]

चाणक्यनीति में भी एक ही सद्वृक्ष की स्थापना से सत्पुत्र द्वारा कुल-साफल्य की भाँति महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है-

एकेनाऽपि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा।।[२६]

इसलिए धर्मशास्त्र में धर्मार्थरहित बहुत से पुत्रों की अपेक्षा मार्ग में आरोपित एक वृक्ष को भी श्रेष्ठ बताया है-

बहुभिर्वत किं जातैः पुत्रैर्धर्मार्थवर्जितैः।
वरमेकः पथितरुर्यत्र विश्रमते जनः ।।[२७]

वृहद्वास्तुमाला में वृक्षारोपण की प्रेरणा देते हुए अनेकधा प्रोक्त है-

सदा सावित्री भविता सदा दानं प्रयच्छति।
सदा जन स पूज्येत यो रोपयति पादपम्।
फलदा पुष्पदा चैव पापं संहरते ध्रुवम् ।
यदि करोति घनच्छायः पादपः पथि रोपितः।
न तत् करोत्यग्निहोत्रं न पुत्रा योषितोद्भवाः।
अतः सर्वगुणोपेतान् वृक्षानारोपयेत् सुधीः ।।[२८]

बृहत्संहिता में तो वृक्षारोपण करने वाले को सर्वविध सुख-शान्ति से समन्वित होकर स्वर्ग-फल प्राप्ति तक का निरूपण किया गया है-

यो वाटिकां राजपथः समीपे स्विष्टां तथा कूपसमन्विताञ्च
स्वर्गे च वासं लभते मनुष्यश्चतुर्युगं सर्वसुखैरुपेतः ।।[२९]

इसी तरह एक स्थल पर प्रोक्त है कि पीपल, नीम तथा बरगद का एक-एक वृक्ष, इमली के दश वृक्ष, कैथा, बेल तथा आंवला के तीन-तीन वृक्ष तथा आम के पाँच वृक्षों का रोपण करने वाला कभी भी नरक को प्राप्त नहीं करता है-

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिणीनाम् ।
कपित्थविल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्ररोपी नरकं न पश्यति ।।[३०]

मनुस्मृति में देश की सीमाओं की सुरक्षा तथा संरक्षण की दृष्टि से जिन वृक्षों के आरोपण का विधान मिलता है वे सर्वथा अत्युपयोगी हैं-

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन् सालतालाश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ।
गुल्मान् वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नंश्यति।।[३१]

वृहद्वास्तुमाला में आरोपणीय वृक्षों का कथन करके अश्वत्थ न्यग्रोधादि के फल का प्रवचन इस प्रकार किया-

अरिंष्टाशोक पुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः।
माङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा।[३२]
यत्राश्वत्था न्यग्रोधाः महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिवुद्धा अभूतन् ।।[३२क]

इन वृक्ष वनस्पति आदि की इसी बहुविध उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही विविध प्रकार के फलों-पुष्पों तथा धान्यों के साथ ताम्बूल, पञ्चपल्लव, श्रीफल तथा सर्वोषधि का विधान धर्मशास्त्र में प्रोक्त है-

यवधान्यतिलाकङ्गुः मुद्गचणकश्यामकाः।
एतानि सप्त धान्यानि सर्वकार्येषु योजयेत।।
मुरामांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।
सठी चम्पक मुस्ता च सर्वोषधिगणः स्मृतः।।
अश्स्वत्थोम्बर प्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः।
पञ्चपल्लवमित्युक्तं सर्वकर्मसुशोभनम् ।।[३३]

जिन वृक्षों को स्थापित करने की भूरिशः व्यवस्था प्राप्त होती है उनमें बरगद, गूलर, पीपल, आम तथा पाकड़ का ग्रहण पञ्चपल्लवों में होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में तो नवग्रहों का उल्लेख करके तत्तद्देवों हेतु विहित विशिष्ट समिधाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है-

अर्कः पलाशः खदिर अपामार्गोऽथपिप्पलः।
उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधाः क्रमात् ।।[३४]

और अधिक क्या कहा जाये धर्मशास्त्र में तो उन्माद तथा अतिमोह के विनाश-हेतु भी विशिष्ट समिधाओं का विधान प्राप्त होता है-

क्षीर वृक्ष समिद्धोमादुन्मादोऽपि विनश्यति ।
औदुम्बरसमिद्धोमादतिमोहः क्षयं व्रजेत ।।
अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः।
व्रीहिर्यवश्च भेषजो दिवस्पुत्रावमर्त्यौ।।[३५]

इसी क्रम में तुलसी-विल्व-शमी-पीपल-आदि वृक्षों का धर्मशास्त्रीय महत्त्व पर्यावरण विज्ञान का पोषक प्रतीत होता है। भारतीय धर्मशास्त्र तुलसी की वायु प्रदूषणरोधी अचूक शक्ति-सम्पदा से परिचित है इसीलिए तो प्रोक्त है-

तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः।
दिशो दश पुनत्याशु भूतग्रामांश्चतुर्विधान् ।।[३६]

और अधिक क्या कहा जाये प्राण-विध्वंसक महाप्रलयङ्कारी विकराल-काल यमराज के गण भी उस घर पर नहीं आते जहाँ तुलसी-पादपों का वर्चस्व होता है तो भला अन्य अपघातक शक्तियों की क्या गति होगी-

तुलसी काननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तं गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः ।।[३७]

इसीलिए जगत्पोषक हरि के सहित विविध पूजाक्रमों में तुलसी की विशिष्ट महत्ता बतायी गयी है-

अभिन्नपत्रां हरितां हृद्यमञ्जरिसंयुतम् ।
क्षीरोदार्णवसम्भूतां तुलसीं दापयेद्धरिम् ।।
निषिद्धे दिवसे प्राप्ते गृह्णीयाद् गलितं दलम् ।
तेनैव पूजां कुर्वीत न पूजा तुलसीं विना।।[३८]

तुलसी को एक देवी के रूप में प्रतिष्ठित करके उसके पूजन का विधान भी इसके इसी महत्त्व का पोषक है-

तुलसी श्रीर्महालक्ष्मीर्विद्याऽविद्यायशस्विनी।
धर्म्या धर्मानना देवी देवीदेवमनः प्रिया।।
तुलस्यहं नमामि त्वां त्वं सदा केशवप्रिया।[३९]

भवमोक्षप्रदा कहकर तुलसी के पर्यावरण-पोषकत्व की पराकाष्ठा भी तदर्पण मन्त्र में द्रष्टव्य है-

तुलसीं हेमरूपां च रत्नरूपां च मञ्जरीम्।
भवमोक्षप्रदां रम्यामर्पयामि हरिप्रियाम् ।।[४०]

इसी तरह भारतीय धर्मशास्त्र विल्व वृक्ष की सर्वतापहरी त्रिजन्मपापसंहारक अमृत शक्ति से परिचित है इसीलिए तो लोक कल्याण-कारक साक्षात् शिवस्वरूप भगवान् शङ्कर के लिए विल्वपत्रार्पण करते समय पठित मन्त्र है-

त्रिदलं त्रिगुणाकारं त्रिनेत्रं च त्रिधा युतम् ।
त्रिजन्मपापसंहारं विल्पपत्रं शिवार्पणम् ।।[४१]

विल्व-वृक्ष की महत्ता का मूल इसके श्रीवृक्षत्व के प्रमाण में निहित माना जा सकता है-

आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथविल्वः।
तस्या फलानि तपसानुदन्तु याऽन्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मी।।[४२]

ऐसे ही शमी शमयते पापं शमी शत्रु-विनाशिनी कहकर मानो शमी वृक्ष को पर्यावरण-विध्वंसक घटकों का विनाश करने वाला बताकर समस्त प्रकार के अमङ्गल तथा दुष्कृत्यों एवं दुःस्वप्नों का प्रशमन करने वाला बताया गया है-

अमङ्गलानां शमनीं शमनीं दुष्कृतस्य च ।
दुःस्वप्ननाशिनीं धन्यामर्पयेऽहं शमीं शुभम् ।।[४३]

अहर्निश आक्सीजन का उत्सर्जन करने वाले पीपल के वृक्ष को परम तपसाधनोपयोगी बताते हुए नारद- स्मृति का वचन है-

अश्वत्थमूलमाश्रित्य जपहोमसुरार्चनात् ।
अक्षयं फलमाप्नोति ब्राह्मणो वचनं यथा।।[४४]

इसीलिए तो स्कन्दपुराण में अश्वत्थ वृक्ष में कण-कण में व्याप्त रहने वाले जगदाधार विष्णु की अनेकशः प्रतिष्ठा बतायी गयी है-

मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्थे केशव एव च।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः।
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्वदैवैः समन्वितः ।।[४५]

सर्वरोग हरा निम्बा कहकर जिस नीम के वृक्ष को देवी के निवास के रूप में पूजने की परम्परा समाज में प्रचलित है उसका कीटनाशकत्व, शैत्यप्रधान स्वरूप तथा तापापहारक वर्चस्व सर्वविदित है तभी तो चरकसंहिता में प्रोक्त है-

व्यायामोद्वर्तनं धूमं कवलगृहं मज्जनम् ।
सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत कुसुमागमन् ।।[४६]

वाटिका-वन-उपवन आदि की प्रतिष्ठा सर्वथा अरिष्ट नाश के लिए ही होती है इसीलिए तो वाटिका के संरक्षण हेतु सचेत होकर बाह्य प्रदेश में बाँस का रोपण करके शमी-खदिर वकुल आदि के रोपण का निर्देश प्राप्त होता है-

वाटिकायाः बहिः पूर्वे रोपयेद् वंशवृक्षकम् ।
उत्तरे च शमी बाह्ये पश्चिमे खदिरो बहिः।
दक्षिणो बकुलो बाहोऽरिष्टनाशाय केवलम् ।।[४७]

वृक्षादि के पर्यावरण-पोषक होने के कारण ही उनके प्रतिदिन सेवन सेवा तथा सूश्रषा हेतु स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं-

सायं प्रातश्च धर्मतौ शीतकाले दिनान्तरे।
वर्षासु च भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः ।।[४८]

ठण्डक-गर्मी तथा वर्षा से वृक्षों को विविध प्रकार के रोग तथा विकार आ जाते हैं उनकी इन विकारों तथा रोगों से रक्षा के अनेक उपाय भी प्रोक्त हैं-

शीतवातातपैः रोगो जायते पाण्डुपात्रता।

अवृद्धिश्च प्रवालानां शाखाशोषो रससुतिः।
चिकित्सतमथैतेषां शस्त्रेणादौ विरोधनम्
विडङ्ग घृतपङ्क्तान् सेचयेत् क्षीरवारिणा।।[४९]

पर्यावरण संरक्षण के लिए कृतसंकल्प धर्मशास्त्र में वानस्पतिक पर्यावरण-चेतना का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वृक्षादि को किसी प्रकार की भी क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करने पर प्रबल दण्डों तथा प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है-

फलितं पुष्पितं वाऽपि वनं छिन्द्यात् तु यो नरः।
तडागं सेतुं यो भिद्यात् तं शूले जानु रोहयेत्।।[५०]

याज्ञवल्क्य स्मृति में वृक्ष की शाखा-तना या सम्पूर्ण वृक्ष को काटने पर क्रमशः दुगुना दण्ड बताया गया है-

प्ररोहि शाखिनां शाखा स्कन्दसर्वविदारणे।
उपजीव्यतुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः ।।[५१]
चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षे च विश्रुते।।
गुल्मगुच्छ क्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम् ।
पूर्वस्मृतार्द्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने।।[५२]

मनुस्मृति में तो वृक्षों तथा उनके अङ्गोपाङ्गों की उपयोगिता की दृष्टि से क्रमशः उत्तरोत्तर क्रम में दण्डों का प्राविधान किया गया है-

वनस्पतीनां सर्वेषामुपयोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा।।[५३]

उपर्युक्त विविध-विध दण्डों के साथ ही वृक्षादि को क्षति पहुँचाने पर जीव हिंसा का पाप स्वीकार करते हुए उस पाप से मुक्ति हेतु धर्मशास्त्र में विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान भी किया गया है जैसा कि याज्ञवल्क्य का मत है-

वृक्षगुल्मलतावीरुधच्छेदने जप्यमृक्शतम् ।
स्यादौषधि वृथाच्छेदे क्षीराशी गोऽनुगो दिनम् ।।[५४]

याज्ञवल्क्य स्मृति की भाँति ही मनुस्मृति में भी प्रोक्त है-

फलदानां तु वृक्षाणां क्षेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्ली लतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ।
कृषिजानामौषधीनां जातानां च स्वयं वने।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकः पयोव्रतः ।।[५५]

अतः निश्चप्रचमेव अन्तश्चेतना से युक्त ये वृक्ष लता-गुल्म आदि वानस्पतिक सम्पदाएँ तथा वन-प्रदेश न केवल अमूर्त रूप में विश्वपर्यावरण की रक्षा करते हैं अपितु मूर्तरूप में भी ये विविध वन्य जीवों का

प्रश्रय बनकर पर्यावरण-सन्तुलन का मार्ग प्रशस्त करते हैं इसीलिए तो महाभारत में वन तथा वन्य जीवों के पारस्परिक अन्योऽन्याश्रत्व तथा उपकार भाव का प्रतिपादन करते हुए प्रोक्त है-

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैः व्याघ्रान् रक्षति काननम् ।।[५६]

अतः **'परस्परं भावयन्तो हि श्रेयः परमवाप्स्यथ'**[५७] की उक्ति को चरितार्थ करते हुए विश्व की वन- वानस्पतिक सम्पदा दृष्टि-सम्पादन, वायु-प्रशोधन, जल-प्रदूषण-मुक्ति, पर्वत भू-संरक्षण तथा प्राणवायूत्संर्जन, सर्वजीव-प्रश्रयण आदि के रूप में पर्यावरण विज्ञान का महत्त्वपूर्ण आयाम सिद्ध होती है जिसकी भूरिशः प्रबल प्रतिष्ठा धर्मशास्त्रों में की गयी है।

सन्दर्भाः -

१. अथर्ववेद ८/२/२५
२. श्रीमद्भगवद्गीता १३/११
३. वेदो धर्ममूलम् गौतमधर्मसूत्र १/१/२
४. मनुस्मृति २/१०
५. आपस्तम्बधर्मसूत्र भूमिका
६. आपस्तम्बधर्मसूत्र भूमिका पृ. १०
७. मनुस्मृति ४/१२
८. कर्मकौमुदी पृ. १ पर उद्धृत
९. वामनपुराण १४/२७
१०. कलौ पाराशरः स्मृतः। पाराशरस्मृति १/२४
११. तदेव १/६-७
१२. मनुस्मृति १/४९
१३. वृहदारण्यकोपनिषद् ३/१/३
१४. मनुस्मृति १/४६-४८
१५. चरकसंहिता १/६५/४१ तथा १/७३/४२
१६. ऋग्वेद १०/१३७/१
१७. तदेव १०/१८६/३
१८. तदेव १/१८६/१
१९. मनुस्मृति ३/१७
२०. अथर्ववेद १२/१/२७
२१. यजुर्वेद १/२५
२२. मैत्रायणी संहिता ३/९/४
२३. यजुर्वेद ५/३९
२४. शार्ङ्गधरसंहिता १/४/४
२५. अग्निपुराण
२६. चाणक्यनीति ३/१४
२७. तत्रैव-टिप्पणी
२८. वृहद्वास्तुमाला पृ. ११७
२९. तदेव पृ. ११७
३०. तत्रैव
३१. मनुस्मृति ८/२४६-४७
३२. वृहदवास्तुमाला पृ. १५३
३२. क संस्कृतवाङ्मय में पर्यावरण पृ. ४११ पर उद्धृत
३३. अग्निपुराण १७७/१७, कर्मठगुरु पृ. १४१
३४. याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय ३०२
३५. संस्कृतवाङ्मय में पर्यावरण पृ. ४११ पर उद्धृत
३६. संस्कृतवाङ्मय में पर्यावरण पृ. ४११ पर उद्धृत
३७. तत्रैव
३८. नित्यकर्मपूजाप्रकाश पृ. १०८-१०९
३९. कर्मठगुरु पृ. ४७
४०. नित्यकर्मपूजाप्रकाश पृ. १२७
४१. नित्यकर्मपूजाप्रकाश पृ. १३५
४२. श्रीसूक्त-६
४३. नित्यकर्मपूजाप्रकाश पृ. १३५
४४. संस्कृतवाङ्मय में पर्यावरण पृ. ४११ पर उधृत नारदस्मृतिवचन
४५. स्कन्दपुराण
४६. चरकसंहिता
४७. वृहद्वास्तुमाला पृ. ११६
४८. तदेव पृ. १५५
४९. तदेव पृ. १५६
५०. संस्कृतवाङ्मय में पर्यावरण पृ. ४०८ पर उद्धृत
५१. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय २०/१२७
५२. तत्रैव २२८
५३. मनुस्मृति ८/२८५
५४. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय २०/२७६
५५. मनुस्मृति ११/१४२ तथा १४४
५६. महाभारत-उद्योगपर्व
५७. श्रीमद्भगवद्गीता १३/११

ब्रह्मानन्द सहोदरः

• डॉ० अभिमन्यु सिंह*

शोधसार - कवि इस संसार में रहकर एक आलौकिक जीव सा होता है। उसकी आलौकिकता का मूल कारण उसकी प्रतिभा है। प्रतिभा के बल से वह अनेक रचनाएँ करता है जिससे युग का निर्माता बन जाता है। ऐसे कवि द्वारा रचित काव्य को जो लोग दृश्य और श्रव्य के भेद मानते हैं, वे और जो काव्य और नाट्य को अलग-अलग विवेचित करते हैं उनकी दृष्टि से भी आनन्द तत्वमीमांसा में काव्यादि का प्रयोग हुआ। लेकिन आनन्द की रीति से दृश्य और श्रव्य का कोई भेद नहीं रहता। वास्तव में रूपकों (दृश्यकाव्य) एवं महाकाव्यों (श्रव्यकाव्यों) के अनुशीलन में रसात्मक बोध सहज आनन्दप्रद रहता है। इसीलिए मम्मट ने कविदृष्टि को नवरसरूचिरा कहा है। रसानुभूति के अवसर पर सत्य का प्राबल्य हो जाता है। रसानुभूति एक अखण्ड स्वयं प्रकाश आनन्दमय संवेदन है- जिसकी तुलना मात्र 'ब्रह्मास्वाद' से की जा सकती है। ब्रह्मानन्द के अनुभव में जिस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेदलुप्त होकर मात्र अखण्ड आनन्दरूप चैतन्यज्योति ही अनुभूत होती है। उसी प्रकार रसानुभूति में भी सहृदयों के हृदय ज्ञाता, ज्ञात और ज्ञेय की त्रिपुटी से ऊपर उठकर उसी आलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। अतः काव्यादिगत आनन्द वस्तुतः ब्रह्मानन्द सहोदर ही है।

बीजशब्दाः ब्रह्मानन्द, सहोदर, रसास्वाद संयोग, सहृदय, वासना, अणुपरिमाण, रमणीयता भेदलुप्त, ज्ञेय ज्योति।

जो लोग दृश्य और श्रव्य के भेद से काव्य को मानते हैं, वे और जो काव्य और नाट्य को अलग-अलग विवेचित करते हैं उनकी दृष्टि से भी आनन्द तत्त्वमीमांसा में यहाँ 'काव्यादि' का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः रसात्मक आनन्द की रीति से दृश्य और श्रव्य का कोई भेद नहीं रहता। अस्तु यहाँ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा 'उत्तररामचरितम्' आदि रूपकों (दृश्यकाव्य) एवम् कुमारसम्भवम् तथा 'नैषधीयचरितम्' प्रभृति महाकाव्यों (श्रव्यकाव्यों) के अनुशीलन में रसात्मक बोध सहज आनन्दप्रद रहता है।

* समन्वयक, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

काव्यादिगत आनन्द का अत्यन्त युक्तिसंगत व्यवहार करते हुये मम्मट ने कविदृष्टि को 'नवरसरूचिरा' कहा है।[1] इसी की वृत्ति में उल्लेख है-

''षड् सा न च हृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम्।
एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः।''[2]

इस उल्लेख में आचार्य मम्मट काव्यगत नौ रसों और सभी की आनन्दप्रदता का विवेचन करते हैंऔर इसी कारण ब्रह्मा की सृष्टि की तुलना में वे कवि की रचना को उत्कृष्ट मानते हैं। यह कथन मूलतः भरत की उक्ति से अनुप्राणित है- **''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।''[3]**

इसके अनन्तर रससूत्र का उल्लेख है जिसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त के टीका अंश उदाहृत है। **''यतश्च रसं प्रत्यादृते रसनात्मकप्रतीत्येकघनविश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थः प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते।''** एवम् **''एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूप के प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः।''[4]**

अभिनवगुप्त के विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रूपकों में जो विभावादि के माध्यम से विषय प्रस्तावना रहती है, वही अपने समग्र बोध के रूप में रसात्मक आनन्द की वाहिका है।

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि काव्य व नाट्य में रहने वाला रसाभिनिवेश पाठक अथवा दर्शक की दृष्टि से अभिन्न ही है। इसी अभेदात्मक बोध की रसप्रवणता को समझने के लिये काव्यप्रकाशकार की दो कारिकायें उद्धृत है।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।[5]

लोक में रति आदिरूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव (आलम्बन या उद्दीपन) आदि रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त वह रति आदि रूप स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।[6]

साहित्यदर्पण में भी भरतमुनि प्रणीत-रस-निष्पत्ति को ही स्वीकार किया गया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस की परिभाषा निम्न है-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।।[7]

जब सहृदयों के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव, विभाव-अनुभाव और संचारी भावों के सहयोग से, अभिव्यक्त हो उठते हैं, तब वे स्थायी भाव आस्वादनीय अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं, इसी को रस कहते हैं।

रस निष्पत्ति में एक तथ्य और ध्यातव्य है- स्थायी भावों की, विभावादि संयोग से जो अभिव्यक्ति है वह दुग्ध की दधि रूप में परिणति के समान है। पूर्वस्थित घट-पट के समान दीपक द्वारा अभिव्यक्ति नहीं होती है।

रस और रसास्वादन विचारणीय तथ्य है। विश्वनाथ कविराज ने इस रस और रसास्वादन की प्रक्रिया का विवेचन अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया है-

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।[8]

रसानुभूति के समय सत्त्व का प्राबल्य हो जाता है। रसानुभूति एक अखण्ड, स्वयं प्रकाश, आनन्दमय संवेदन है- जिसकी तुलना मात्र ''ब्रह्मास्वाद'' से ही की जा सकती है। ब्रह्मानन्द के अनुभव में जिस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेदलुप्त होकर मात्र अखण्ड आनन्दरूप चैतन्यज्योति ही अनुभूत होती है। उसी प्रकार रसानुभूति में भी सहृदयों के हृदय, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी से ऊपर उठकर उसी अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। अतः ''रसास्वाद'' को ''ब्रह्मानन्द सहोदरः'' कहना अत्यन्त समीचीन है।

यह शास्त्रांश भरत के रससूत्र पर आश्रित है, जो इस प्रकार हैं-

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''[9]

इस सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति बताने में अनेक आचार्यों का मत अलग-अलग मिलता है। इनमें प्रमुख आचार्य चार हैं- भट्टलोल्लट (निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति), श्रीशंकुक (निष्पत्ति अर्थात् विचित्र अनुभूति), भट्टनायक (निष्पत्ति अर्थात् भुक्ति) और अभिनवगुप्त (निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति) विशेष उल्लेखनीय है।[10]परन्तु प्रायः रससूत्र-व्याख्यान में भट्टनायक का अभिमत परिपूर्ण तथा सर्वाधिक व्यावहारिक माना गया है। इनका अभिमत आनन्दविवेकार्थ द्रष्टव्य है-

न तावत्स्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन परं भुज्यते' इति भट्टनायकः[11]

न तटस्थरूप से रस की प्रतीति होती है और न उत्पत्ति होती है और न सामाजिकगतरूप से अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य अथवा नाटक में अविधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण स्वरूप भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकरण स्थायीभाव सत्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति की स्थिति के सदृश्य भोग से आस्वादिक किया जाता है यह भट्टनायक का मत है। भट्टनायक का यह मत दशरूपककार धनञ्जय को स्वीकार है।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।[12]

विभाव अनुभव सात्विकभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव रस है, परन्तु इस विचार की पराकाष्ठा पण्डितराज जगन्नाथ की रसविवेचना में देखने को मिलता है। उनके इस विवेचन को पाँच भागों में विभक्त कर रसानन्द, जो वास्तव में काव्यादिगत परमविशिष्ट आस्वाद है, का परिचय मिलता है। खण्डशः विचारित पण्डितराज का रसबोधात्मक व्याख्यान प्रस्तुत है-

1. काव्यादि में अच्छी प्रकार और लालित्य के द्वारा समुचित रीति से वर्णित विषय सहृदय के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और उसकी सहृदयता का सहयोग पाकर भावना का विषय बनता है-

''समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः,
सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीय-सहृदयता-सहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना-''[13]

2. भावना का वैशिष्ट्य रहने से दुष्यन्त और उसकी प्रियतमा से सम्बन्धित व्यक्तिगत विषय के स्थान पर यहाँ आलौकिक व्यापार से कारण, कार्य और सहकारी के स्थान पर विभावत्व, अनुभावत्व और व्यभिचारित्व का सामान्य व्यापार घटित होता है-

विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिर्लौकिकबिभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः,[14]

3. भावकत्त्व व्यापार के कारण शकुन्तला आदि आलम्बन, चन्द्रिका आदि उद्दीपन, अश्रुपात आदि कार्य तथा चिन्ता आदि सहकारी सामान्यीकरण में गतार्थ होते हैं-

''शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिःकार्यैः,चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च।''[15]

4. जब लौकिक कारणादि व्यक्तिनिष्ठ न रहकर काव्यादि में आलौकिकता से जुड़ जाते हैं, उस समय आनन्द में अर्न्तभूत हो जाने से वह विषय सीमित से असीमित की ओर चला जाता है तथा सार्वजनिक बोध कराता है-

''सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमित-प्रमातृत्वादिनिज-धर्मेण प्रमात्रा।''[16]

5. यह सहृदय की दृष्टि से स्वप्रकाशरूप अपने आत्मा का आनन्द बनकर बोध का विषय होता है, जो सदा से ही मन में बैठे हुए रति आदि भावों के आस्वाद से रस (आनन्द) के रूप में घटित हो जाता है-

''स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः
प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।''[17]

जिस प्रकार भट्टनायक का मत धनञ्जय और पण्डितराज के लिए प्रेरक हुआ ठीक उसी प्रकार महिमभट्ट भी इस विषय को आत्मसात् करते हैं-

''रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यैव व्यंग्यव्यंजकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः यत् स एवाह ''व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद्। यथा-

'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।'[18]

रति आदि की ही प्रतीति रस की प्रतीति है इसलिए मुख्यरूप से ही (उसमें) व्यंग्यव्यञ्जकभाव स्वीकार किया जाना चाहिए। गम्यगमकभाव वहाँ घटप्रदीपन्याय से लागू हो सकता है। जैसा कि स्वयं उन्हीं (ध्वनिवादी) ने कहा है- 'व्यञ्जकत्व मानने पर भी जबतक अर्थ दूसरे अर्थ की व्यंजना नहीं करता तब तक वह अपने आपको प्रकाशित करता हुआ ही दूसरे का प्रकाशक प्रतीत होता है, जैसे **'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती में।'**[19]

यह सम्पूर्ण विषय ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन को भी अभिप्रेत था, इसी भावना से ध्वन्यालोक, की प्रथम कारिका में उल्लेख करते हैं-

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।[20]

इसकी वृत्ति में आनदं तत्त्व का विशेष परिचय प्राप्त होता है-

''तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्ष्यतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।''[21]

उस ध्वनि का स्वरूप जो सकल सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत, अति रमणीय है, जो प्राचीन लक्षगकारों की अणुपरिमाण (सूक्ष्मतम) बुद्धि द्वारा भी उन्मीखिल नहीं हुआ है, और, जिसका रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य (ग्रन्थों) में व्यवहार प्रसिद्ध है, लक्षित करते हुए सहृदय जनों के मन में आनन्द प्रतिष्ठित हो इस उद्देश्य से उसे प्रकाशित करते हैं।

रस की आनन्दानुभूति उस समय होती है, जब सत्त्व का उद्रेक होता है और रजस, तमस् दब जाते हैं। रस वस्तुतः अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। अनुभूति ही ब्रह्म है, अतः रस ब्रह्म ही है। अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि काव्य का संवेद्य वही है। कल्पना इस संवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परन्तु संवेद्य नहीं। 'रस' तो जीवन का चेतना प्राण है। काव्य के क्षेत्र में अन्यत्र उसको अपने पद से कौन च्युत् कर सकता है।

''रस-सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है। पारिभाषिक शब्दों में व्यञ्जना या ध्वनन होता है।'' इसी तथ्य को ध्वनिकार आनन्दबर्धन ने भी स्पष्ट किया है

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।[22]

मनोविज्ञान के अनुसार-कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके हृदय में, समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कविसहृदय को अपने हदय-रस का बोध न

कराकर, संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं है।

वास्तव में रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रसात्मक वाक्य से उत्तम काव्य का प्रादुर्भाव होता है। नीरस एवं अलङ्कार-प्रधान कविता में बहुत थोड़ी रमणीयता पायी जाती है। रमणीय वह है जिसमें चित्त रमण करे अर्थात् जो चित्त को अपने आप में लगा ले रमणीयता आनन्द की उत्पत्ति करती है, कविता की रमणीयता से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह लोकोत्तर है। ''वस्तुतः इस लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति ही रस है। भाषा की व्यञ्जना- शक्ति का परिज्ञान कवि को सामान्य से पृथक् करता है। इसी व्यञ्जना वृत्ति के प्रति संवेदनशीलता सहृदय की पहचान है। अतएव कर्त्ता में प्रेरक, और भोक्ता में ग्राहक गुण से वर्तमान, यही वह विशेष गुण है जिसे काव्य की आत्मा मानना चाहिए।''

आनन्दवर्धन के उल्लेख से काव्यादिगत आनन्दतत्त्व, जो कि 'रस' ही है, की लोकोत्तरता प्रमाणित होती है। श्रुति भी यही कहती है- ''रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।''[23]

वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) है। यह वास्तविक आनन्द है, क्योंकि अनादिकाल से जन्म-मृत्यु घोर दुःख का अनुभव करने वाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्म को पाकर ही आनन्दयुक्त होता है।

निष्कर्षतः- कहा जा सकता है कि काव्यादिगत आनन्द वस्तुतः ब्रह्मानन्द सहोदर ही है।

सन्दर्भाः -

1. काव्य प्रकाश 1/1
2. काव्य प्रकाश, पृ0 8
3. अभिनवभारती, पृ0 620
4. अभिनवभारती, पृ0 20-21
5. काव्यप्रकाश 4/27-28
6. काव्य प्रकाश, पृ0 95
7. काव्य प्रकाश, पृ0 100
8. साहित्यदर्पण 3/1
9. साहित्यदर्पण 3/2 एवं 3
10. काव्यप्रकाश, पृ0 101-115
11. काव्य प्रकाश, पृ0 106-107
12. दशरूपकम्, पृ0 257
13. रसगंगाधर, पृ0 87
14. वही, पृ0 87
15. रसगंगाधर, पृ0 87-88
16. रसगंगाधर, पृ0 88
17. रसगंगाधर, पृ0 88
18. व्यक्तिविवेकः, पृ0 66
19. व्यक्तिविवेक, पृ0 66
20. ध्वन्यालोक, 1/1
21. ध्वन्यालोक, पृ0 37
22. ध्वन्यालोक 1/6
23. तैत्तीयउपनिषद् 7/2

महाभाष्य में अर्थविज्ञान का स्वरूप

• डॉ० करुणा आर्या*

शोधसार- आचार्य पतञ्जलि ने तथा शब्दशास्त्र के उपासक आचार्यों ने भाषा के विविध पक्षों पर वैदुष्यपूर्ण ढंग से अपने-अपने मतों को अभिव्यक्त किया है। जिन मतों को आधुनिक भाषा विज्ञान भी स्वीकृत कर रहा है। साथ ही भाषा विषयक सिद्धान्तों के लिये पाणिनीय व्याकरण अनुसरण भी करता दिखाई देता है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि तथा अन्य विद्वान् टीकाकारों ने भाषाविज्ञान के अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष "अर्थ-विज्ञान" पर पूर्ण दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पद्धति को आधार बनाकर बड़ी ही गम्भीरता से विचार विमर्श किया है। जिसका यत्किञ्चित् विवेचन यहाँ उपस्थापित किया जा रहा है।

बीजशब्द- अर्थविज्ञान, पाणिनीय व्याकरण, महाभाष्य, शब्दानुशासन, शब्द, अर्थतत्त्व, नित्यता, प्रवाहनित्यता।

व्याकरण की त्रिवेणी को सम्पूर्ण स्वरूप प्रदान करने वाली सबसे अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण शृङ्खला है- महाभाष्य। महाभाष्य के बिना व्याकरण के त्रिमुनित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि महर्षि पतञ्जलि की प्रतिभा की पराकाष्ठा से जनित भाष्य ने पाणिनि-व्याकरण के स्वर्णिम प्रभात को मध्याह्न के क्षितिज पर स्थापित कर दिया। यही कारण है कि तीनों मुनियों में सर्वाधिक प्रामाणिक महर्षि पतञ्जलि को माना जाता है। व्याकरण के सन्दर्भ में यदि किसी निर्णय में समस्या अथवा सन्देह की स्थिति उत्पन्न होती है तो महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य की पङ्क्ति को ही अन्तिम प्रमाण के रूप में अङ्गीकृत किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण से सम्बन्धित सभी पक्षों पर विशदतापूर्ण चर्चा की है। आज अर्थविज्ञान का जो स्वरूप उपलब्ध होता है उसका मूल भी हमें महाभाष्य में दृष्टिगत होता है।

भाष्यकार प्रारम्भ में ही व्याकरण के प्रयोजन शब्दानुशासन को प्रारम्भ करते हैं। प्रदीपकार आचार्य कैय्यट "शब्दानुशासन" को व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन कहते हैं। साथ ही शब्द के वास्तविक स्वरूप, लौकिक तथा वैदिक शब्दों का विवेचन, और द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति के माध्यम से शब्द विषयक भ्रान्तियों का निवारण, ध्वनि और शब्द की एकता, अर्थ एवं अर्थ की उपयोगिता,

*सहाचार्य, संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शब्द एवं अर्थ के मध्य का सम्बन्ध इत्यादि विषयों का व्याकरण तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

महाभाष्य में अर्थतत्त्व के विषय में भी गम्भीर चर्चा प्राप्त होती है। जिन पर महाभाष्य के टीकाकारों यथा कैय्यट, उद्योत प्रभृति विद्वानों ने भी यथास्थान विषय के गूढ़ रहस्यों का सहजता और सरलता से प्रस्तुतीकरण किया है। वस्तुतः अर्थतत्त्व के वास्तविक बोध के अभाव में तत्त्वज्ञान असम्भव है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि अर्थज्ञान की उपयोगिता एवं अर्थविज्ञान के महत्त्व को महाभाष्य के प्रारम्भिक पाठ में इस प्रकार से उद्धृत करते हैं-

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हि चित्।।[1]

अर्थात् यदि हम बिना अर्थबोध के किसी विषय को जानते हैं, मात्र शब्द के माध्यम से हमें किसी विषय का ज्ञान है, तब वह ज्ञान निष्प्रयोजन है, जैसे अग्नि के अभाव में शुष्क ईंधन में निहित अग्नि प्रकाशित नहीं हो सकता है, वैसे ही अर्थावबोध के अभाव में शब्द ज्ञान विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता है।

महाभाष्य के टीकाकार आचार्य नागेशभट्ट लिखते हैं कि- **"अर्थपरिज्ञानफला हि वाक्। सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य। अर्थो हि वाचः शरीरम्।"**[2] अर्थात् अर्थतत्त्व का ज्ञान ठीक प्रकार से हो जाए, यही वाक् तत्त्व का फल है। अर्थ का प्रकाशन ही ठीक प्रकार का ज्ञान है। शब्द का प्रयोग भी अर्थ का बोध करने के लिए ही किया जाता है, शब्द का सारा व्यापार एकमात्र अर्थ के लिए ही होता है ,यही शब्द की उपयोगिता भी है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार पतञ्जलि का कथन प्रमाण है कि- **"अर्थगत्यर्थः शब्द प्रयोगः अर्थं संप्रत्ययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते।"**[3]

महाभाष्यकार शब्द और अर्थ के जिस स्वरूप का वर्णन करते हैं, वह पृथक् नहीं है, अर्थात् अर्थ एवं शब्द दोनों की सत्ता पृथक् - पृथक् नहीं है। यह अर्थ एवं शब्द दोनों एक ही हैं। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि **"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"** सूत्र के भाष्य में शब्द को शब्द से ही बहिर्भूत एवं अर्थ को शब्द से अबहिर्भूत मानते हैं। कहने का आशय यह है कि 'शब्द' शब्दतत्त्व का बहिर्भूत अंग है, तथा अर्थ शब्दतत्त्व का अन्तरङ्ग अथवा अबहिर्भूत अङ्ग है। **"शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थोऽबहिर्भूतः।**[4]

महर्षि पतञ्जलि दो प्रकार के अर्थों की विवेचना अपने भाष्य में करते हैं। प्रथम जो शब्द का वास्तविक स्वरूप होता है। तथा द्वितीय बाहर दिखने वाली वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप। उदाहरण के लिए जब हम व्याकरण में "राम" की प्रातिपदिक संज्ञा करते हैं, तो वह राम शब्द भौतिक राम (किसी व्यक्ति विशेष) का बोध नहीं कराता अपितु "राम शब्द" मात्र का बोध करवाता है। परन्तु लोकव्यवहार में राम शब्द को प्रयोग करने से बाहर दिखने वाले 'राम' नाम के किसी व्यक्ति का बोध होता है। अतः राम शब्द से सर्वप्रथम राम रूपी आनुपूर्वी शब्द का बोध होता है, दूसरी स्थिति में है किसी व्यक्ति विशेष का बोध होता है। **"अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्? अर्थः। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति। किमर्थं**

पुनरिदमुच्यते? शब्देनार्थावगतेः अर्थे कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वं रूपवचनम्। शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते। गामानय दध्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते। अर्थे कार्यस्यासम्भावात्।"[5]

अर्थ के सम्बन्ध में भाष्यकार अर्थ की नित्यता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि अर्थ की नित्यता स्वीकार करने से भाषा विषयक कुछ नियमों का उल्लङ्घन हो सकता है, क्योंकि काल के प्रभाव से तथा अन्य कारणों से भी शब्दों के अर्थों के स्वरूप में समय के साथ अन्तर देखने को प्राप्त होता है। इन अर्थों का विस्तृतीकरण तथा उन में सङ्कोच एवं परिवर्तन इत्यादि प्रक्रियाएं निरन्तर होती रहती है। अतः अर्थ की नित्यता के सम्बन्ध में भाष्यकार को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

नित्य उसे कहा जाता है, जिसके मूल तत्त्व का किसी भी काल में नाश सम्भव नहीं है। **"तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते।"** [6] जिस प्रकार स्वर्ण से विभिन्न प्रकार के आभूषण निर्मित किए जाते हैं, उन आभूषणों में भी अलग अलग आकृतियाँ होती हैं। उन आकृतियों में समय-समय पर परिवर्तन भी किया जाता है। स्वर्ण से निर्मित आभूषणों एवं आकृतियों में परिवर्तन होने के बाद भी स्वर्ण में परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् स्वर्ण का तत्त्व नष्ट नहीं होता। अलग-अलग आकृतियों के नष्ट एवं बनने पर भी स्वर्ण प्रत्येक समय उपस्थित रहता ही है। आचार्य कैय्यट इसी नित्यता के सम्बन्ध में प्रवाहनित्यता को स्वीकार करते हैं अर्थात् शब्द का जो अर्थ है, वह अनादि काल से ही निरन्तर चला आ रहा है। उसमें प्रवाह के कारण अर्थ परिवर्तन की स्थिति होने पर भी वह अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप का त्याग नहीं करता यही कारण है कि अर्थ नित्य है। **"बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थो यदा यदा शब्द उच्चारितस्तदा तदा तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः"**[7] आचार्य नागेश भट्ट भी इसी प्रकार अर्थ के विषय में प्रवाहनित्यता को स्वीकृत करते हैं। प्रवाहनित्यता को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो इसका आशय है कि जब-जब हमारे मुख के अवयवों के द्वारा शब्द को उच्चरित किया जाएगा, तब-तब अर्थबोधरूप बुद्धि उत्पन्न होती है, अर्थात् शब्दों से अर्थ का बोध होना ही प्रवाहनित्यता है।

इस सन्दर्भ में आचार्य कैय्यट अर्थ के नित्यत्व को स्वीकृत करते हैं। क्योंकि शब्द से अर्थबोध का जो व्यवहार है वह अनादि काल से परम्परागत रूप से ही चला आ रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रवाहनित्यता के सन्दर्भ में तो आचार्य अर्थ के नित्यत्व को स्वीकृत करते हैं। परन्तु शब्दों के माध्यम से जो अलग-अलग प्रकार की अर्थों की अभिव्यक्ति होती है, उस सन्दर्भ में अर्थों के अनित्यत्व को भी स्वीकृत किया जाता है। क्योंकि यदि हम शब्द के एक ही अर्थ को निश्चित माने तो हमें किसी भी अवस्था में अर्थ से सम्बन्धित सन्देह उत्पन्न नहीं होना चाहिए। हम यह अवश्य देखते हैं की शब्द यथावत् रहते हैं किन्तु अनेक कारणों से उनके अर्थों में धीरे-धीरे परिवर्तन आता है। इसी की पुष्टि महाभाष्य के टीकाकार आचार्य कैय्यट इस प्रकार करते हैं- **"यद्येकः शब्द एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्। यतस्त्वनियमः, तत् प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः।"**[8] इसी प्रकार आचार्य नागेश भट्ट भी प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थ के विषय में अनित्यत्व का ही बोध करवाते हैं-

"प्रकृतिप्रत्ययोरर्थवत्ताया अनैयत्यं दर्शयति।"[9] इस प्रकार दोनों आचार्य अर्थ के अनित्यत्व के विषय में अपने-अपने मतों का स्पष्ट विवेचन महाभाष्य की टीका में करते हैं। लोक व्यवहार में भी हम अर्थ के परिवर्तन और अर्थ के परिवर्धन को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। महाभाष्यकार अर्थ की इसी परिवर्तनशीलता पर कहते हैं कि जिस प्रकार समाज के लोग अपने कृषि क्षेत्रों की सिंचाई के लिए नहर का निर्माण करते हैं परन्तु कभी-कभी उस नहर से अन्य कार्य भी कर लेते हैं जैसे जल पीना इत्यादि। उसी प्रकार एक निश्चित अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द भी कभी-कभी अन्य ही अर्थ का बोध करवाता है। इसीलिए आचार्य कैय्यट एवं आचार्य नागेश भट्ट अर्थ के वैचित्र्य को देखते हुए कहते हैं कि अर्थ की शक्ति विचित्र होती है तथा अर्थों में अनेकों प्रकार की शक्तियाँ होतीं हैं जिनके माध्यम से विभिन्न अर्थों का बोध होता है।

अर्थ बुद्धिस्थ है, अथवा अर्थ की बाह्य सत्ता स्वीकृत की जाए? इस विषय में आचार्य पतञ्जलि कहते हैं की शब्द के माध्यम से बाह्य अर्थ का बोध किया जाता है। जिस प्रकार हम व्यवहार में कहते हैं "ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए" इस वाक्य में जिस ग्रन्थ की सत्ता बाहर उपस्थित है, उस अर्थ का बोध शब्द के माध्यम से हो रहा है। यद्यपि बाह्य अर्थ का बोध होता है, तथापि मुख्य रूप से अर्थ बुद्धिस्थ होता है।

"बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।।"[10]

अर्थात् विद्वान् व्यक्ति बुद्धि में ही अपने उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले शब्दों के द्वारा अर्थों को भी बुद्धि में ही देखकर वही से शब्दों का भी पौर्वापर्य करें। यद्यपि मुख्य रूप से अर्थ बुद्धिस्थ होता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महाभाष्यकार बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः आचार्य दोनों ही प्रकार के अर्थों को स्वीकृत करते हैं।

अर्थों में परिवर्तन होता रहता है, कभी अर्थ में सङ्कोच, कभी अर्थ में विकास तथा कभी अन्यार्थबोध होता है। आचार्य पतञ्जलि अर्थ की इस अनित्यता को प्रकट करने के लिए भाष्य में लिखते हैं कि एक शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं। **"एकश्च शब्दो बह्वर्थः।"**[11] आचार्य कैय्यट लिखते हैं कि वस्तुतः शब्द की शक्तियाँ अनन्त हैं, फिर भी जब कोई शब्द एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार के लिए नियन्त्रित हो जाता है, तब वह उसी अर्थ का बोध कराता है अन्य अर्थों का नहीं। **"सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते, तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र।"**[12] कभी-कभी लोक प्रसिद्धि के आधार पर भी शब्द एक अर्थ में नियत हो जाते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि महाभाष्य में इस मत को स्वीकृत करते हैं। **"युक्तं पुनर्नियतविषया नाम शब्दाः स्युः।"**[13] इस प्रकार शब्दों के अर्थों का सङ्कोच होता है, अर्थात् अनेक अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द किसी एक अर्थ में निश्चित हो जाते हैं।

अर्थपरिवर्तन के क्रम में जिस प्रकार अर्थों का सङ्कोच होता है उसी प्रकार अर्थ का विस्तार भी होता रहता है। जिस प्रकार प्रवीण शब्द का अर्थ है "प्रकृष्टो वीणायाम्" अर्थात् वीणा वादन में

अत्यन्त योग्य। परन्तु वर्तमान में इस शब्द के अर्थ का विस्तार हो चुका है। अब किसी भी प्रकार की कुशलता, निपुणता को प्रवीण शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसी को महाभाष्यकार ने भाष्य में कहा है कि- **"कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यपि भवति।"**[14]

इसी प्रकार कुशल शब्द का मुख्य अर्थ था कुश का छेदन करना, परन्तु आज कुशल शब्द का अर्थ यह नहीं है, अपितु निपुणता एवं चतुरता अर्थ में कुशल शब्द का अर्थ विस्तार हो चुका है। जिस प्रकार अर्थों में सङ्कोच होता है, विस्तार होता है, उसी प्रकार कभी-कभी अर्थ किसी अन्य अर्थ में ही रूपान्तरित हो जाते हैं। इसी विवेचन को कहा जाता है- अर्थादेश। जैसे "भोग" शब्द का अर्थ होता है "द्रव्य"। परन्तु धीरे-धीरे भोग शब्द का अर्थ सर्प के शरीर के लिए रूढ़ हो गया। परन्तु और आगे चलकर यह शब्द सर्प के फण के लिए भी प्रचलित हो गया। अतः हम देखते हैं कि किस प्रकार एक शब्द अपने अर्थ को छोड़कर अन्य ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। इसी सन्दर्भ में महाभाष्य के टीकाकार कैय्यट कहते हैं कि- **"अनन्तत्वात् प्रयोगविषयस्यावधारणस्य कर्तुमशक्यत्वात्।"**[15] महाभाष्य में अर्थज्ञान के साधन के रूप में लोकव्यवहार का वर्णन प्राप्त होता है- **"यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्। किं शास्त्रेण क्रियते? लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।"**[16] अर्थात् शब्दों का प्रयोग करना एवं उन शब्दों के माध्यम से अर्थ का ज्ञान लोक व्यवहार के द्वारा होता है और व्याकरण शब्दों के प्रयोग में धर्म एवं अधर्म की व्यवस्था करता है। जैसा कि महाभाष्य में उल्लिखित है- साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म होता है एवं असाधु शब्दों के प्रयोग से अधर्म होता है।

अर्थ के ज्ञान के विषय में विस्तार से चर्चा करने के साथ ही आचार्य पतञ्जलि इन अर्थों की अनुपलब्धि के कारणों पर भी विचार करते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार विद्यमान होते हुए भी छः कारणों से अर्थ कि उपलब्धि नहीं हो पाती है।

- अतिसन्निकर्ष= अत्यन्त समीपता के कारण अर्थ उपलब्ध नहीं हो पाता है, जैसे अपनी ही आँखों में काजल लगाने से, काजल अत्यन्त समीप होने के कारण उपलब्ध होते हुए भी चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता।
- अतिविप्रकर्ष= अत्यन्त दूरी के कारण भी हमें अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता है। जैसे दिल्ली में अवस्थित कोई व्यक्ति अपनी आँखों से मुम्बई में स्थित किसी वस्तु को साक्षात् नहीं देख सकता है।
- मूर्त्यन्तरव्यवधानात्= जब किसी वस्तु के बीच में अन्य वस्तु का व्यवधान होता है, तब भी अर्थ की उपलब्धि नहीं हो पाती है। जैसे- कोई व्यक्ति एक कक्ष में बैठकर दूसरे कक्षों की वस्तुओं को नहीं देख सकता क्योंकि मध्य में भित्ति का व्यवधान है ।
- अन्धकार के कारण भी हमें वस्तुओं की उपलब्धि नहीं हो पाती है।

- इन्द्रिय दुर्बलता= यदि किसी व्यक्ति की इन्द्रिय दुर्बल है अथवा रोगग्रस्त है, उस अवस्था में भी अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता है। जैसे- कर्ण इन्द्रिय की दुर्बलता के कारण हमें शब्द सुनाई नहीं देते हैं।
- अतिप्रमाद= जब हमारा चित्त दूसरे ही विषयों में आसक्त होता है, ऐसी परिस्थिति में भी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कभी-कभी कोई व्यक्ति मन की अस्थिरता के कारण सुनते हुए भी नहीं सुनता है। अर्थ की अनुपलब्धि के इन छः कारणों की विवेचना आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट की है।[17]

इसप्रकार अर्थविज्ञान की मौलिक अवधारणा के कतिपय बिन्दू हमें महाभाष्य में पदे-पदे दृष्टिगत हो जाते हैं। बुद्धिस्थ सम्प्रत्यय होते हुए भी अर्थ की भौतिक सत्ता का विषय हो अथवा अर्थ की प्रवाह नित्यता का, अर्थपरिवर्त्तन या अर्थविस्तार का, अर्थसङ्कोच या अर्थादेश का, अर्थ के नित्यत्व या अनित्यत्व अर्थविज्ञान सम्बन्धी किसी भी अवधारणीय विषय बिन्दू का उपस्थापन हमें महाभाष्य में प्राप्त हो ही जाता है।

सन्दर्भ -

---

[1] महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्

[2] महाभष्यम्, उद्योतटीका

[3] महाभाष्यम् - ०१/०१/४३

[4] महाभाष्यम् - ०१/०१/६६

[5] महाभाष्यम् - ०१/०१/६८

[6] महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्

[7] महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्- प्रदीपटीका

[8] महाभाष्यम्, प्रदीपटीका-०१/०२/४५

[9] महाभाष्यम्, उद्योतटीका-०१/०२/४५

[10] महाभाष्यम्- ०१/०४/१०९

[11] महाभाष्यम्- ०१/०२/४५

[12] महाभाष्यम्, प्रदीपटीका-०१/०२/२२

[13] महाभाष्यम्- ०२/०२/२९

[14] महाभाष्यम्- ०५/०२/२९

[15] महाभाष्यम्, प्रदीपटीका-०५/०१/०९

[16] महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्

[17] महाभाष्यम्- ०४/०१/०३

बांग्लादेशोदयम् में प्रयुक्त वर्णसङ्कर शब्दों का भाषावैज्ञानिक औचित्य

• डॉ. विनोद कुमार*

शोधसार - परिवर्तनशीलता चेतन का स्वभाव है और भाषा का सम्बन्ध चेतन मनुष्य से है। अतः किसी भी भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि संस्कृतभाषा के समक्ष पाणिनीय व्याकरण सदृश मानक व्याकरण के विद्यमान रहने पर भी संस्कृत साहित्य में भूरिशः अपाणिनीय प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं जो कि भाषावैज्ञानिक एवं व्याकरणिक दृष्टि से अनुसन्धान का विषय है। यद्यपि भाषा को सर्वथा, व्याकरण के नियमों में बांध देने से उसकी विकास यात्रा अवरुद्ध हो सकती है किन्तु अपाणिनीय या वर्णसङ्कर पदों के प्रयोगों की छूट होने से तो संस्कृत भाषा का संस्कृतत्व ही उच्छिन्न हो जाएगा। हमारा विद्वत्समाज भाषा विकास के नाम पर संस्कृत भाषा में अपाणिनीय प्रयोग की भी स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता। अतः श्रीराम शर्मा कृत बांग्लादेशोदयम् नाटक में चूजात्रिक्शाणाम् अफसरान्, साइरनानाम् किरायादाराणाम्, सेविन्थफीटम् गद्दारी आदि पदों का प्रयोग चिन्त्य है।

बीजशब्द - संकेतग्रह, व्यक्तवाणी, वैदिक - लौकिक संस्कृत, वार्तिक, मूलभाषा, विभाषा, उपभाषा, बोली,मानक, मिश्रितभाषा, वर्णसङ्कर पद, भाषासांकर्य, व्युत्पत्तिनिमित्त, प्रवृत्तिनिमित्त, इत्याख्यम्, उच्छिन्न।

"भाषव्यक्तायांवाचि"[1] इस धातु से अङ्[2]एवं टाप्[3]प्रत्यय करने के उपरान्त भाषा शब्द निष्पन्न होता है जो कि व्यक्तवाणी को द्योतित करता है। वैयाकरणों के अनुसार भाषा का उद्देश्य मात्र पदार्थों में संकेतग्रह ही नहीं है अपितु धर्मप्राप्ति भी है[4]। अतएव व्याकरण को साधुत्व एवं असाधुत्व का ज्ञान कराने वाली स्मृति या शास्त्र कहा जाता है[5]। जबकि भाषाविज्ञान, भाषा का उद्देश्य मात्र पदार्थों में संकेतग्रह मानता है। इसका सम्बन्ध इस आदर्श से नहीं है कि कहाँ कैसे प्रयोग होना चाहिए। वह तो केवल इस बात को जानना चाहता है कि कब कहाँ कैसा प्रयोग होता है[6]। परन्तु इस विषय में किसी का मतभेद नहीं कि भाषा चिरपरिवर्तनशील है। मूलभाषा, विभाषा, उपभाषा

*सह-आचार्य, संस्कृत-पालि-प्राकृत-प्राच्यभाषाविभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

एवं बोली आदि भाषा के अवान्तर रूप इसकी परिवर्तनशीलता के ही परिणाम हैं। संस्कृतभाषा भी उक्त तथ्य का अपवाद नहीं है। वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। लौकिक संस्कृत को पाणिनीय व्याकरण के द्वारा नियमबद्ध किये जाने के उपरान्त भी कात्यायन एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि के वर्तिकों की आवश्यकता हुई। कालिदासादि महाकवियों के ग्रन्थों में भी अनेक अपाणिनीय प्रयोग देखने को मिल जाते हैं। कारण, चूंकि भाषा का सम्बन्ध चेतन मनुष्य से है और परिवर्तनशीलता चेतन का स्वभाव है अतःकिसी भी भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। यही कारण है कि आज संस्कृत भाषा के समक्ष पाणिनीय व्याकरण के 'मानक' रूप में विद्यमान रहने पर भी आधुनिक संस्कृत साहित्य में भूरिशः अपाणिनीय प्रयोग हो रहे हैं[7]। किन्तु बिडम्बना तो यह है कि आजकल संस्कृत साहित्य में अपाणिनीय प्रयोगों के साथ-साथ आंग्ल एवं संस्कृत भाषा मिश्रित प्रयोगों का प्रचलन भी बढ रहा है जो कि संस्कृत के वैशिष्ट्य एवं अस्तित्व के लिये घातक है। प्रस्तुत लेख में इस प्रकार के प्रयोगों को ही वर्णसङ्कर कहा गया है। वर्णसङ्कर शब्दों के प्रयोग से अभिप्राय है कि "ऐसे शब्द जिनके अन्तर्गत प्रातिपदिक, धातु या प्रकृति अंग्रेजी आदि इतर भाषाओं की हो किन्तु प्रत्यय संस्कृत के लगे हों"। प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीरामशर्माकृत बांग्लादेशोदयम् में प्रयुक्त 'चूजान्'[8] 'रिक्साणाम्'[9]अफ़सरान्'[10] 'साईरनानाम्[11]' 'किरायादाराणाम्'[12] 'चौकीषु'[13] 'सेविन्यफ़ीटम्'[14] 'गद्दारी'[15] 'ट्रांसिष्टरः'[16] आदि प्रयोग उल्लेखनीय हैं। इन शब्दों को अपाणिनीय तो नहीं कहा जा सकता किन्तु वर्णसङ्कर अवश्य हैं। यद्यपि भाषाविज्ञान में मिश्रित भाषा का तो उल्लेख प्राप्त होता है[17] किन्तु वर्णसङ्कर शब्द या भाषा का वर्णन कहीं नहीं है। वस्तुतः संस्कृत भाषा की संरचना के अद्भुत होने के कारण यहां भाषा में मिश्रण सम्भव ही नहीं अपितु यह शब्द सांकर्य या भाषा सांकर्य माना जायेगा जिसे वर्णसङ्कर कहना अधिक उचित होगा।

यह सत्य है कि भाषा समाज के साथ साथ चलती है इसलिये समाज में परिवर्तन के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्तन होता है। जब भी समाज नयी वस्तुओं का प्रयोग प्रारम्भ करता है तो उनके नाम या उनसे सम्बद्ध शब्द भाषा के आवश्यक अंग बन जाते हैं। उदाहरणार्थ- मोबाइल, इन्टरनेट, पेट्रोल, डीजल, टेलीविजन, ट्रांसिष्टर, रेडियो आदि। ध्यातव्य है कि इस प्रकार के प्रयोग बोलचाल की भाषा में तो मान्य है परन्तु इनका साहित्यिक भाषा में प्रयोग करना गौरवपूर्ण नहीं माना जाता। वास्तव में बोलचाल की भाषा की तुलना में प्रायः साहित्यिक भाषा कुछ कम विकसित कुछ अलंकृत, कुछ कठिन तथा कुछ परम्परानुगामिनी होती है[18]। भाषाविज्ञान यह भी मानता है कि प्रत्येक भाषा की अपनी अलग संरचना होती है उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर अवश्य होता है और यही अन्तर उनकी स्वतन्त्र सत्ता एवं वैशिष्ट्य का कारण बनता है[19]। वस्तुतः संस्कृत भाषा अपनी संरचना की दृष्टि से ही अद्वितीय है। इसके शब्दों में विद्यमान प्रकृति एवं प्रत्यय पदार्थ के स्वरूप या कार्य को स्वयं अभिव्यक्त कर देते हैं। परन्तु वर्णसङ्कर प्रयोगों में संस्कृत भाषा का उपर्युक्त वैशिष्ट्य ही समाप्त

हो जायेगा।

यद्यपि संस्कृत भाषा में दो प्रकार के शब्द माने गये हैं- व्युत्पत्तिनिमित्त एवं प्रवृत्तिनिमित्त। शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य[20]। यह आवश्यक नहीं कि जो व्युत्पत्ति का निमित्त है वही प्रवृत्ति का भी निमित्त हो। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में जो प्रकारतया भासित होता है वह व्युत्पत्तिनिमित्त कहाता है जैसे कुशल शब्द में कुशग्राहित्व। इसी प्रकार शक्तिज्ञान में जो प्रकारतया भासित होता है वह प्रवृत्तिनिमित्त कहाता है जैसे – गो शब्द में गोत्व। क्योंकि यदि गो को व्युत्पत्तिनिमित्त मानें तो गो शब्द का शयनकाल में प्रयोग अनुपपन्न है। उल्लेखनीय है कि आचार्य यास्क प्रकृति, प्रत्यय, अर्थ अथवा किसी भी वृत्ति के आधार पर संस्कृत शब्दों का निर्वचन आवश्यक मानते हैं[21]अत: आचार्य परम्परा को जीवित रखने एवं संस्कृत के संस्कृतत्व को सुरक्षित रखने हेतु संस्कृतभाषा में वर्णसङ्कर प्रयोगों को प्रश्रय देना उचित नहीं।

भाषाविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि नये पदार्थों के प्रयोग होने पर नये शब्दों का प्रचलन होता है। अत: ऐसी स्थिति में शब्द, प्रकृति, प्रत्ययों, उपसर्गों एवं दो या अधिक शब्दों को मिलाकर बना लिये भी जाते हैं[22]। उल्लेख्य है कि कभी तो नये शब्द कहीं से भी ले लिये जाते हैं। हिन्दी ने कुछ शब्द संस्कृत से लिये हैं कुछ अपनी बोलियों से कुछ अन्य भारतीय भाषाओं से तथा पर्याप्त मात्रा में विदेशी भाषओं से। इस प्रकार संस्कृत भाषा में भी कुछ शब्द लिये जा सकते हैं परन्तु उनके साथ उसी रूप में संस्कृत प्रत्यय लगाकर प्रयोग करना उचित नहीं। ऐसे शब्दों के साथ 'इत्याख्यम्" शब्द लगाकर प्रयोग करना चाहिये यथा मोबाइल इत्याख्यम्, सेटेलाइट्इत्याख्येन, एलसीडी इत्याख्ये आदि। अंग्रेजी भाषा में हिन्दी भाषा के शब्दों को वाक्य के मध्य में होने पर बडे अक्षरों में लिखा जाता है जो कि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने के कारण मिश्रित होने पर भी अपने स्वरूप को विकृत किये विना शब्दों के मध्य बैठा रहता है किन्तु संस्कृत भाषा में यह स्थिति सम्भव नहीं। संस्कृत भाषा की संरचना ही इस प्रकार है कि यहाँ मिश्रित शब्द अविकृत एवं अप्रभावित होकर नहीं बैठ सकता क्योंकि वाक्य का अन्वय उपपन्न करने हेतु उस मिश्रित शब्द में कारक, विभक्ति या प्रत्यय को संयुक्त करना आवश्यक है[23]। जिसके कारण वह शब्द भाषा में मिश्रण न होकर संकरण बन जाता है। ऐसे वर्णसङ्कर प्रयोगों से संस्कृत भाषा का संस्कृतत्व उच्छिन्न हो सकता है। कल्पना करें यदि 'पठति' के लिये 'रीडति' या 'शिक्षते' के लिये 'लर्नति' आदि प्रयोग होने लगें तो 'बिन्दुं लगन्तं सस्कृतं बनन्तं' की तर्ज पर जो भाषा उभर कर आयेगी वह वर्णसङ्कर भाषा तो कहलायेगी ही साथ ही उपहासास्पद भी होगी। हमारा विद्वत्समाज भाषाविकास के नाम पर संस्कृत भाषा में अपाणिनीय प्रयोगों की भी स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करता। इस प्रसङ्ग में डॉ जगन्नाथ पाठक की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-'समकालिक संस्कृत साहित्य के विकास की गति को तीव्र करते हुये हमें यह ध्यान रखना है कि संस्कृत का मानक व्याकरण पाणिनीय व्याकरण है। उसके नियमों की अवहेलना हमारे लिये ठीक नहीं है। यह ठीक है कि किसी भाषा के विकास की गति को व्याकरण के रूढ तथा जटिल नियम बाधित करते हैं तथापि संस्कृत के विषय में पाणिनीय नियमों

की सीमा में रहना आवश्यक भी है और उचित भी। (आधुनिक संस्कृत के लिये व्याकरण की सीमा पर समयानुसार, आवश्यकतानुसार विचारविमर्श भी होना चाहिये)। संस्कृत के लेखन में यदि इस प्रकार की शिथिलता को प्रश्रय दिया गया तो संस्कृत का संस्कृतत्व उच्छिन्न हो सकता है'[24]।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाषा को व्याकरण के नियमों द्वारा बाँध कर भी नहीं रखा जा सकता जिससे भाषा का विकास ही अवरुद्ध हो जाये परन्तु प्रयोग करने में इतनी स्वच्छन्दता भी नहीं होनी चाहिये कि भाषा अपने वास्तविक रूप एवं वैशिष्ट्य को छोडकर विकृत या उपहासास्पद बन जाये। आधुनिक संस्कृत साहित्य में उपलब्ध 'सम्भालयति'[25] (सम्भालता है) भरति, भृत्वा, भर्तुम्[26] (भरता है) विदाय:[27] (विदाई) सोचनीया[28] (दयनीय) इत्यादि अनेक शब्द पाणिनीय धातुपाठ में निर्दिष्ट धातु के अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं जो कि भाषाविज्ञान के अनुसार अर्थपरिवर्तन का परिणाम है और संस्कृत भाषा के विकास को प्रदर्शित करता है। परन्तु बांग्लादेशोदयम् में उपलब्ध 'भडकति'[29] (भडकता है) लेहि[30] (लो) शब्दों का प्रयोग उचित नहीं क्योंकि पाणिनीय धातुपाठ के अन्तर्गत कोई 'भडक' धातु नही है 'क्रुध्यति''कुप्यति' आदि शब्द उक्त अर्थ को अभिव्यक्त कर देते हैं। इसी प्रकार 'लिह्' धातु पाणिनीय धातुपाठ के अन्तर्गत 'चाटने' के अर्थ में पठित है और अष्टाध्यायी के नियमानुसार 'होढ:[31]' 'ढो ढे लोप:[32]'सूत्रों की प्रवृत्ति होकर 'लेढि' शुद्ध रूप बनता है। इस प्रकार 'लेहि' शब्द अपाणिनीय भी है और प्रापणार्थ से भिन्न किसी विशेष अर्थ को भी अभिव्यक्त नहीं कर रहा अत: अनावश्यक इस प्रकार के अनुचित प्रयोगों को साहित्यिक भाषा में समाविष्ट करना प्रमाद है।

सन्दर्भ -

[1]पाणिनीय धातुपाठ, भ्वदिगण ४०७

[2]अष्टाध्यायी,३\३\१०३

[3]वही,४/१/४

[4]व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक, पृ०४४

[5]वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड कारिका, १३३

[6]भाषाविज्ञान,आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ०१८३

[7]स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत नाटकों में अपाणिनीय प्रयोग,लेखक का शोधप्रबन्ध

[8]बांग्लादेशोदयम्

[9]वही

[10]वही

[11]वही

[12]वही

[13]वही

[14]वही

[15]वही

[16]वही

[17]भाषाविज्ञान, देवेन्द्रनाथ शर्मा,पृ ५३

[18]भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी,पृ९०

[19]वही,पृ ५८

[20]अन्यद्भिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्, सहित्यदर्पण, परिच्छेद २,पृ ३१

[21]अर्थनित्य: परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन, निरुक्त २.१

[22]भाषाविज्ञान ,भोलानाथ तिवारी, पृ ७१

[23]न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या न केवल: प्रत्यय:, व्याकरण महाभाष्य

[24]संस्कृत वाङ्मय का बृहद्इतिहास, आधुनिक नाटक खण्ड,भाग ७ भूमिका

[25]तं सम्भालयति स्वाञ्चलव्यजनेन वीजयति च, आदर्शौदार्यम्, पृ १३

[26]पाणिनीयनाटकम्, पृ ४८,६०

[27]अधुना विदायो याच्यते मया,कविकालिदाम्, पृ ३९,

[28]वेदनाव्यञ्जकम्,पृ ७०

[29]बांग्लादेशोदयम्,पृ ३१

[30]मूर्ख त्वमपि बुद्धिमुपासय,लेहि बुद्धिं मत्, वही, पृ २८

[31]अष्टाध्यायी,

[32]वही,

वाक्यार्थचिन्तन परम्परा में क्रियावाक्यार्थ

• डॉ. सत्यकेतु*

शोधसार- वाक्य की ही भाँति वाक्यार्थ भी प्राचीन काल से ही सभी प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायों के लिए प्रमुख विवेचनीय विषय रहा है। वो चाहे आस्तिक दर्शन हों अथवा नास्तिक सभी दर्शन प्रस्थानों एवं वैयाकरणों ने इस विषय पर अपना सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह चिन्तन प्रक्रिया, अपने-अपने सिद्धान्तों को दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक व्यापक सिद्ध करने हेतु प्रयासरत थीं। एतदर्थ विविध आलोचनात्मक आक्षेप-प्रत्याक्षेप, खण्डन-मण्डन और प्रश्न-प्रतिप्रश्न की परम्परा समृद्ध हुई। यहाँ यह अवधेय है कि ये वाक्यार्थविषयक सभी सिद्धान्त, इन दार्शनिक प्रस्थानों की अपनी-अपनी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किए गए थे। इन चिन्तनसरणियों में भिन्नता का यह एक मुख्य कारण है।

बीजशब्द- वाक्य, क्रियावाक्यार्थ, अखण्डवाक्य, अखण्डवाक्यार्थ, अन्विताभिधानवाद, शाब्दबोध, वाक्यार्थबोध।

वाक्यकाण्ड में वाक्यार्थसिद्धान्त का वर्णन किसी विशेष क्रम से नहीं हुआ है। वाक्य के अष्टविध विवेचन में प्रसङ्गप्राप्तविभन्नवाक्यार्थों का भी विवेचन कर दिया गया है। वाक्यार्थविषयक सिद्धान्तों के कितने प्रकार हैं इसकी भी कोई स्पष्ट सूचना आचार्य भर्तृहरि के द्वारा नहीं दी गयी है। इसके लिए वैयाकरणदार्शनिक सदैव पुण्यराज के ऋणी रहेंगे। उन्होंने अपनी टीका के माध्यम से सर्वप्रथम यह संकेत दिया कि आचार्य ने वाक्यार्थविषयक कितने मत उल्लिखित किए हैं और किन-किन कारिकाओं में उनका वर्णन किया है। इसके साथ-साथ पुण्यराज ने यह भी स्पष्ट किया है कि आठ वाक्यलक्षणों में से किस वाक्यलक्षण में कौन सा वाक्यार्थ घटित होता है।

वाक्यार्थ क्या है? इसको प्रतिपादित करने के लिए आचार्यों ने जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया है उसे शाब्दबोध के नाम से अभिहित किया गया है। उच्चरित सार्थक शब्द समूह को वाक्य कहा जाता है। जिसे भली प्रकार सुनकर श्रोता को किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है जो उस वाक्य के अन्तर्गत आये घटक शब्दों के अर्थ से अतिरिक्त होती है। इसी प्रतीति (बोध) को 'शाब्दबोध'

*सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

अथवा 'वाक्यार्थबोध' के नाम से जाना जाता है। सैद्धान्तिक स्तर पर वैमत्य रखने वाले विद्वान् भी वाक्यार्थबोध की इस प्रक्रिया के विषय में एकमत हैं।[1] जगदीश तर्कालंकारशब्दशक्तिप्रकाशिका में इसी भाव को द्योतित करते हुए लिखते हैं –

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः। सम्पद्यते शाब्दबोधः।[2]

वैयाकरणों ने वाक्य एवं वाक्यार्थ के स्वरूप निर्धारण तथा विश्लेषण का कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रारम्भ कर दिया था। संग्रहकारव्याडि ने अपने ग्रन्थ में वाक्यार्थ को पदों के रूप एवं अर्थों के प्रति कारण कहा है।[3] निश्चय ही लुप्त संग्रह ग्रन्थ में वाक्यार्थविवेचन विस्तार से किया गया होगा। महाभाष्यकारपतञ्जलि ने भी वाक्यार्थविवेचन के लिए दो स्थलों पर अपना उपयोगी मत प्रस्तुत किया है- पहले स्थल पर आए मत के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ को व्यक्त करते हैं। पद की सामान्य से विशेषार्थ में अवस्थिति ही वाक्यार्थ है।[4] कैय्यट ने इसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वाक्यार्थपदार्थसंसर्गरूप है, वाक्य ही मुख्यशब्द है एवं वाक्यार्थमुख्यशब्दार्थ है[5] और दूसरे स्थल पर आये हुए कथन से स्पष्ट होता है कि वाक्य में पदों के उच्चरित होने पर प्रत्येक पदार्थ से अतिरिक्त जो कुछ भी आधिक्य रूप में प्राप्त होता है वही वाक्यार्थ है।[6]

कारण, स्वरूप एवं प्रक्रिया के त्रिकोण में वाक्यार्थसम्बन्धीचिन्तन का विकास हुआ है। आचार्यों के मध्य मत-वैभिन्य का एक बिन्दु वाक्यार्थ के कारण से सम्बन्धित है। वैयाकरण वाक्य को किसी भी प्रकार के अवयव से रहित होने के कारण अखण्ड मानते हैं। किन्तु उच्चारण दशा में क्रमवान् ध्वनियों से अभिव्यक्त होने के कारण यही अखण्ड अवयवरहित वाक्य क्रमयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार के वाक्य के श्रवण होने पर श्रोता की बुद्धि में स्थित स्फोट जागृत होता है तथा वाक्यार्थ (शाब्दबोध) प्रतिभासित हो जाता है। इस रीति से अभिव्यक्त होने वाले वाक्यार्थ का कारण वाक्य को स्वीकार किया जाता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार उच्चारण के बाद सुने गए पद पहले अपने स्वतन्त्र अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर वे पदार्थ परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) होकर वाक्यार्थ का अवबोध कराते हैं। अतः उनके अनुसार वाक्यार्थ का कारण पदार्थ ही है। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार वाक्यगत पदों से सदैव परस्पर अन्वित अर्थ की ही प्राप्ति होती है। परस्पर विशिष्टपदार्थ ही वाक्यार्थ है। इस प्रकार इनके मत में वाक्यगत पद ही वाक्यार्थ का कारण हैं।

मतभेद का दूसरा बिन्दु वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में है। वाक्यार्थ को स्वरूप की दृष्टि से दो प्रकार माना गया है- १. संसर्गात्मकवाक्यार्थ तथा २. भेदात्मकवाक्यार्थ।

इनमें से पहले पक्ष के अनुसार- वाक्यस्थ पद संसृष्ट होकर अर्थात् परस्पर सम्बन्धित होकर एक विशिष्ट अर्थ (वाक्यार्थ) को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत भेदात्मकवाक्यार्थवादियों के अनुसार वाक्यगत पदार्थ परस्पर व्यावृत्त होकर (भिन्न होकर) वाक्यार्थ का अभिधान करते हैं। बौद्ध दार्शनिकों को छोडकर अन्य सभी वाक्यार्थवादीवाक्यार्थ को संसर्गात्मक मानते हैं। बौद्धों के मत में वाक्यस्थ प्रत्येक पद अपोहात्मक अर्थात् तद्भिन्न-भिन्न अर्थ देता हुआ अन्य पदों के अर्थों से अपना भेद

भी करता है।[7] इसी प्रकार प्राचीन आचार्य वाजप्यायन के द्वारा वाक्यार्थ को संसर्गात्मक एवं आचार्य व्याडि के द्वारा भेदात्मक माने जाने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[8]

अन्विताभिधानवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य श्री प्रभाकर मिश्र हैं। इनका अपर नाम गुरु है अतएव इस मत को गुरुमत के नाम से भी जाना जाता है। अन्विताभिधान में षष्ठीतत्पुरुषसमास है। **'अन्वितानाम् (पदार्थानाम्) अभिधानम्'** अर्थात् प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है, अपितु वे पहले से अन्वित पदार्थों का बोध कराते हैं। अन्विताभिधान के अनुसार, वाक्यस्थ अन्य शब्दों के अर्थ के साथ अन्वय किसी भी शब्द के अर्थ का अंग है, क्योंकि लोकव्यवहार में हमें कभी अनन्वित शब्दों के अर्थ का बोध नहीं होता। हमें उनका सदा अन्वित रूप में ही बोध होता है।[9] इन अन्वयसहित पदार्थों को ही वाक्यार्थ कहते हैं। काव्यप्रकाशकारमम्मट्ट ने भी अन्विताभिधान को परिभाषित किया है। उनका कहना है कि वाच्य ही वाक्यार्थ है अर्थात् वाक्यार्थ में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ विलक्षण नहीं होता है।[10]

इस मत की प्रस्तुति के अनुसार वाक्यार्थ का कारण पद ही है।[11] पदार्थ वाक्यार्थ का कारण नहीं हैं। क्योंकि इस मत में पदार्थ को ही वाक्यार्थ माना गया है। उनका मानना है कि पदार्थ वाक्यार्थ से भिन्न नहीं है अर्थात् पदार्थ और वाक्यार्थ एक ही है।[12] श्री प्रभाकर मिश्र ने पदों में द्विविध शक्तियों का वर्णन किया है[13]- स्मारिका शक्ति तथा आनुभाविकी शक्ति।

जहाँ स्मारिका शक्ति से पद के अन्वयरहित एवं सामान्य अर्थ का बोध होता है, वहीं आनुभाविकी शक्ति द्वारा पद के अन्वययुक्त (अन्वित) अर्थ का अवबोध कराया जाता है। इन शक्तियों की कल्पना के माध्यम से भर्तृहरिभाट्टमीमांसकों[14] के आक्षेपों को निराधार सिद्ध कर देते हैं कि इस मत में पदों से सामान्य (अनन्वित) अर्थ प्राप्त नहीं होता है। वाक्यार्थअवबोध की दशा में सबसे पहले हमें पद प्राप्त होते हैं। पदार्थों के बोध एवं वक्ता के तात्पर्य को जानने का साधन पद ही होते हैं।[15] परिणामस्वरूप वाक्यार्थ के बोध में हेतु भी इन्हीं को मानना चाहिए। पदों की शक्ति तो पदार्थ को ज्ञापित करके विरत हो जाती है। यदि पदार्थों में परस्पर अन्वय की शक्ति को, पदों में स्वीकार नहीं किया जायेगा, तब अन्वयार्थ एक और अन्य शक्ति (लक्षणा) को मानना पड़ेगा। जिससे यह प्रक्रिया अत्यन्त गौरवपूर्ण हो जायेगी। इसी लिए पदों में अन्वित अर्थ (स्वार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों को) कहने वाली शक्ति स्वीकार करनी चाहिए।[16] जहाँ भाट्टमत[17] में शाब्दबोध के लिए- १. पदों की पदार्थाभिधान शक्ति, २. पदार्थों में वाक्यार्थबोध कराने वाली शक्ति, ३. वाक्यार्थ को पुनः पद से सम्बद्ध करने वाली शक्ति आदि तीन-तीन शक्तियों को मानना पडता है, वहीं प्रस्तुत मत में पदों के अन्वित अर्थ को बताने वाली एकमात्र शक्ति से कार्य सिद्ध हो जाता है।[18]

वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज के व्याख्यान से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि ने अन्विताभिधान पक्ष में वाक्यार्थ के दो मतों को प्रस्तुत किया है। पहला संसृष्टार्थवाक्यार्थ एवं दूसरा क्रियावाक्यार्थ।[19]

वाक्यलक्षणों में से 'आख्यातशब्द' वाक्य को स्वीकार करने वाले आचार्यों के अनुसार वाक्यार्थ 'क्रिया' है। वाक्य का प्रयोग प्रवृत्ति या निवृत्ति प्रधान होता है। जिस समय वक्ता की विवक्षा श्रोता को किसी कार्यविशेष में व्यापृत करने की होती है, तब वह प्रवृत्त्यर्थक वाक्य का प्रयोग करता है और जब किसी कार्य से निवृत्ति की, तब निवृत्त्यर्थक वाक्य का। ध्यातव्य यह है कि चाहे प्रवृत्ति की बात हो या निवृत्ति की, दोनों ही स्थितियों में अभिव्यक्ति क्रिया के माध्यम से होगी। भाषा में व्यवहार वाक्य एवं वाक्यार्थ से सम्पन्न होता है क्योंकि वही सत्य हैं। इसीलिए अर्थ के अवबोध हेतु वाक्य का प्रयोग होता है। किन्तु क्रियावाक्यार्थवादी आचार्य महता कण्ठ से कहते हैं कि व्यवहार में कोई भी सत्य या असत्य ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें क्रिया का समावेश ना हो। क्रिया के संसर्ग हुए बिना किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः व्यवहार में क्रिया रहित पदार्थ नहीं हो सकता है।[20]

यदि हम 'सत्' पद का अर्थ आकांक्षारहित सत्ता का प्रतिपादन मान लें तो इसमें तो क्रिया का अभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः यह पद क्रियाहीन माना जाये। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि यहाँ 'वह था', 'है', 'नहीं था', 'नहीं है' आदि क्रियाओं में से किसी एक क्रिया का सम्बन्ध मानना आवश्यक है। अन्यथा वाक्यार्थ की समाप्ति नहीं होगी। 'है' आदि क्रियापद से रहित केवल पदमात्र की सार्थकता नहीं होती है।

वाक्य में साध्य (क्रिया) एवं साधन (कारक) परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं अर्थात एक के विना दूसरा नहीं रह सकता। जिस प्रकार साधन क्रिया के विना नहीं रह सकता है, अतः आकांक्षावशात् आक्षेपक (लाने वाला) कहा जाता है। इसी प्रकार क्रिया भी कारक के विना नहीं रह सकती है। जब तक क्रिया शब्द से वाच्य क्रिया अर्थ में कारक का कथन नहीं किया जाता है तब तक आकांक्षा बनी रहती है।[21]

क्रिया के ज्ञान से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अतः वाक्य में क्रिया की प्रधानता है और यही कारण है कि वाक्य से अपोद्धार की दशा में सर्वप्रथम क्रिया का ही अपोद्धार किया जाता है, कारक का नहीं। क्रियारूपी साध्य की सिद्धि के लिए साधनरूपी कारक प्रयुक्त होते हैं। साधन अंग होते हैं और साध्य (क्रिया) प्रधान। अतः पहले अपोद्धार भी क्रिया का ही होता है।[22] इस प्रकार वाक्य में क्रियापद का अर्थ ही प्रधानता से प्रतीत होता है। भर्तृहरिक्रियार्थ को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि एक क्रिया दूसरी क्रिया से भिन्न है। प्रत्येक क्रिया के आधार एवं साधन नियत होते हैं। वाक्य में क्रिया ही सर्वप्रथम वाक्यार्थ के रूप में प्रतिपत्ता (श्रोता) के द्वारा ग्रहण की जाती है, जिससे क्रियावाक्यार्थ का बोध होता है-

क्रियाक्रियान्तराद्भिन्ना नियताधारसाधना। प्रक्रान्ता प्रतिपत्तॄणां भेदाः सम्बोधहेतवः।[23]

शेष नामपदों के अर्थ गौण होने के कारण क्रियार्थ के विशेषण की भाँति अवभासित होते हैं। यद्यपि नामपदों से नियत सम्बन्ध होने से केवल क्रियापद भी सम्पूर्ण वाक्यार्थ को प्रतिपादित करने में

समर्थ है, पुनरपि क्रिया के अतिरिक्त जो अन्य पद प्रयुक्त होते हैं, वे क्रिया वाक्यार्थ के वास्तविक रूप को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः वे केवल वाक्यार्थ अवबोध के उपाय हैं।

भर्तृहरिअन्विताभिधानवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि एक ही पद से सभी विशेष अर्थों से युक्त वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है, तो उस वाक्य के अन्य पदों का उच्चारण करना व्यर्थ हो जायेगा। जिन पदों का अर्थ पहले ही ज्ञात हो चुका है, उन्हें व्यर्थ मानना ही पड़ेगा। इसके समाधानार्थ वादी द्विविध उपाय बता सकता है- प्रथम पद से ही ज्ञात हुए अर्थ की पुनरावृत्ति नियम करने के लिए हुई है या उसमें नियम था उसको मात्र स्पष्ट करने के लिए एवं अन्य पदों का उच्चारण ज्ञात हुए अर्थ का अनुवादमात्र है। ये दोनों ही उपाय समाधान करने में सक्षम नहीं है क्योंकि एक पद से सारे अर्थ की प्रतीति मान लेने पर अन्य पदों की निरर्थकता माननी ही पड़ेगी।[24] इसके साथ यह भी सत्य है कि एक ही पद से सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है, इसीलिए यह कहना कि अन्य पदों से व्यक्त अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है, उचित समाधान नहीं है। यह कैसे सम्भव है कि आप एक ओर एक पद से सारे वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति मानें और दूसरी ओर अन्य पदों को उसी अभिव्यक्तार्थ का अभिव्यञ्जक।[25] यदि सभी पदों से सामूहिक रूप में वाक्यार्थ माना जाये तो अन्विताभिधान पक्ष सिद्ध ही नहीं होता है क्योंकि पहला पद उच्चरित होकर नष्ट हो चुका है, अतः उसकी सत्ता न होने से अन्य पदों से उसका अन्वय सम्भव नहीं है। जिसके अभाव में वाक्यार्थ का ज्ञान भी सम्भव नहीं है।

यद्यपि यह मत पद के स्वतन्त्र अर्थ को महत्त्व ना देते हुए वाक्यार्थ को एक इकाई के रूप में मानने के कारण, वैयाकरणदार्शनिकों की दृष्टि में अभिहितान्वयवाद की अपेक्षा कम दोषपूर्ण है। पुनरपि वाक्य एवं वाक्यार्थ को सखण्ड मानने वाला, ज्यादा हो अथवा कम, वह दोषी तो है ही। इस मत के अनुसार वक्ता पदों का अर्थ के साथ अन्वयपूर्वक अभिधान करता है, परन्तु श्रोता को वाक्य का बोध किस प्रक्रिया के माध्यम से होता है। इसका कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है। इससे इस सिद्धान्त का एकाङ्गित्व प्रकट होता है।

इस मत में क्रिया को वाक्यार्थ माना गया है। जो क्रिया स्वयं साकाङ्क्ष होती है[26] वह वाक्यार्थ के रूप में पूर्ण अखण्ड व निराकाङ्क्ष अर्थ कैसे प्रदान करेगी। क्रियावाक्यार्थ मानने पर पदों का शास्त्रसम्मतचतुर्विधविभाजन का भी खण्डन होता है।[27] प्रथम पद से वाक्यार्थबोध मानने पर 'सीता दृष्टा मया' जैसे वाक्यों में प्रत्येक पद वाक्य बन जाएगा। क्योंकि संस्कृत में वाक्य का प्रारम्भ तीनों पदों से सम्भव है। इस प्रकार मानने से अव्यवस्था उत्पन्न होगी।

इस मत के अनुसार पदार्थ ही वाक्यार्थ है। यह एक और दोष है चूँकि पहले पदों से कुछ अर्थ ज्ञात होता है तथा वाक्यसमाप्ति पर कुछ भिन्न ही अर्थ की प्रतीति होती है। जिसे वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। महाभाष्यकार इस विषय को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे- **"अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति[28]"** इस वाक्य का पदार्थ पहले यह ज्ञात होता है कि 'हे बहन जो तुम बैल को शिर से ढो रही हो, क्या तुमने तिरछे दौड़ते हुए घड़े को

देखा है' यहाँ वाक्यस्थ पद यथास्थान न होने से उचित अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। उनको यथास्थान रखने पर सही वाक्यार्थ- 'हे घडे को शिर से ले जाने वाली बहन! क्या तुमने, तिरछे दौडते हुए बैल को देखा है' यह होगा। भर्तृहरि का भी यही मानना है कि पदार्थ को वाक्यार्थ मानने पर वाक्य से सही वाक्यार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है, जिसका ज्ञान वाक्य की समाप्ति पर होता है।[29]

भर्तृहरि ने व्यङ्ग्यार्थ वाले वाक्यों को उदाहृत करते हुए अन्य दोषों का भी प्रदर्शन किया है। जिनका पदार्थ प्रशंसापरक है, किन्तु वाक्यार्थनिन्दापरक। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी वाक्य हैं जिनका पदार्थ निन्दापरक है, किन्तु वाक्यार्थप्रशंसापरक। अतः ऐसे व्यङ्ग्यार्थ प्रधान वाक्यों में पदार्थ को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार अन्विताभिधान पक्ष यहाँ भी दोषयुक्त तथा अपूर्ण है।[30]पुण्यराज और भी अनेक प्रकार के दोषों की उद्भावनायें प्रस्तुत करते हैं[31] जिनसे यह मत एकाङ्गी तथा अपूर्ण ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्यकाण्ड) में वाक्य एवं वाक्यार्थ का विवेचन विस्तार से किया है। उन्होंने वाक्य एवं वाक्यार्थ को एक ही आन्तरतत्त्व (शब्दात्मा) के सम्बन्धी के रूप में प्रतिपादित किया है।[32]भर्तृहरि ने अपने समय के तथा अपने से पूर्व के प्रचलित वाक्यार्थसम्बन्धी अनेक मतों का वर्णन किया है। जहाँ अन्य मत वाक्यार्थविवेचन में कहीं ना कहीं पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं वहीं भर्तृहरि वाक्यार्थ की अखण्डसत्ता के पोषक हैं। भर्तृहरि पूर्वपक्ष के रूप में पदार्थवादियों का उल्लेख करते हुए अखण्डवाक्यार्थपक्ष की स्थापना करते हैं। उनका मानना है कि किसी विषय विशेष से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन पुरःसर अपने सिद्धान्त की स्थापना और अधिक महत्त्वाधायी हो जाती है।[33] वस्तुतः विकल्परहित (भेदविहीन-अखण्ड) वाक्यार्थ में, उसके प्रतिपादनार्थ निर्मित विकल्प (भेद) अपनी-अपनी भावना (मान्यता) से प्रेरित हैं।[34]

सन्दर्भ -

---

1 इह खलु पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमविवादं विदितसंगतीनां अनधिगतार्थविषयाधीरुदयमासादयति । तत्त्वबिन्दु वाचस्पतिमिश्र, पृ०४-५

2 शब्दशक्तिप्रकाशिका, १२

3 पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते। स्वोपज्ञवृत्ति वा०प० १.२४

4 पदानां सामान्ये वर्त्तमानानां यद्विशेषेऽवस्थानं सः वाक्यार्थः । म०भा० १.२.४५

5 म०भा० १.२.४५

6 यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः। म०भा० २.३.४५

7 Apoha & Pratibhaa – Masaaki Hattori, Paper edited in `Sanskrit and Indian studies, p. – 61-73

8 Relation of words in a sentence : Bheda or Samsarga – Indian Theories of Meaning, p. 191

9 वाक्य के विषय में भर्तृहरि- भर्तृहरि, के०ए०सुब्रह्मण्यम् अय्यर, पृ० १९८

10 वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः। का०प्र० सूत्र० ७

[11] पदेभ्य एव वाक्यार्थप्रत्ययो जायते। वाक्यार्थमातृका, श्लो० १

[12] पदार्थानेव वाक्यार्थ सङ्गिरन्ते विपश्चितः ॥ वाक्यार्थमातृका, श्लो० ३

[13] अन्विताभिधानाभिहितान्वयवादयोः स्वरूपम्, सुधाकर दीक्षित, सा० सु०- २०३९ में संकलित

[14] अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट आदि आचार्य

[15] प्राथम्यादभिधातृत्वात्तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमित्युपगम्यताम्॥ वाक्यार्थमातृका- ११

[16] पदैरेवान्वितस्वार्थमात्रोपक्षीणशक्तिभिः।
स्वार्थाश्चेद्बोधिता बुद्धौ वाक्यार्थोपि तथा सति॥ वाक्यार्थमातृका- १२

[17] अभिहितान्वयवाद में

[18] अन्वयार्थगृहीतत्वान्नान्यां शक्तिमपेक्षते। विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य- वाक्यार्थमातृका

[19] संसृष्टे क्रियायाञ्चान्विताभिधानम्। पु०रा०टी०, वा०प० २.१-२

[20] अस्तित्वेनानुषक्तो वा निवृत्त्यात्मनि वा स्थितः।
अर्थोऽभिधीयते यस्मादतो वाक्यं प्रयुज्यते॥
क्रियानुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।
सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारे न सोऽस्त्यतः॥ वा०प० २.४२३,४२४

[21] सदित्येव तु यद्वाक्यं तदभूदस्ति नेति वा।
क्रियाभिधानसम्बन्धमन्तरेण न मन्यते॥
आख्यातपदवाच्येऽर्थे साधनोपनिबन्धने।
विना सत्त्वाभिधानेन नाकांक्षा विनिवर्त्तते॥ वा०प० २.४२५,४२६

[22] प्राधान्यात्तु क्रिया पूर्वमर्थस्य प्रविभज्यते। साध्यप्रयुक्तान्यगांनि॥ वा०प० २.४२७

[23] वा०प० २.४१४

[24] क. आवृत्तिरनुवादो वा पदार्थव्यक्तिकल्पने।
प्रत्येकं तु समाप्तोऽर्थः सहभूतेषु वर्त्तते॥ वा०प० २.११५, द्र.- पु०रा० टी० इसी कारिका पर।
ख. अथाधारः स एवास्य नियमार्था श्रुतिर्भवेत्॥ वा०प० २.२४४,
ग. नियमद्योतनार्था वा अनुवादोऽथवा भवेत्॥ वा०प० २.२४५

[25] तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते।
व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तृषु॥ वा०प० २.१८

[26] स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकाङ्क्षो विनिवर्त्तते। वा०प० २.३३५

[27] चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद्विरुद्ध्यते । वा०प० २.११७

[28] म०भा० १.१.५७

[29] विरुद्धं चाभिसम्बन्धमुदहार्यादिभिः कृतम्।
वाक्ये समाप्ते वाक्यार्थमन्यथा प्रतिपद्यते॥ वा०प० २.२४६

[30] स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः।
पदानां प्रविभागेन यादृशः परिकल्प्यते॥ वा०प० २.२४७

[31] पु०रा०टी०, वा०प० २.२८-२९

[32] एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक् स्थितौ। वा०प०२.३१

[33] प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥ वा०प० २.४८४

[34] अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पाः भावनाश्रयाः।वा०प० २.११६

शाङ्कर अद्वैतवाद एवं ईश्वराद्वयवाद का तुलनात्मक स्वरूप

• डॉ. गौरव सिंह*

शोधसार- शैवमत एक अद्भुत वाङ्मय से समृद्ध है।भारतीय दर्शन परम्परा में यह दर्शन की अद्वयपरम्परा परमशिव के साथ ही शक्ति का भी सर्वत्र प्रतिपादन करती है। चित् या ब्रह्म या प्रकाश अज्ञान मात्र है। चित् प्रकाश-विमर्शमय है। अतः ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनो हैं उसमे पञ्चकृत्य होता रहता है। अद्वैतवाद में माया अनिर्वचनीय है एवं माया महेश्वर की शक्ति होने के कारण सत्य है। वेदान्त में श्रवण, मनन और निदिद्धयासन से विद्या प्राप्त और उसी से मुक्तिलाभ होता है। अद्वैतशैववाद के अनुसार अविद्या या अज्ञान केवल शक्तिपात या भगवदनुग्रह से ही होता है।

बीजशब्द - अद्वैतशैववाद, शाक्तदर्शन, शङ्कराचार्य, ब्रह्म, स्वातन्त्र, पंचकृत्य।

श्री शंकराचार्य के दर्शन को अद्वैतशैववाद मे प्रायः शान्तब्रह्मवाद अथवा केवलाद्वैतवाद या मायावेदान्तवाद कहते है। अद्वैतशैववाद के ईश्वराद्वयवाद, प्रत्यभिज्ञादर्शन, या त्रिकदर्शन ये नाम प्रसिद्ध है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के विकास परम्परा में आचार्य क्षेमराज अभिनवगुप्त के शिष्यों में प्रथम थे।[1]वहीं दूसरे स्थान पर अभिनवगुप्त ने क्षेमराज को अपने भाईयों मे प्रथम एवं वामनगुप्त को उनका पिता माना है।[2]

अभिनवगुप्त कृत तंत्रालोक में क्षेम एवं क्षेमराज की कृति में भी क्षेमराज के रूप में संदर्भित किया गया है।

'क्षेमेणोद्धियते सारः संसारविषशान्तये'[3]

त्रिकदर्शन और शाक्तदर्शन दोनों अद्वैतवादी है। इसके अनुसार परमतत्व शिव है, जो अनन्तचेतानावान् और अबाधित स्वातन्त्र्य से युक्त हैं। अज्ञान,माया या जगत् आत्मा का स्वयं परिगृहीत रूप है। परमेश्वर नट के समान विविध रूप ग्रहण करता है किन्तु वह स्वयं को समेटने और प्रकट करने दोनों में समर्थ है। अज्ञान केवल उसका विजृम्भण है।

शिवसूत्र में कहा है- **चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः**[4] ।

स्पन्दकारिका में कहा है-

*सहायक आचार्य, अभिनव गुप्त संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोद्भवौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः ॥[5]

शंकराचार्य यह मानते हैं कि ब्रह्म निष्क्रिय है। अतः अद्वैतशैववाद शंकराचार्य के दर्शन को शान्तब्रह्मवाद कहता है। शान्तब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद का प्रथम मुख्य भेद यह है कि शान्तब्रह्मवाद के अनुसार चित् या ब्रह्म का वैशिष्ट्य है प्रकाश या ज्ञान, जब कि ईश्वराद्वयवाद के अनुसार चित् 'प्रकाश-विमर्श' स्वरूप है। दूसरे शब्दों में शंकर के अनुसार बह्म ज्ञान मात्र है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार उसका वैशिष्ट्य ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों है। शंकराचार्य का कथन हैं कि क्रिया केवल जीव का धर्म है, ब्रह्म में क्रिया नहीं है। शंकर ने क्रिया शब्द को बहुत ही संकुचित अर्थ में लिया है। शैव दर्शन कर्तृत्व को बहुत व्यापक अर्थ में लेता है ;इसके अनुसार ज्ञान भी प्रभु की एक क्रिया है। कर्तृत्व के बिना चित् या परमेश्वर जड़ के समान हो जायगा और कुछ भी घटित नहीं कर सकता। परशिव या परमेश्वर स्वतंत्र है, इसी:लिए यह कर्ता है।

पाणिनि ने ठीक ही कहा है **'स्वतंत्र:कर्ता'** जो स्वतंत्र होता है, वही कर्ता होता है। स्वातंत्र्य और कर्तृत्व प्रायः एक ही अर्थ के बोधक हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त **तन्त्रालोक** का प्रारम्भ इसी अज्ञान की धारणा के विवेचन से करते हैं। वह सबसे पहले समस्त शास्त्रों के मूल विवेच्य रूप में **अज्ञान व मोक्ष** की धारणाओं को प्रस्तुत करते हैं और बताते है कि इन सभी शास्त्रों की दृष्टि में अज्ञान ही संसृति का कारण है। संसृति है संसरणशील संसार। इस संसार में मोक्ष का कारण है **ज्ञान**।

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्।।[6]

मालिनीविजयोत्तरतंत्र मे अभिनवगुप्त ने कहा है कि अज्ञान के लिए मल संज्ञा का प्रयोग है।

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे।।[7]

शान्तबह्मवाद के अनुसार ब्रह्म बिल्कुल शान्त है, निष्क्रिय है।जब ब्रह्म अविद्या से उपहित हो जाता है, तब वह ईश्वर कहलाता है और तभी उसमें कर्तृत्व आता है। वास्तविक कर्तृत्व अविद्या का है। ईश्वर जब अविद्या से अनुपहित रहता है, तब उसमें कोई कर्तृत्व नहीं रहता। शङ्कर स्पष्ट रूप से कहते हैं-

"तदेवमविद्यात्मको पाधिपरिचछेदामेक्षमीश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्वं च,
न परमार्थतोविद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यत्वादिव्यवहार उपपद्यते" ।[8]

अर्थात् ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व उसकी अविद्या उपाधि-जन्य परिमितता पर अवलम्बित है।परमार्थ में जब विद्या के द्वारा आत्मा में से सभी उपाधियाँ निरस्त हो जाती हैं तब उसके लिए ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार उपयुक्त नहीं हो सकता।तो शंकर के अनुसार ईश्वर में जो कुछ कर्तृत्व है, वह अविद्या के कारण है।

इसके विपरीत, ईश्वराद्वयवाद के अनुसार ज्ञातृत्व और कर्तृत्व परमेश्वर का स्वरूप ही है।कर्तृत्व के बिना परमेश्वर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस दर्शन में शांकर वेदान्त के समान कर्तृत्व ईश्वर की उपाधि नहीं है. प्रत्युत उसका स्वरूप ही है। संक्षेपतः उसके कर्तृत्व को हम उसके पंचकृत्य में संग्रहीत कर सकते हैं। वह पंचकृत्य है सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह। उसका यह पंचकृत्य सदा चलता रहता है। जब वह जीव का रूप धारण करता है तब भी उसका उपर्युक्त पंचकृत्य बराबर चलता रहता है। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार शिव सदा पंचकृत्यकारी है। शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय है। महेश्वरानन्द का कहना है कि निष्क्रिय ब्रह्म तो असत् के समान हो जायेगा।

"तथाहि परमेश्वरस्य ह्ययमेवासाधारणस्वभावो यत् सर्वदा सृष्ट्यादिपंच कृत्यकारित्वम्। एतदनंगीकाराद्धि मायावेदान्तादिनिर्णीतस्यात्मनः स्वस्फुरणामोदमान्यलक्षणमसत्कल्प- त्वमापतितम्" ।[9]

अर्थात् परमेश्वर का यही असाधारण स्वभाव है कि वह सदा मृष्टि इत्यादि पंचकृत्य करता रहता है। यदि यह स्वीकार न किया जाय तो मायावेदान्तादि द्वारा निर्णीत आत्मा अपने स्फुरण का पता न होने से असत् के समान हो जायगा।

ईश्वराद्वयवाद भी अविद्या और माया को मानता है, किन्तु उसके अनुसार अविद्या या माया कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ईश्वर को प्रस्त कर लेती है, प्रत्युत बह अपने स्वातंत्र्य द्वारा, अपनी ही शक्ति द्वारा, अपने ही द्वारा आरोपित आत्म-संकोच है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है, जो कुछ कर्तृत्व है वह सब अविद्या अचवा तज्जन्य माया का है। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार सब कर्तृत्व ईश्वर का है, माया भी उसी के कर्तृत्व का एक प्ररूप है।

स्वतंत्र स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतसि शिवः।
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता।।
तदा भोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदम्।
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संमृतिरिति।।[10]

"स्वातंत्र्य से परिपूर्ण स्वच्छस्वरूप शिव ही मेरी चेतना में सदा स्फुरित होता रहता है। परा शक्ति ही मेरे इन्द्रियों के प्रान्त में क्रीडा करती रहती है तो फिर यह समस्त जगत् शुद्ध अहं-चेतना के चमत्कार से स्फुरित होता रहता है। न जाने कहां से संसृति (संसार) की ध्वनि मेरे कानों पर पड़ती है।"

शान्त ब्रह्मवाद के अनुसार माया अनिर्वचनीय है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार माया शिव की शक्ति होने के कारण यथाएं है और नानात्व और भेद-दृष्टि उत्पन्न करती है। शान्तब्रह्मवाद के अनुसार जगत् मिथ्या है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार जगत् सत्य है, वह ईश्वर की शक्ति का विलास है। यतः शक्ति यथार्थ है, अतःशक्ति द्वारा घटित विश्व भी यथार्थ है। शंकराचार्य माया को सत् और असत् दोनों से अनिर्वचनीय मानते हैं। (**सदसद्भ्यामनिर्वचनीया**), अतः उनका अतिवाद व्यावृत्ति मूलक (exclusive) है, अनुवृत्तिमूलक (allinclusive) नहीं है। ईश्वराद्वयवाद माया को

शिवमयी (शिव का ही प्ररूप) मानता है। अतः व अद्वैतवाद पूर्ण है, सर्वसंग्राही और अनुवृत्तिमूलक है। जैसा कि शंकर मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है और माया अन्ततोगत्वा असत्य है, यदि यह शांकर वेदान्त का आधारभूत मत है तो उनके दर्शन में द्वैताभास अनिवार्य हो जायना।

शंकर के विवर्तवाद के अनुसार जगत् में जो कुछ है वह सब नामरूप है और वस्तुतः सत्य नहीं समझा जा सकता। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार, आभास परमशिव को कल्पना या अनुभव होने के कारण सहप हैं। यद्यपि वे परमशिव में उसी रूप में नहीं रहते जिस रूप में परिमित प्रमाता या जीव उनका अनुभव करते है, तथापि वे परमशिव के अनुभव या कल्पना के रूप में उसमें विद्यमान रहते हैं। इसलिए वे बस्तुतः यथार्थ है। जो परमशिव का अनुभव या प्रत्ययन है वह असत्य नहीं हो सकता।

ईश्वराद्वयवाद के अनुसार जीव की अवस्था में भी शिव या आत्मा का पंचकृत्य चलता रहता है। शान्तब्रह्मवाद के अनुसार जीव में भी आत्मा निष्क्रिय रहता है, जो कुछ क्रिया होती है वह बुद्धि की होती है।

शंकर के अनुसार मुक्ति में जगत् निरस्त हो जाता है। शैवदर्शन के अनुसार मुक्ति में जगत् शिवचेतना के स्फुरण या आत्मचेतना के चमत्कार के रूप में प्रतीत होता है। विमर्श ही सारी सृष्टि-प्रकिया का मूल उद्गम स्थल है। शिव ही शुद्ध अहं-चेतना ही से निमेष अथवा तिरोभाव प्रारम्भ होता है। उन्मेष या आविर्भाव पुनः उसी शुद्ध अहं-चेतना की ओर पहुँचता है तब वह परमतत्व के हृदय में स्थित हो जाता है। अतएव विश्व सत्यशिवरूप है, यह महेश्वर का वैभव है। मोक्षावस्था में विश्व शिव चेतना के रूप मे प्रतीत होता है। आभास शिव की परिकल्पना है इसलिए वे असत्य नही हो सकते।

सन्दर्भ -

१.गुरुनाथपरामर्श-4
२.तंत्रालोक-37/67
३.प्रत्यभिज्ञाहृदय,जयदेव सिंह(2016)-पृ0.41
४.शिवसूत्र-1
५. स्पन्दकारिका-1
६. मालिनीविजयोत्तरतंत्र-1/22
७. मालिनीविजयोत्तरतंत्र-1/23
८. ब्रहमसूत्रशांकरभाष्य-2/1/14
९. महार्थमञ्जरी, महेश्वरानन्द ; पृ०52
१०.महार्थमञ्जरी, महेश्वरानन्द ; पृ०25

ज्योतिषशास्त्र का आधार ऋग्वेद - एक अध्ययन

• डॉ. ऋचा पाण्डेय*

शोधसार - ज्योतिष का अर्थ है- ज्योतिर्विज्ञान। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि आकाशीय पदार्थों की गणना ज्योतिर्मय पदार्थों में है। इनसे सम्बद्ध विज्ञान को ज्योतिष या ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) कहते हैं। लगध ने इसको 'ज्योतिषाम अयनम्' अर्थात् नक्षत्रों आदि की गति का विवेचन करने वाला शास्त्र कहा है। वेदांग ज्योतिष अद्यावधि उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थों से प्राचीनतम है। ऋग्वेद ज्योतिषशास्त्र का मूल स्रोत है यह प्रस्तुत शोधपत्र का प्रतिपाद्य है।

कूट शब्द: वेदांग, ज्योतिष, यथार्थ, युग, संवत्सर,प्रातिशाख्य, धृतव्रत

वेदांग का अर्थ है वेद का अंग (वेदस्य अंगानि)। यहाँ पर अंग शब्द का अर्थ है वे उपकारक तत्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है (अंग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अंगानि)। वेद अपौरूषेय हैं। वेदों के मन्त्रों के अर्थ को समझने के लिए हमें उसमें निहित गूढ़ार्थ को जानना होगा। वेद के गूढ़ एवं वास्तविक अर्थों को जानने के लिए जिन सहायक तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उन्हें वेदांग कहते हैं। वेदांगों का अध्ययन करने के पश्चात् ही हम वैदिक मन्त्रों का अर्थ, उनकी व्याख्या तथा यज्ञ में उनके विनियोग का सही अर्थ करने में समर्थ होते हैं। प्रारम्भमं वेदांग स्वतन्त्र विषय न होकर वेदाध्ययन के लिए विशिष्ट उपयोगी साधन थे। बाद में ये स्वतन्त्र विषयों के रूप में विकसित हुए।[1]

वैदिक मन्त्रोच्चारण के ज्ञान के लिए शुद्ध शब्द तथा अर्थ के लिए, विनियोग के लिए, काल निर्धारण के लिए तथा छन्द ज्ञान के लिए सहायक साहित्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। उसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु विभिन्न छः वेदांगों का प्रणयन हुआ। शब्दों का शुद्ध उच्चारण कैसे हो, कस प्रकार किया जाए इस विषय को ध्यान में रखते हुए शिक्षा-ग्रन्थों की सृष्टि हुई। शब्दों का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ क्या है तथा उदात्त-अनुदात्त स्वरित इत्यादि स्वर क्या हैं, इनके ज्ञान के लिए व्याकरण और प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई। वेदों में प्रयुक्त छन्दों (गायती-अनुष्टुप-त्रिष्टुप-जगती आदि) की रचना एवं उच्चारण आदि विषय के लिए छन्दःशास्त्र का प्रणयन हुआ। शब्द किस प्रकार से बने हैं, उन मूल अर्थ, पारिभाषिक अर्थ इत्यादि के ज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र निरुक्त शास्त्र या निर्वचन शास्त्र बना। यज्ञों से सम्बन्धित क्रियाओं जैसे- यज्ञ कब किया जाय, यज्ञ करने का शुभ

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

मुहूर्त कब है, पूर्णिमा आदि दिन कब किस तिथि को पड़ रहे हैं इन विषयों के ज्ञान के लिए ज्योतिषशास्त्र बना। प्रत्येक यज्ञ की आदि से लेकर अन्त तक क विधि क्या होगी, यज्ञों में क्या आवश्यक वस्तुएँ चाहिए, कौन से मन्त्र पढ़े जाएँ, यज्ञ की वेदी का आकार-प्रकार कैसा हो इत्यादि का सूक्ष्मता से निर्देशन के लिए कल्प ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

पाणिनीय शिक्षा में वेद पुरुष का वर्णन करते हुए उसके छः अंगों के रूप में सभी वेदांग उल्लिखित हैं। तदनुसार छन्द वेद पुरुष का पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र निरुक्त कान, शिक्षा नासिका और व्याकरण मुख है।[2]

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तो कल्पोऽथपठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

वेदांग ज्योतिष-शुभ मुहूर्त में यज्ञ-सम्पादन के लिए इस वेदांग के अध्ययन की आवश्यकता है। वैदिक यागों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का अत्यन्त सूक्ष्म विधान है। 'वेदांग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ में कहा गया है-[3]

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञाम्।।

वेदांगों में ज्योतिष की प्रधानता बतलायी गयी है। आचार्यों ने वैदिक काल के ज्योतिष की उपयोगिता को समझकर 'वेदांग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया होगा। 'वेदांग ज्योतिष' आज प्राप्त सिद्धान्त ग्रन्थों से प्राचीनतम है। वैदिक मनीषी वेदों के समान ही इसे आप्त ग्रन्थ मानते हैं। 'वेदांग ज्योतिष' आज प्राप्त सिद्धान्त ग्रन्थों से प्राचीनतम है। वैदिक मनीषी वेदों के समान ही इसे आप्तग्रन्थ मानते हैं। 'वेदांग ज्योतिष' का मन्तव्य है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।[4]

वेदांग ज्योतिष के रचयिता-'वेदांग ज्योतिष' में स्पष्ट रूप से बतलाया गया हे कि प्रस्तुत ज्योतिष में महात्मा लगध के काल-ज्ञान को ही कहा जा रहा है। 'ऋग्वेद ज्योतिष' के दूसरे श्लोक में कहा गया है-

प्रणम्य शिरसा ज्ञानमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।।[5]

'वेदांग ज्योतिष' में जिन सिद्धान्तों का वर्णन है वह तो लगध आचार्य के हैं, परन्तु 'वेदांग ज्योतिष' के रचयिता (लेखक) कौन हैं, इस में परस्पर मत-वैभिन्यता देखने को मिलती है।

इह तावज्ज्योतिर्विदो लधाचार्यस्य शिष्यश्शुचिनमि
कश्चन ऋषिः प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य.....।

इस प्रकार ग्रन्थ के लेखक शुचिनाम के कोई आचार्य हो सकते हैं। जैसे कि कहा गया है-

पञ्चसंवत्सरमययुगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्वयनमासान् प्रणम्य शिरसा शुचिः।।[6]

वैदिक ग्रन्थों में ज्योतिष का उद्भवन और प्राचीनता-वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि वैदिक संहिताओं में ही ज्योतिष के सूक्ष्म बीज विद्यमान हैं। उन ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समाज में उस समय ज्योतिष का स्वरूप क्या रहा होगा, इसकी जानकारी हमें प्राप्त होती हैं तथा प्राचीन वैदिक ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त होता है। संसार का प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है, चारों वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद ही है। अतः ऋक्संहिता में हमें जो भी उल्लेख प्राप्त है उसकी प्राचीनता में हमें कोई संदिग्धता नहीं होनी चाहिए। अतः उसकी प्राचीनता असंदिग्ध मानी जा सकती है। ज्योतिष का विराट् ग्रह सूर्य ऋग्वेद में देवता रूप में प्रतिष्ठित है और उसे स्थावर-जङ्गम संसार की आत्मा कहा गया है-

चित्रं देवानामदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्यं वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।[7]

इसी प्रकार सूर्य पर आधारित ज्योतिष के कतिपय बिन्दु या बीज वैदिक साहित्य में देखे जा सकते हैं-

सूर्य्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्य्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम।।[8]

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक सौ पन्द्रहवें सूक्त के तीसरे मन्त्र में उल्लिखित है कि मनुष्यों के योग्य है कि श्रेष्ठ, पढ़ाने वाले शास्त्रवेत्ता विद्वानों को प्राप्त हो, उनका सत्कार कर उनसे विद्या पढ़ गणित आदि क्रियाओं की चतुराई को ग्रहण कर सूर्य सम्बन्धित व्यवहारों का अनुष्ठान कर कार्यसिद्धि करें।

भ्रदा अश्वा हरितः सूर्य्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यांसः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।।[9]

ऋग्वेद में 'युग' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में अनेक बार किया गया है। 'ऋग्वेद' में कहा गया है कि-

दीर्घतमा मामतेयो जुजुवन्दिशमे युगे।
अपामथै यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः।।[10]

इसमें 'युग' शब्द का अर्थ दस वर्ष से अधिक की अवधि नहीं है। इसमें कहा गया है कि ममता के पत्र दीघ्रतमा दश युगों में वृद्ध हुए। सम्भवतः युग पाँच संवत्सरों में व्यतीत होता था,[11] यही वेदांग ज्योतिष में बताया गया है-

पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।[12]

अर्थात् (वाणी-मन-शरीर से शुद्ध मैं क्रमशः पवित्र यज्ञज्ञ ब्राह्मणों के सम्मत यज्ञ, काल एवं यज्ञ के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पञ्च संवत्सरात्मक युगाध्यक्ष दिन-ऋतु-मास-अयन अंग वाले प्रजापति को अवनतशिर प्रणाम कर सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र के अयन को कहूँगा)।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अन्तर्गत एक मन्त्र में 'युगे-युगे' का वर्णन मिलता है। सायणाचार्य ने इस 'युग' का अर्थ प्रतिदिन किया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'त्रियुग' का उल्लेख प्राप्त होता है। वाजसनेयी संहिता में भी यही मन्त्र प्राप्त होता है। यहाँ त्रियुग का अर्थ सायणाचार्य कृतयुग, त्रेता और द्वापर करते हैं। आचार्य महीधर ने इसका अर्थ वसन्त, वर्षा और शरद् किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि युग शब्द का उल्लेख प्राप्त होने पर भी समय सीमा का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। परन्तु यह निश्चित ही है कि 'युग' शब्द किसी समय की बड़ी इकाई का द्योतक रहा है। पंचसंवत्सरात्मक युग का उल्लेख 'वेदांग ज्योतिष' में होता है, किन्तु इनका नामोल्लेख वहाँ नहीं प्राप्त होता, ये पाँच संवत्सर- परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर तथा इद्वत्सर हैं।[13]

ऋग्वेद के दशम मण्डल में संवत्सर शब्द का उल्लेख हमें प्राप्त होता है-

समुद्रादर्णवार्दा संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।[14]

अर्थात् (अर्णवात् समुद्रात्) जल-पूर्ण समुद्र अअर्थात् परमाणु-पूर्ण अन्तरिक्ष से (संवत्सरः) समय कालगणना (अजायत) प्रकट हुई अर्थात् सूर्य बना (अहोरात्राणि) दिन और रात को (मिषतः विश्वस्य) प्राणवान विश्व को (वशी) वश में करने वाले ने (विदधत्) धारण किया। संसार अब प्राणवान गतिशील होने लगा और उसका धारणकर्ता ईश्वर था।

ऋग्वेद में संवत्सर और 'परिवत्सर' शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है-

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषु।।[15]
ब्रह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदंतः।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मंडूकाः प्रावृषीणं बभूव।।[16]
ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वंतः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदान आविर्भवंति गुह्या न केचित्।।[17]
देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनंत्येते।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गम्।।[18]

वाजसनेयी संहिता के पुरुषमेध मन्त्र में भी इन शब्दों (संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर....) का प्रयोग देखा जा सकता है-

"संवत्सराय पर्यायिणी परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमि- द्वत्सरायातिष्कद्दरीवत्सराय विर्जरां संवत्सराय पलिक्नीम्।"

अतः यहाँ स्पष्ट रूप से हम पाते हैं कि ऋग्वेद काल में लोगों को वर्ष या संवत्सर का ज्ञान था। तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.4.10) में अग्नि को संवत्सर, आदित्य को परिवत्सर, चन्द्रमा को इदावत्सर और वायु को अनुवत्सर कहा गया है। वेदांग ज्योतिष के अनुसार एक वर्ष में 366 दिन माने गये हैं। यही तत्कालीन वर्ष का प्रमाण रहा होगा।[19]

'मास' शब्द का प्रयोग हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा या उपजायते।।[20]

(यः) जो (धृतव्रतः) सत्य नियम विद्या और बल को धारण करने वाला विद्वान् मनुष्य (प्रजावतः) जिनमें नाना प्रकार के संसारी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (द्वादश) बारह (मासः) महीनों और जो (उपजायते) उनसे अधिक मास अर्थात् तेरहवाँ मास उत्पन्न होता है उसको (वेद) जानता है। वह काल के सब अवयवों को जानकर उपकार करने वाला होता है। यहाँ बारह महीनों के अतिरिक्त किसी मास का कथन कदाचित् अधिमास (मलमास) से लिया जाता सकता है। वैदिक काल में मास चान्द्र ही थे क्योंकि तेहरवें मास की सिद्धि (मलमास) तभी हो सकता है जब चान्द्र गणना में मासों का प्रयोग किया जाये।[21]

वैदिक काल में मास पूर्णिमान्त तथा अमान्त दोनों हाते थे। तैत्तिरीय संहिता (7.5.6.15) में इसका वर्णन इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है-

अमावास्यया मासान्सम्पाद्याहरूत्सृजन्ति
अमावास्यया हि मासान् सम्पश्यन्ति।
पौर्णमास्या मासान् सम्पाद्याहरूत्सृजन्ति
पौर्णमास्या हि मासान् सम्पश्यन्ति।।

जो पूर्णिमान्त मास मानने वाले होते थे उनके अनुसार मास का आरम्भ कृष्ण पक्ष से होता था तथा जो अमान्त मास को मानने वाले या स्वीकार करने वाले थे, उनके अनुसार मास का आरम्भ शुक्लपक्ष से होता था। वैदिक काल में सम्पन्न होने वाली दर्शपौर्णमास इष्टि यह सिद्ध करती है कि उस युग में अमावस्या और पूर्णिमा का ज्ञान था। वेदों में तिथियों का उल्लेख अमावस्या और पूर्णिमा के रूप में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा ये देवों की ऋतुएँ हैं, इनमें सूर्य उत्तर की ओर जाता है। शरद्, हेमन्त एवं शिशिर पितरों की ऋतुएँ हैं, इनमें सूर्य दक्षिणावर्त होता है।

"वसन्तो ग्रीष्मा वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद् हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो.....स यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति।.....यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति।।"[22]

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में मनुष्यों को उत्तरायण तथा दक्षिणायन का ज्ञान था।

ऋग्वेद में दिनमान के न्यूनाधिक होने का उल्लेख किया गया है-

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्रस्येव रायः।

सोम राजन्म ण आयूँषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि।।[23]

इसको देख कर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक काल में दिनमान प्रचलित रहा होगा।

ग्रह-नक्षत्र - सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति के विषय में ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख आया है। बृहस्पति सर्वप्रथम तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के समीप उत्पन्न हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.1.1) में यह प्रसंग उल्लिखित है-

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव।

शतपथ ब्राह्मण (10.5.45) में 27 नक्षत्रों तथा इतने ही उप-नक्षत्रों का वर्णन किया है।

अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण में अभिजित् नक्षत्र का भी उल्लेख प्राप्त है किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि नक्षत्र 27 हैं अथवा 28। वेदांग ज्योतिष (32.35) में केवल नक्षत्रों के देवताओं का उल्लेख प्राप्त है, जिसमें अभिजित् नक्षत्र के देवता का नहीं है।

उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर हमें ज्ञात होता है कि ज्योतिष का अधार मूलतः ऋग्वेद है।

सन्दर्भ-

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी
2. पाणिनीय शिक्षा, 41-42
3. वेदांग ज्योतिष
4. वेदांग ज्योतिष, श्लोक 3
5. ऋग्वेद ज्योतिष, श्लोक 2
6. वेदांग ज्योतिष, श्लोक 1
7. ऋग्वेद, 1.115.1
8. ऋग्वेद, 1.115.2
9. ऋग्वेद, 1.115.3
10. ऋग्वेद, 1.158.61
11. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रधान सम्पादक आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक-ओमपकाश पाण्डेय
12. वेदांग ज्योतिष, श्लोक 21
13. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रधान सम्पादक आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक-ओमपकाश पाण्डेय, द्वितीय खण्ड-वेदांग
14. ऋग्वे'द, 10.190.2
15. ऋग्वेद, 7.103.1
16. ऋग्वेद, 7.103.7
17. ऋग्वेद, 7.103.8
18. ऋग्वेद, 7.103.9
19. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास,
20. ऋग्वेद, 1.25.8
21. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास,
22. शतपथ ब्राह्मण, 2/13
23. ऋग्वेद, 8.48.7

वैदिक स्वर-प्रक्रिया : एक विमर्श

• डॉ. रश्मि यादव*

शोधसार- शोधपत्र में वैदिक स्वरों की मूल अवधारणा को प्रतिपादित करते हुए वैदिक मंत्रों के शाब्दबोध में उन स्वरों की उपादेयता का अनुसंधान किया गया है। महर्षियों ने सहस्रों वर्षों की सुदीर्घ ज्ञानयात्रा में श्रुतपरंपरा से वेद को संरक्षित व संवर्धित करने का भागीरथ प्रयास किया है। तथापि आज वेदविदों के सम्मुख वैदिक मंत्रों के वास्तविक अर्थ का बोध जटिल प्रश्न के समकक्ष उपस्थित है क्योंकि 'वेद' में संकलित सहस्रों मंत्रों से आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, इन तीन प्रकार का शाब्दबोध होता है। वैदिक मंत्रों के शाब्दबोध में *प्रातिशाख्य, वेदाङ्ग* (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त), स्वरशास्त्र और वेदभाष्य साक्षात् उपकारक हैं। इस शोधपत्र में स्वर की प्रक्रिया को व्याख्यायित करते हुए वेदार्थानुशीलन में उदात्तादि स्वरों की उपादेयता को दर्शाया गया है।

बीजशब्द- उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, एकश्रुति, वाक्, खड़ी रेखा।, पड़ी रेखा _, उच्च-ध्वनि, निम्न ध्वनि, मध्य ध्वनि, स्वरानुक्रमणी, स्थूलपृषती, इन्द्रशत्रु, भ्रातृव्यस्य वधाय, हस्तचालन, भाषिक स्वर, छन्द इत्यादि।

प्रस्तावना- वेद सम्पूर्ण ज्ञानराशि के उत्स हैं। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय विश्व की प्राचीनतम मेधाशक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति हैं, जो धर्म, दर्शन, कला, नैतिकमूल्य इत्यादि समग्र भारतीय संस्कृति व सभ्यता के आयामों की चिन्तन परम्परा का उद्गम स्थल है। वेदों में संचित ज्ञान-विज्ञान सम्पूर्ण मानवजाति के लिए कल्याणकारी व उपादेय है। वर्तमान में लोक कल्याणकारी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हेतु वेदों के निहितार्थ का बोध अनिवार्य है। वैदिक ग्रन्थों के प्रसिद्ध भाष्यकारों ने वैदिक मंत्रो के गूढार्थ के प्रस्फुटन में स्वरों को उपकारक माना है। वेङ्कटमाधव ने *ऋग्वेद* के *लघु और वृहद् दो भाष्यों* का प्रणयन किया है। इसमें लघु भाष्य के प्रथमाष्टक के आठ अध्यायों के आरम्भ में वैदिक विषयों को श्लोक रूप में प्रस्तुत करते हुए वैदिक स्वर की भी विशद् विवेचना की है जो डा० कुन्हनराज के द्वारा *"स्वरानुक्रमणी"* के नाम से प्रकाशित है। वेंकटमाधव ने *"अन्धकार में दीप की*

* सहायक आचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सहायता से चलता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार कहीं स्खलित नहीं होता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से प्रस्फुटित अर्थ स्फुट अर्थात् स्पष्ट एवं संदेहरहित होता है," [1] इस प्रकार की उद्घोषणा करते हुए वेदार्थ में स्वरों की प्रयोजनीयता को स्पष्टतः स्वीकार किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वेङ्कटमाधव को "सर्वोत्कृष्ट स्वरशास्त्रज्ञ"[2] कहा है। इसके अतिरिक्त *तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक* के भाष्यकार भास्कर भट्ट ने पाणिनि के व्याकरण के आधार पर स्वर-प्रक्रिया का निर्देश किया है। सायण ने भी ऋग्वेदभाष्य में प्रायः प्रत्येक मंत्र पर स्वर प्रकिया का निर्देश करने का प्रयत्न किया है। इन भाष्यों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि स्वरों का वैदिक मंत्रार्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। वेदों के निहितार्थ के अवबोध में स्वर-प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

विषय प्रवर्तन- *ऋग्वेद* में 'स्वर' शब्द का प्रयोग वाक् अर्थ में हुआ है[3]। सायण ने स्वर का अर्थ "स्वरों से युक्त शब्दात्मक वाक्" किया है।[4] स्वर शब्द *ताण्ड्य ब्राह्मण* में प्राण,[5] *गोपथ ब्राह्मण* में सूर्य,[6] सोम[7] एवं पशु[8], *षड्विंश ब्राह्मण* में प्रजापति[9] और *शतपथ ब्राह्मण* में श्री[10] अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। तथापि *शतपथ ब्राह्मण, नारदीय शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा, चान्द्र शिक्षा और आपिशल* इत्यादि वैदिक ग्रंथो में अनेकशः स्वर शब्द - उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित आदि के लिए व्यवहृत हुआ है।[11] *अष्टाध्यायी* के अनुसार स्वर शब्द "स्वृ शब्दोपतापयोः" धातु से करण अर्थ में "घ" प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है।[12] महाभाष्यकार पतञ्जलि, "जो स्वयं प्रकाशमान हो और बिना किसी की सहायता से उच्चरित हों" उसे स्वर कहते हैं।[13] इसी आधार पर *अमरकोश* में 'जिनसे अर्थ जाने जाय उसी को स्वर' माना गया है।[14] *पाणिनीय शिक्षा* में भी स्वतंत्र रूप से उच्चरित वर्ण को स्वर की संज्ञा दी गयी है।[15]

वैदिक संहिताओं यथा- *शाकल, माध्यान्दिन, काण्व, कौथुम तथा शौनक सहिताओं* के मंत्रपाठ में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, इन तीन स्वरों का उच्चारण होता है किन्तु कतिपय वैदिक विद्वान इन तीन स्वरों के साथ ही 'प्रचय' नामक चौथा स्वर भी मानते हैं।[16] यथा *तैत्तिरीय संहिता* में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय- इन चार स्वरों का उच्चारण होता है। *नारद शिक्षा* में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित अर्थात् प्रचय और निघात- इन पाँच स्वरों का उल्लेख किया गया है।[17] पतञ्जलि महाभाष्यकार ने इन स्वरों का विस्तार करते हुए स्वरों में उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, विशिष्ट उदात्त (अन्य उदात्त से पृथक स्वरित के आरम्भ में विद्यमान उदात्त) और एकश्रुति- इन सात स्वरों की गणना की है।[18] अन्यत्र सामगानोपयोगी सात स्वरों- षडज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद का वर्णन मिलता है।[19] इस प्रकार वैदिक ग्रंथों में स्वरों की संख्या विषयक अनेक पद्धतियां परिलक्षित होती है किन्तु वेदार्थानुशीलन की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय- ये चार स्वर ही प्रमुख हैं।

वैदिक ग्रंथों में स्वरों को अच् का धर्म माना गया है,अतः स्वरों के चिह्न शुद्ध अच् अथवा व्यञ्जनयुक्त अच् पर अंकित किया जाता है न कि अच् रहित व्यञ्जन पर। उदाहरणार्थ- अग्निमीळे

पुरोहितम् में म् स्वररहित है अतः उसपर स्वरांकन नहीं है। मंत्रों में स्वरों के प्रयोग एवं उनके अंकन के लिए विभिन्न प्रकार के चिह्न का प्रयोग दिखाई देता है-

उदात्त स्वर - एक पद में एक ही अच् उदात्त होता है जिसके लिए प्रायः कोई चिह्न प्रयुक्त नहीं होता है। यथा- अग्निमीळे। इसमें ग्नि अचिह्नित है अतः यह उदात्त स्वर है।

अनुदात्त स्वर-एक पद में उदात्त के अतिरिक्त शेष सभी अच् अनुदात्त होते हैं[20] और अनुदात्त स्वर के लिए वर्ण के नीचे पड़ी रेखा का चिन्ह दिखाई देता है। यथा- पूर्वोक्त उदाहरण में नीचे पड़ी रेखा से युक्त अ वर्ण अनुदात्त स्वर है।

स्वरित स्वर- उदात्त स्वर के पश्चात् स्थित अनुदात्त को स्वरित हो जाता है।[21] स्वरित स्वर वाले वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा बनाकर के स्वरित का अंकन किया जाता है। यथा- पूर्वोक्त उदाहरण में उदात्त स्वर से युक्त ग्नि से परे अनुदात्त मी स्वरित है और मीं के ऊपर अंकित खड़ी रेखा के द्वारा स्वरित स्वर को प्रदर्शित किया गया है।

एकश्रुति अथवा प्रचय- स्वरित से परे सभी अनुदात्त स्वर एकश्रुति स्वर हो जाते हैं।[22] इस स्वर के लिए भी कोई भी चिन्ह प्रयुक्त नहीं होता है। यथा- पूर्वोक्त उदाहरण में ही ळे एकश्रुति स्वर से सम्पृक्त है।

इस प्रकार वैदिक स्वर पद्धति में उदात्त और एकश्रुति दोनों ही स्वर चिह्न रहित हैं, ऐसी स्थिति में स्वरित अथवा अनुदात्त स्वर से युक्त वर्ण से पश्चात् जो एक या दो वर्ण किसी भी प्रकार के चिह्न से रहित हो उन्हें उदात्त स्वर माना जाता है और स्वरित चिह्नयुक्त वर्ण के पश्चात् किसी भी प्रकार के चिह्न से रहित वर्ण को एकश्रुति स्वर से युक्त माना जाता है। उदाहरणार्थ- अनिंविशमानाः।[23] इस पद में निं स्वरित है अतः उसके पूर्व में स्थित चिह्न रहित अ उदात्त स्वर है और उसके बाद स्थित चिह्नरहित वि,श,मा और नाः ये चारों अनुदात्तों को एकश्रुति हो जाता है। उदात्तादि स्वरों के अङ्कन की यह सामान्य पद्धति है। वैदिक ग्रंथों में स्वरांकन में पर्याप्त भिन्नता भी दिखायी देती है। *शतपथ ब्राह्मण* में उदात्त के लिए नीचे पड़ी रेखा और *ऋग्वेद* के *काश्मीर पाठ* और *मैत्रायणी संहिता* में ऊपर खड़ी रेखा प्रयुक्त होती है।यथा-

1. *ऋग्वेद, यजुर्वेद* की *माध्यन्दिनी, काण्व* एवं *तैत्तिरीयशाखा* और *अथर्ववेद* में पद के नीचे पड़ी रेखा (-) अनुदात्त स्वर का चिह्न माना जाता है जबकि, शतपथ ब्राह्मण में (माध्व० एवं काण्व०) में नीचे की पड़ी रेखा (-) उदात्त स्वर का सूचक है। यथा-

इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑[24] (॒ अनुदात्त)

इष॒े त्वोर्जे त्वे॒ति[25] (॒ उदात्त)

2. *ऋग्वेद, यजुर्वेद (माध्यन्दिनी, काण्व* एवं *तैत्तिरीय शाखा)* और *अथर्ववेद* में खड़ी रेखा स्वरित का अंकन है जबकि *ऋग्वेद* के *काश्मीर पाठ* और *मैत्रायणी संहिता* में यह खड़ी रेखा उदात्त स्वर का चिह्न है, यथा-

अ॒ग्निमीळे[26] (॑ स्वरित)

अग्निमीळे[27] (॑ उदात्त)
इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑[28] (॒ स्वरित)
इ॒षे॑ त्वा सुभू॒ता॑य[29] (॑ उदात्त)

3. *सामवेद* में स्वरों के लिए १,२,३ संख्याओं और कहीं-कहीं क, र और उ अक्षर का प्रयोग किया गया है। स्वरों के विविध भेदों के इस वैषम्य को जानने वाले व्यक्ति को ही वेदार्थ का बोध हो सकता है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के उच्चारण-विधि विषयक सिद्धांत की दृष्टि से प्रातिशाख्य, शिक्षाग्रंथ और वैयाकरण ग्रंथ अनुशीलनीय है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उदात्त स्वर का उच्चारण उच्च स्वर,[30] अनुदात्त स्वर का उच्चारण निम्न स्वर[31] और स्वरित का उच्चारण मध्य स्वर[32] से किया जाता है।पाणिनीय व्याकरण के इस नियम को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने उदात्त का उच्च-ध्वनि अर्थात् उच्चारण स्थान के उच्च भाग से, अनुदात्त का निम्न ध्वनि अर्थात् उच्चारण स्थान के निम्न भाग से और स्वरित का मध्य ध्वनि अर्थात कण्ठादि उच्चारणस्थान के मध्य भाग से उच्चारण करने का निर्देश किया है।[33] चौथे स्वर- प्रचय को तान और एकश्रुति भी कहते हैं। काशिकाकार के अनुसार उदात्तादि स्वरों का अविभाग अथवा अभेद अथवा भेद का तिरोहित हो जाना एकश्रुति है।[34]

वेद अर्थबोध की दृष्टि से विश्व साहित्य के अद्भुत ग्रंथ हैं। वैदिक मंत्रों से आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ ध्वनित होता है। वेदवाक्यों का स्पष्ट एवं प्रिय उच्चारण और वास्तविक अर्थ-प्रत्यायन स्वरों के आधार पर ही हो सकता है। वेंकटमाधव के अनुसार नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही बोधित होता है[35], यथा-स कर्ता॑ और स क॒र्ता। इस उदाहरण में प्रथम कर्ता पद तृन्नन्त हैं अतः "आद्युदात्तश्च"[36] से आद्युदात्त होने से नाम है और दूसरा कर्ता पद "धातोः"[37] सूत्र से अन्तोदात्त होने से तिङन्त है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अनेक वैदिक पदों का अर्थ निर्धारण स्वरों के आधार पर ही किया है। *मैत्रायणीसंहिता* के "*पृषत्ती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती मैत्रावरुण्यः"*[38] पाठ में प्रयुक्त स्थूलपृषती के शब्दार्थ विषयक संदेह का निराकरण स्वर के आधार पर करते हुए पतञ्जलि ने कहा है- "यदि स्थूलपृषती का पूर्वपद प्रकृतिस्वर हो तो इस पद में बहुव्रीहि समास और यदि अन्तोदात्त हो तो तत्पुरुष समास होगा।"[39] अर्थात् यदि स्थूलपृषती में "*समासस्य*"[40] सूत्र से अन्तोदात्त हो तो "स्थूला चासौ पृषती च स्थू॒लपृ॒षती", ऐसा विग्रह होकर कर्मधारय तत्पुरुष समास होगा और सामानाधिकरण तत्पुरुष समास होने पर उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः के नियम से 'पृषती' (धब्बेवाली गाय) के अर्थ का प्राधान्य होगा। अतः स्थूल का सम्बन्ध पृषती (काले धब्बों वाली) अनड्वाही गौ से होगा, न कि पृषत् (काले धब्बों) के साथ। इस कारण अर्थ होगा-मोटी तथा काले धब्बोंवाली अनड्वाही। तात्पर्य यह है कि सामानाधिकरण तत्पुरुष होने पर स्थूल शब्द गौ की स्थूलता को बोधित करेगा। धब्बे छोटे हों या बड़े, इस की विवक्षा नहीं होगी। यदि अन्तोदात्त न होकर पूर्वपद प्रकृतिस्वर अर्थात् स्थू॒लपृ॑षती हो तो "*बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्*"[41] सूत्र से इस शब्द में बहुव्रीहि समास होकर "स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा" ऐसा विग्रह होने पर स्थूल

शब्द पृषत् अर्थात् धब्बों का विशेषण होगा और मोटे धब्बों वाली अनड्वाही अर्थ बोधित होगा। अनड्वाही कृश हो अथवा स्थूल, इसमें उसकी विवक्षा नहीं होगी। मैत्रायणीसंहिता में 'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपद प्रकृतिस्वर है। अतः पूर्वपदप्रकृतिस्वर होने से यहां बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार 'स्थूलपृषती' शब्द में स्वरभेद से समासभेद और समासभेद से अर्थभेद होता है।

वैदिक नियमानुसार यज्ञ के फलप्राप्ति के लिए यज्ञानुष्ठान में पूर्णतः शुद्ध मंत्रोच्चारण आवश्यक है। मंत्रपाठ में यदि स्वरोच्चारण में शिथिलता एवं अशुद्धता हो तो यज्ञ-फल बाधित हो जाता है और कभी-कभी तो विपरीत यज्ञ-फल भी प्राप्त हो जाता है। इन्द्रशत्रु आख्यायिका इसका प्रबल प्रमाण है। महाभाष्यकार और पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जो शब्द अकारादि वर्णों और उदात्तादि स्वरों के नियम से विरुद्ध बोले जाते हैं वह मिथ्याप्रयुक्त होते हैं, क्योंकि जिस अर्थबोध के लिये उसका प्रयोग किया जाता है उस अर्थ को वह शब्द न प्रकट करके उससे विरुद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिये उच्चरित ऐसा शब्द अभीष्ट अर्थ को नष्ट करने से वज्र के तुल्य वाणी होकर यजमान अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध की सङ्गति करने वालें को ही उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार स्वर दोष से युक्त इन्द्रशत्रु पद।[42] इस आख्यायिकानुसार त्वष्टा (असुर) ने अपने पुत्र वृत्र की वृद्धि हेतु जो यज्ञ किया, उसमें इन्द्र के द्वारा छद्म रूप में सम्मिलित ऋत्विजों ने अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु पद के स्थान में आद्युदात्त इन्द्रशत्रु पद का प्रयोग कर दिया। "इन्द्रशत्रुः" शब्द का स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है। "इ॒न्द्र॒श॒त्रुः" पद का अन्तोदात्त उच्चारण होने पर इसमें तत्पुरुष समास होता है और इस पद का अर्थ होता है- इन्द्र का शत्रु वृत्र बढ़कर विजयी हो। किन्तु, जब "इन्द्रशत्रुः" का पूर्वपद प्रकृतिस्वर से आद्युदात्त स्वर उच्चारण होता है तब यहां बहुव्रीहि समास होता है और इसमें बहुव्रीहि होने से इन्द्र और शत्रु इन दोनों पदों के अतिरिक्त किसी अन्य पद के अर्थ का प्राधान्य होता है। *निरुक्त* के अनुसार शत्रु शब्द का अर्थ है- "*शान्त करने वा काटने वाला।*"[43] बहुव्रीहि समास में "इन्द्र जिसका शत्रु अर्थात् शान्त करने वा काटने वाला है ऐसा वृत्र" यह अन्य पदार्थ बोधित होता है। इस प्रकार अन्तोदात्त स्वर से उच्चारण करने से तत्पुरुष समास में इन्द्र का शत्रु अर्थात् वृत्र बढ़ता है और आद्युदात्त उच्चारण से बहुव्रीहि समास में "इन्द्र जिसका शत्रु अर्थात् मारने वाला है वह वृत्र" बढ़ता है। इस अर्थ का बोध होने से यज्ञफल रूप में इन्द्र जिसको मार देगा ऐसा वृत्र बढ़ने लगता है। अस्तु, स्वरहीन मंत्र के प्रयोग से त्वष्टा का नाश हो गया।

वेद शब्द भी स्वर की अपेक्षा से दो प्रकार का प्राप्त होता है- आद्युदात्त-वेद॒ और अन्तोदात्त वे॒द। "*वृषादीनां च*"[44] सूत्र से वृषादिगण में पठित वेद को आद्युदात्त अर्थात आदि वर्ण को उदात्त होता है। वृषादीगण आकृतिगण हैं। आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान का पर्याय है। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से "वेद" शब्द का प्रयोग ग्रन्थमात्र अर्थ में होना चाहिए। तथापि "पंकज" आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के लिए आधारभूत ऋग्वेदादि कतिपय ग्रन्थों के लिए प्रायः वेद शब्द प्रयुक्त होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त हैं। दूसरा अन्तोदात्त वेद शब्द कुशाओं की मुष्टि (दर्भ मुष्टि) से निर्मित यज्ञीय उपकरण पदार्थ विशेष का वाचक है।अन्तोदात्त वेद शब्द "*उञ्छादीनां च*"[45]

सूत्र से उञ्छादीगण में स्थित है। उञ्छादी गणसूत्र में घञन्त करणवाची वेद शब्द को अन्तोदात्त कहा गया।

इसी प्रकार *माध्यन्दिनी संहिता* में उल्लिखित *"भ्रातृव्यस्य वधाय"*[46] में पठित भ्रातृव्यं पद अन्तस्वरित स्वर होने पर भतीजा और भ्रातृव्य आद्युदात्त होने पर शत्रु, इन दो भिन्न-भिन्न अर्थ का बोधक होता है। अन्त स्वरित भ्रातृव्यं शब्द "*भ्रातुर्व्यच्च*"[47] सूत्र से अपत्य अर्थ में व्यत् प्रत्यय होकर निष्पन्न होने पर भतीजा अर्थ का बोधक होता है। तित् प्रत्ययान्त होने से भ्रातृव्य पद का व्य "*तित् स्वरितम्*"[48] सूत्र से स्वरित हो जाता है। आद्युदात्त भ्रातृव्य पद "*व्यन्सपत्ने*"[49] सूत्र से भ्रातृ शब्द से सपत्ने(शत्रु) अर्थ में व्यन् प्रत्यय होने पर शत्रु अर्थ का बोधक होता है। "*ञ्नित्यादिर्नित्यम्*"[50] सूत्र से ञित् और नित् प्रत्ययान्त शब्द का आदि वर्ण नित्य ही उदात्त स्वर होता है। भ्रातृव्य नित् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त होता है। माध्यन्दिन संहिता में उद्धृत भ्रातृव्य पद आद्युदात्त है अतः यहां भ्रातृव्य पद का अर्थ शत्रु है,न कि भतीजा। काण्व संहिता में इसके स्थान पर "*द्विषतः वधाय*"[51] पद प्रयुक्त हुआ है। इससे भी स्पष्ट है कि भ्रातृव्य पद शत्रु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक युग में यज्ञीय अनुष्ठानों में सम्पूर्ण मंत्रों का सस्वर पाठ किया जाता था। *शतपथ ब्राह्मण* में ऋषि सस्वर वाणी की कामना करते हुए कहते हैं- उस (उदात्तादि) स्वर से सम्पन्न वाणी वाला ऋत्विज ही यज्ञानुष्ठान का कर्म करें।[52] *नारदीय शिक्षा* के अनुसार यज्ञों में प्रयुक्त स्वरों और वर्णों से अशुद्ध मंत्र यजमान की आयु, प्रजा और पशु आदि को नष्ट कर देता है।[53] *वाक्यपदीयकार* आचार्य भर्तृहरि ने अनेकार्थक शब्दों के अर्थनियमन के हेतुओं में स्वर की भी गणना की है। उनके अनुसार अनेकार्थक शब्दों के विवक्षित अर्थबोध में स्वर भी उपादेय हैं।[54] *साहित्यदर्पणकार* आचार्य विश्वनाथ यद्यपि लौकिक संस्कृत साहित्य में स्वर को महत्वहीन मानते हैं किन्तु वेदार्थानुशीलन में स्वरों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं।[55] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में यज्ञीयानुष्ठों में उदात्तादि स्वरों से युक्त ही मंत्रों का पाठ करना अभीष्ट था।

स्वरप्रयोग एवं स्वरपाठ की दृष्टि से वेद अद्वितीय ग्रंथ हैं। वर्तमान में भी वेदों में स्वरों का प्रयोग अविकृतावस्था में विद्यमान है। शाकल, माध्यन्दिन, काण्व और तैत्तिरीय संहिताओं से सम्बद्धित अनेक पाठ प्राप्त होते हैं किन्तु एक भी वास्तविक पाठान्तर उपलब्ध नहीं है। इस आधार पर, इन ग्रंथों के स्वरपाठ मूलस्वर पाठ स्वीकार किये जाते हैं, जिसमें कालान्तर में कोई विकार नहीं आया। न केवल, वैदिक ग्रंथों अपितु लौकिक संस्कृत के कतिपय ग्रंथों में भी स्वर का प्रयोग परिलक्षित होता है। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* में लौकिक शब्दों के स्वरों का नियम निर्धारित किया है। *निरुक्त*, *मनुस्मृति* और *पाणिनीय शिक्षा* में भी यत्र-तत्र स्वरचिह्न प्रयुक्त हुए हैं।

कालांतर में उदात्तादि वैदिक स्वरों का क्रमशः ह्रास होता गया। इसके लिए *अष्टाध्यायी* का पाणिनीय-क्रम के स्थान पर प्रक्रिया-क्रम से पठन-पाठन की प्रवृत्ति मुख्यरूप से उत्तरदायी है। पाणिनीय-क्रम से व्याकरण के अध्येता प्रकरणानुसार निर्दिष्ट स्वर की वैदिक प्रक्रिया के सूत्रों से स्वतः ही अवगत हो जाते थे किंतु उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने स्वरशास्त्र को उपेक्षित करते हुए प्रक्रिया-ग्रंथों से

स्वरशास्त्र विषयक सूत्रों को प्रकरणों से हटा कर अन्त में संग्रहीत कर दिया। फलस्वरूप पाणिनीय व्याकरण में स्वरशास्त्र का पठन-पाठन क्षीण होता गया। इसके अतिरिक्त जीवनचर्या में परिवर्तन होने से सम्भवतः मनुष्य की वाक्इन्द्रिय अर्थात स्वरयंत्र काल के साथ विकृत होते गए होगें, जिसके कारण सूक्ष्मतम स्वरों के उच्चारण की शक्ति समाप्त होती गई। फलस्वरूप उदात्त, अनुदात्त और स्वरित- इन तीन मुख्य स्वरों का भी लोप हो गया और लौकिक संस्कृत में एकश्रुति स्वर ही शेष रहा। स्वरों का लोप वैदिक ग्रंथों में भी हुआ। वर्तमान में *ताण्ड्य ब्राह्मण* में स्वर चिह्न प्राप्त नहीं होते हैं। इसी कारण भाषिक सूत्र *शतपथ ब्राह्मण* के समान ही *ताण्ड्य* आदि में स्वर हो[56], इस नियम का निर्देश करते हैं। *शतपथ ब्राह्मण* में भाषिक स्वर होता है। इसमें लौकिक संस्कृत के समान उदात्त और अनुदात्त दो ही स्वर माने जाते है। उदात्तादि स्वर के उच्चारण का लोप वैदिक शाखाओं, श्रौत्रसूत्रों और प्रातिशाख्यों के प्रवचन काल के पूर्व ही हो गया था। इसी कारण यज्ञ में *शांखायान*, *आश्वलायन* और *कात्यायन* आदि श्रौत्रसूत्रों के कतिपय विशिष्ट मंत्रों को छोड़कर अन्य मंत्रों का एकश्रुति से उच्चारण करने का निर्देश किया गया है[57] क्योंकि उस काल तक मंत्रों के सस्वर पाठ करने की योग्यता वाले ऋत्विज नगण्य हो गए होंगे।अतः पाणिनि ने वेद मंत्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्तादि स्वरों को विकल्प से एकश्रुति स्वर में उच्चारण करने का निर्देश किया है।[58] आचार्य कात्यायन ने भी उदात्तादि स्वरों को हस्त के संचालन द्वारा प्रदर्शित करने का निर्देश किया है।[59] *याज्ञवल्क्य शिक्षा* में हस्तचालन की सम्पूर्ण विधि प्रतिपादित की गई है। *नारद शिक्षा* में सामगान के सप्तस्वरों को गात्र-वीणा द्वारा प्रदर्शित का विधान किया गया है।[60] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि कालान्तर में क्रमशः सस्वर वैदिक मंत्रोच्चारण शिथिल होता गया।अतएव वैदिक मनीषी स्वर की रक्षा के लिए एकश्रुति एवं हस्तचालन द्वारा स्वरों के उच्चारण की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में तत्पर रहें।

निष्कर्ष- वैदिक मंत्रों के वास्तविक अर्थ के अवबोध में व्याकरण और निरुक्त के समान ही स्वर की उपादेयता सर्वसिद्ध है। अनेकार्थक शब्दों के प्रकरणानुसार विवक्षित अर्थ को निर्धारित करने में स्वर की प्रयोजनीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। "*स्वर ज्ञान के बिना न केवल मंत्र का वास्तविक अभिप्राय ही अज्ञात रहता है अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों में अर्थ का अनर्थ हो जाता है।*"[61]यहउद्घोषणा वैदिक वाङ्मय में स्वर की उपादेयता को द्योतित करती है।अस्तु, वेदार्थानुशीलन के लिए स्वर का प्रक्रियागत ज्ञान अनिवार्य है।

सन्दर्भ-

[1]स्वरानुक्रमणी, 1.8 : अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्नस्खलित क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।।

[2] पं० युधिष्ठिर मीमांसक- वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृ०सं०1

[3] ऋग्वेद,8.72.7 : अधिं स्वरे

[4] वही,सायण भाष्य : स्वरोपेते शब्दवति।

[5] ताण्ड्य ब्राह्मण, 7.1.10 एवं 17.12.2 : प्राणःस्वरः। वही, 24.11.9 : प्राणो वै स्वरः।

[6] गोपथ ब्राह्मण,1.5.14 : एष है वै सूर्यो भूत्वात्वऽ मुष्मिन् लोके स्वरति।

[7] वहीं, 1.5.14 : यदाह स्वरोऽसीति सोमं वा एतदाह।

[8] वही, 2.3.22 एवं 2.4.2 : पशवः स्वरः।

[9] षड्विंश ब्राह्मण, 3.7 : प्रजापतिः स्वरः।

[10] शतपथ ब्राह्मण, 11.4.2.10 : श्रीर्वै स्वरः।

[11] वही, 14.4.1.27 : तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव।

[12] अष्टाध्यायी, 3.3-118

[13] महाभाष्य, 1.2.29 : स्वयं राजन्तं इति स्वराः।

[14] अमरकोश, 1.6.4 : स्वर्यन्तेऽर्था एभिः।

[15] पाणिनीय शिक्षा, 3.8 : विवृतकरणः स्वराः।

[16] शाबर भाष्य, 9.3.30 : इह केचित् तैस्वर्येण समाम्नायन्ते, केचिच्चातुः स्वर्येण।

[17] नारद शिक्षा, 1.7.19 : उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा। निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चमः।

[18] महाभाष्य, 1.2.33 : सप्त स्वरा भवन्ति - उदात्तः उदात्ततरः अनुदात्तः अनुदात्ततरः स्वरितः स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः एकश्रुतिः सप्तमः।

[19] नारद शिक्षा, 1.2.4 : षड्जश्च ऋषभश्चैवः गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः ।।

[20] अष्टाध्यायी, 6.1.158 : अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।

[21] वही, 8.4.66 : उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः।

[22] वही, 1.2.29 : स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्।

[23] ऋग्वेद, 7.49.1

[24] यजु०माध्यन्दिनी,1.1.1

[25] शतपथ ब्राह्मण,माध्य० 1.7.1.2

[26] ऋग्वेद, 1.1.1

[27] ऋग्वेद,1.1.1 का काश्मीर पाठ

[28] यजुर्वेद माध्यन्दिनी, 1.1.1

[29] मैत्रायणी संहिता, 1.1.1

[30] अष्टाध्यायी, 1.2.29, वाजसनेयी प्रातिशाख्य,1.108 एवं तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, 1.38 : उच्चैरुदात्तः।

[31] अष्टाध्यायी, 1.2.30,वाजसनेयी प्रातिशाख्य,1.109, एवं तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, 1.39 : नीचैरनुदात्तः।

[32]अष्टाध्यायी, 1.2.31,वाजसनेयी प्रातिशाख्य, 1.110, एवं तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, 1.40 : समाहारः स्वरितः।

[33] महाभाष्य,1.2.29

[34] काशिका, 1.2.33 : स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदस्तिरोधानमेकश्रुतिः।

[35] स्वरानुक्रमणी, उपोद्घात : नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते।

[36] अष्टाध्यायी, 3.1.3

[37] वही, 6.1.157

[38] मैत्रायणीसंहिता, 3.13.3

[39] महाभाष्य पास्पह्निक : यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः अथान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुषः इति।

[40] अष्टाध्यायी, 6.1.218

[41] वही, 6.2.1

[42] महाभाष्य,1.1.1 : दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात।। पाणिनीय शिक्षा, 52 : मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

[43] निरुक्त, प्रथम अध्याय : इन्द्रोऽस्थ शमयिता वा शातयिता वा।

[44] अष्टाध्यायी, 6.1.197

[45] वही, 6.1.154

[46] माध्यन्दिनी संहिता,1.18

[47] अष्टाध्यायी, 1.1.144

[48] वही, 6.1.179

[49] वही, 4.1.115

[50] वही, 6.1.191

[51] काण्व संहिता, 1.29

[52] शतपथ ब्राह्मण,14.4.1.27 : वाचि स्वरमिच्छेत । तया स्वरसम्पन्नयाऽऽर्विज्यं कुर्यात्।

[53] नारद शिक्षा, 1.6 : प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते। यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजां पशून्॥

[54] वाक्यपदीय, 2.315-16

[55] साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद : स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्।

[56] भाषिक सूत्र, 3.15 : शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां स्वरः।

[57] शांखायान,1.1, आश्वलायन,1.2 और कात्यायन,1.8.19

[58] अष्टाध्यायी,1.2.36 : विभाषा छन्दसि।

[59] वाजसनेयी प्रातिशाख्य 1.121 : हस्तेन च।

[60] नारद शिक्षा, कण्डिका 6

[61] वैदिक स्वर मीमांसा - पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ संख्या-04

कालिदास के साहित्य में संवेदना विमर्श

• डॉ. कुलदीपक शुक्ल*

शोधसार- किसी के सुख-दुख, कष्ट या हानि को देख कर मन में उत्पन्न भाव या सहानुभूति ही संवेदना है। संवेदना शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक विद्ज्ञाने धातु से ल्युट् तथा टाप् प्रत्यय होकर निस्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है 'तीव्र अनुभूति'। इसी अनुभूति के चितेरे कवि दीपशिखा उपाधि से अलंकृत महाकवि कालिदास का काव्य भी संवेदनाओं के शिखर पर आरुढ़ सा दिखाई देता है। वैसे तो महाकवि कालिदास प्रकृति चित्रण एवं उपमा के सिद्धहस्त कवि हैं, उनकी कृतियों में तप को भव्यता प्रदान की गई है। पुनरपि संवेदनाओं के चित्रण में भी वह श्रेष्ठ हैं,अग्रगण्य है। जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें उनके काव्य में होती है। कवि का कर्म काव्य कहलाता है और वह काव्य ही क्या जो संवेदना का उत्स ना हो। कालिदास की कवि चेतना ने चिंतन की समग्र वैज्ञानिक परम्परा को आत्मसत् किया।

बीजशब्द - सम्वेदना- सहानुभूति/सहभावना, उत्स- श्रोत/उद्गमस्थल, दर्भ- कुश, आर्त-पीडित, त्राण- रक्षा, व्रण- घाव, पुत्रक्रतक- दत्तकपुत्र।

प्रकृति के साथ कालिदास का सम्बन्ध साक्षात् ही नहीं अपितु संवेदना पूर्ण भी था जिससे सम्पूर्ण विश्व को शिक्षा मिलती है कि सृष्टि रचना मात्र मनुष्य जाति के लिए नहीं अपितु विश्व के समस्त प्राणियों के लिए है। अतः हमें जीवन के समग्र रूपों के प्रति संवेदना विकसित करनी चाहिए। कालिदास ने अपनी कृतियों में सौंदर्य की पराकाष्ठा के साथ ही साथ सामान्य से लेकर विशिष्ट व्यक्तित्व में प्रेम- वासना, इच्छा-आकांक्षा, दुख-दर्द, स्वप्न-आशा, श्रद्धा-विश्वास, आदि को देखा और उसे समग्रता के साथ प्रस्तुत किया। आपकी रचनाओं में मानव मन की क्षणभंगुरमनःस्थितियों की विशेष प्रस्तुति है, वे सामंजस्य एवं शालीनता के उपासक हैं, सदाचार के आचार्य हैं। वे स्वाभाविक अत्यंत सहजभाव में ही किसी भी जाति के जीव के प्रति हमारी संवेदना जोड़ देते हैं। वह मानव के सभी प्रकार के दुखों, आकांक्षाओं, छोटी-छोटी खुशियों, और अनंत आशाओं को भलीभांति जानते हैं। आपके साहित्य महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक सर्वत्र संवेदना से

*सहायक आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर उ0प्र0

तात्पर्य दूसरों की वेदना के अनुभूति के यथार्थ चित्रण से है। आप तो काव्य को अनुभूतियों से भरा हुआ मानते हैं। जिसके मूल में संवेदना का सार अंतर्निहित है। कवि वही है जिसका हृदय अंतर से संवेदना से प्लावित हो। इसीलिए कालिदास ने महर्षि वाल्मीकि को सर्वत्र कवि कहकर संबोधित किया। क्रीडारतक्रौंच युगल को निषाद द्वारा आहत देखकर वाल्मीकि का संवेदनायुक्त हृदय शोक संतप्त हो श्लोक में परिणत हो जाता है। और वही ऋषि जब भागीरथी के तट पर देवी सीता को कुररी के समान रोते हुए देखते हैं तो उनका चित्त वेदना से द्रवित हो उठता है। पास के पशु पक्षी वृक्ष लताएं भी उनके करुण क्रंदन को सुनकर शोकातुर हो व्याकुल सी दिखाई पड़ती है। क्योंकि मयूरों ने नाचना बंद कर दिया, वृक्ष कुसुम रूपी अश्रु गिराने लगे और हरिणियों ने मुंह से ग्रास उगल दिए –

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वने$पि।।[1]

वेदना का यह कैसा मर्म है? जो मर्मांतक कवि को पुनः अभिज्ञान शाकुंतलम् के चतुर्थ अंक में यह कहने के लिए विवश करता है–

उद्गीर्णदर्भकवलामृगी परित्यक्तनर्तनामयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लताः।।[2]

शकुन्तला प्रकृति की कन्या है। जब उसे उसकी अमानुषी माँ मेनका ने त्याग दिया तो आकाशगामी पक्षियों ने उसे उठाया और तब उसका पालन-पोषण महर्षि कण्व ने किया। शकुन्तला ने पौधों को सींचा, उन्हें अपने साथ-साथ बढ़ते देखा और जब उनके ऊपर फल-फूल आए तो ऐसे अवसरों को उसने उत्सवों की भांति मनाया। शकुन्तला के विवाह के अवसर पर वृक्षों ने उपहार दिए, वनदेवियों ने पुष्प-वर्षा की, कोयलों ने प्रसन्नता के गीत गाए। शकुन्तला की विदाई के समय आश्रम दुःख से भर उठा। मृगों के मुख से चारा छूट कर गिर पड़ा, मयूरों का नृत्य रुक गया और लताओं ने अपने पत्रों के रूप में अश्रु गिराए। शाकुन्तलम् में तपस्वी राजा से कहता है : 'आपके शस्त्र त्रस्त और पीड़ितों की रक्षा के लिए हैं न कि निर्दोषों पर प्रहार के लिए-

आश्रम मृगोऽयम् न हन्तव्यो न हन्तव्यः
आर्तत्राणाय वः शस्त्रम् न प्रहर्तुमनागसि।।[3]

रघुवंश में अश्वमेध सभा में लव कुश रामचरित का गायन करते हैं तो उस स्वर को सुनकर जनसभा के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। वह सभा तो चेतन मनुष्यों की थी किंतु महाकवि कालिदास द्वारा लिखे गए अज विलाप को सुनकर तो अचेतन वस्तुएं भी अश्रुपूरित दिखाई पड़ती है-

बिलपन्नितिकोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितम्।।[4]

जड़ वस्तुओं वृक्षों-वनस्पतियों की ही यह अनुभूति है जो अकस्मात इंदुमती की मृत्यु पर रक्ताशोक भी कुसुमाश्रुओं को गिरा कर शोक प्रकट कर रहा है-

स्मरतेवसशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम्।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि! शोच्यसे।।[5]

कुमारसंभव महाकाव्य में शिव की क्रोधाग्नि से भस्म कामदेव की भस्मावस्था देख जब रति अत्यंत विलाप करने लगती है तो उस समय आसपास की वनस्थली भी उस के माध्यम से शोकाकुल हो उती है-

अथ सा पुनरेवविह्वला वसुधालिंगनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखानिवकुर्वतीस्थलीम्।।[6]

प्रियतम के न रहने से उत्पन्न दुख तो स्त्रियों के लिए असह्य होता ही है किंतु प्रियजनों की उपस्थिति उस दुख आवेग को और अधिक उद्दीप्त कर देती है। कामदेव के मित्र वसंत को आया देखकर रति का दुख अत्यधिक बढ़ जाता है। और वह अपने वक्षस्थल को पीट-पीटकर करुण क्रंदन करने लगती है-

तमेवक्ष्यरुरोदभृशं स्तनसंबाधमुरोजघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो निवृतद्वारमिवोपजायते।।[7]

महाकवि कालिदास प्रणीत मेघदूत में नदियों, पर्वतों, वनो तथा वृक्षों आदि से संवेदन प्रवणता का भाव अछूता नहीं है। कुबेर द्वारा शापित यक्ष के प्रति संवेदना की अनुभूति तो जैसे स्वयं कालिदास की अपनी व्यथा व्यक्त की हो। रामगिरि पर्वत पर जिस समय आषाढ़ के प्रथम दिवस पर मेघ को देखता है तो उसका बिरह उदीप्त होता है और वह का कामार्त होकर चेतन अचेतन का विवेक करना ही विस्मृत कर जाता है और मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास संदेश भेजने के लिए उससे अनेक विध याचना एवं सम्मान पूर्वक निवेदन करता है। स्वप्न में अपनी प्रियतमा को स्पर्श करने हेतु जब वह अपने दोनों हांथों को आगे बढ़ाता है तो उसकी वियोगावस्था देखकर वनदेवियों का ह्रदय दयार्द्र हो जाता है तब उनके मोतियों सदृश अश्रु वृक्षों के किसलयों पर गिरा देती है-

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो
र्लब्धायास्ते कथमपि मयास्वप्नसंन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलुबहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति।।[8]

कालिदास की नायिकाएं व समस्त स्त्री पात्र नायक हो या अन्य पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील हैं। पुरुष पात्रों की संवेदना सतही है तथा स्त्रियों की संवेदना अंतरतम की प्रतीत होती है। मालविकाग्निमित्रम् में रानी को धारिणी कहा गया है क्योंकि वह सब कुछ सहन करती रहती है। विश्वव्यापी वेदना का जितना मार्मिक वर्णन कालिदास ने शाकुंतलम के चतुर्थ अंक में

किया है वह विश्व साहित्य में दुर्लभ है।शकुन्तला का लता वृक्षों के प्रति सहोदर भगिनी के समान स्नेह प्रदर्शित करता - **'तात लताभगिनीं वनज्योत्सनां तावदामन्त्रयिष्ये'**[9]

इतना ही नहीं पतिगृह जाती हुई शकुन्तला के परस्पर संवेदना भाव को प्रदर्शित करता हुआ हरिण शावक उसके गमन का प्रतिकार करता है। और उसके वस्त्र को पीछे से पकड़ कर के खींचता है क्योंकि शकुन्तला ने उसके मुख के घाव को इंगुदी का तेल लगा लगा कर के ठीक किया था-

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां,
तैलं न्यषिच्यत मुखकुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।।[10]

वनवासी तपस्वी ऋषि कण्व को शकुन्तला के अनिष्ट निवारण हेतु सोमतीर्थ जाना तथा विदाई के समय जो अनुभूति होती है उसका चित्रण विचित्र ही दिखाई देता है-

यास्यत्यद्यशकुन्तलेतिहृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लब्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः।।[11]

महर्षि कण्व की हृदय की व्यथा का जिस प्रकार सजीव वर्णन कालिदास ने उपरोक्त श्लोक में किया है वह स्वयं संवेदना का उत्कृष्ट उदाहरण है। सामाजिक वातावरण में जीवन यापन करने वाले गृहस्थी के लोगों का इतना सुंदर और सजीव वर्णन किया है। जिसका ज्ञान अनुभूति से दूर रहकर कल्पना मात्र के द्वारा होना असंभव है। कालिदास की समस्त अतिथियों में वर्णन क्षमताओं के अतिरिक्त किसी अन्य कवि में ऐसी क्षमता नहीं दिखाई देती है कालिदास एक ऐसे सूक्ष्म संवेदना वैज्ञानिक है जिन्होंने संवेदनाओं के उन गुह्यतम रहस्यों का भी सजीव चित्रण किया है जिन पर सर्वसाधारण की दृष्टि तक नहीं जा पाती। ससुराल जाते समय पुत्री को पिता का उपदेश उसकी संवेदना मात्र ही प्रकट करता है।इतना ही नहीं उसकी प्रिय सखियां शकुंतला के प्रति इतनी संवेदनशील हैं शकुंतला से ही दुर्वासा का शाप छुपा लेती हैं, आश्रम की लताएं, वहां के पशु-पक्षी सभी संवेदना का संदेश समाज के समक्ष स्वस्थ रूप में रखते हैं। शाकुन्तलम् का संपूर्ण चतुर्थ अंक विश्व की कोई ऐसी संवेदना नहीं है जो प्रकट करता हुआ दिखाई न देता हो।

विदाई के समय शकुन्तलाचकवी के माध्यम से स्वयं की संवेदना व्यक्त करती सी दिखाई देती है तथा अनसूया उसकी सम्वेदना की साक्षी बनाकर उसे साहस देती है –

नलिनी पत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुराचक्रवाक्यारटति – " दुष्करमहं करोमीति'।
अनसूया – सखि! मैवं मन्त्रयस्व।
एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम।
गुर्वीपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति।।[12]

पंचम अंक में वैतालिक एक राजा की परिस्थिति में समझकर उसके संवेदना व्यक्त करते हुए कहता है –

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवं विधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शममति परितापं छायया संश्रितानां।।[13]

तथा आगे कहता है कि राजा का राज - दण्ड धारण करके विमार्ग गामियों को नियंत्रित करना, विवादों को शांत करन, रक्षा के लिए तैयार रहना, संपत्ति होने पर भाई-बन्धुओं में अच्छी तरह से बंटवारा करकेबन्धु कार्य पूर्ण करना बिना संवेदना के संभव नहीं है। दुष्यंत की राजा के रूप में संवेदनशीलता तब अपना चरम रूप लेती है जब कञ्चुकी उसे कण्व के आश्रम से आए हुए तपस्वियों के आने की सूचना देता है। सूचना प्राप्त होते ही राजा एकदम से खड़ा हो जाता है और कहता है क्या तपस्या धारण किए हुए व्यक्तियों का तप विघ्नों से दूषित हुआ है? क्या तपोवन में रहने वाले प्राणियों के प्रति किसी ने अनुचित आचरण किया है? अथवा मेरे परिचितों ने लताओं का फूलना फलना रोक दिया है? मेरा मन बहुत व्याकुल हो रहा है।[14]

कालिदास प्रकृति को मूक चेतनाशून्य अथवा निष्प्राण नहीं मानते है। मानव की भाँति उनमें भी संवेदना का भाव दिखलाई देता है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक में नायिका मालविका के न मिलने पर प्रकृति के द्वारा अग्निमित्र के दुख को बांटते हुए संवेदनशील देखा जा सकता है-

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अङ्.गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे,
सान्द्रस्पर्शः करतल इवव्यापृतो माधवेन।।[15]

प्रकृति अग्निमित्र को के दुखों को देखकर किस किस प्रकार संतोष देती है राजा वायु के स्पर्श मात्र से सुख का अनुभव करते हुए कहता है कि आम्र मंजरी से सुवासित यह मलय वायु मेरे अंगों को ऐसे स्पर्श कर रहा है मानो स्वयं बसन्त अपने कोमल और प्रेमासिक्त हाथ से मुझे स्पर्श का आनंद प्रदान करता है। तथा कोयल की मधुर ध्वनि मुझे सहानुभूति में कह रही हो कि हो सके तो अपनी इस कामप्रदीप्तविरहव्यथा को सहन करो ।

अतः हम कह सकते हैं कि रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्यों की रचना के पश्चात संस्कृत साहित्याकाश में अनेक कवि-नक्षत्रों ने अपनी प्रभा प्रकीर्णित कर प्राणिमात्र की संवेदना समेटने का भगीरथ प्रयास किया, पर नक्षत्र-तारा-ग्रहसंकुला होते हुए भी कालिदास रूपी चन्द्रमा द्वारा ही भारतीय साहित्य की परम्परा सचमुच मनोवैज्ञानिक कही जा सकती है। माधुर्य और प्रसाद का परम परिपाक, भाव की गम्भीरता तथा रसनिर्झरिणी का अमन्द प्रवाह, प्रदों की स्निग्धता और वैदिक काव्यपरम्परा की महनीयता के साथ-साथ आर्ष काव्य की जीवनदृष्टि और गौरव इन सबका ललित सन्निवेश कालिदास की कविता में हुआ है। कालिदास विश्ववन्द्य कवि हैं। उनकी कविता के स्वर देशकाल की परिधि को लाँघ कर सार्वभौम बन कर गूंजते रहे हैं। इसके साथ ही वे

इस देश की धरती से गहरे अनुराग को पूरी संवेदना के साथ व्यक्त करने वाले कवियों में भी अग्रगण्य हैं, मनोचिकित्सक हैं।

सन्दर्भ -

[1]रघुवंशम्14/69

[2]अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/11

[3]वही 1/11

[4]रघुवंशम् 8/70

[5]वही8/63

[6]कुमारसम्भवम् 5/5

[7]वही 4/26

[8]मेघदूतमउत्तरमेघ 43

[9]अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/14 के पूर्व का गद्यभाग

[10]वही 4/14

[11]वही 4/1

[12]वही 4/17 का परभाग

[13]वही 5/6

[14]वही 5/10

[15]मालविकाग्निमित्रम् 3/5

ऋग्वेदीय रहस्यात्मक प्रहेलिकाएँ : एक दृष्टि

• डॉ. देवेन्द्र पाल*

शोधसार -ऋग्वेद में कुछ विशिष्टप्रकार के विशिष्ट शैली में रचित मन्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें विद्वानों ने 'प्रहेलिका' संज्ञा दी है। ये प्रहेलिकायें ऋग्वेद में कहीं तो पूरे सूक्त में और कहीं पर केवल कुछ मन्त्रों में ही प्राप्य हैं। यह विशिष्ट प्रकार के मन्त्र गूढ़ रहस्यों को उद्घाटितकरने वाले हैं लेकिन इन प्रहेलिकाओं का वास्तविक अर्थ समझ पाना इतना सरल भी नहीं है क्योंकि सायण जैसा दुर्धर्ष विद्वान् भी 'अस्यवामीय सूक्त' के एक ही प्रहेलिका का कभी अधिदैवत पक्ष से कभी अधियाज्ञिक पक्ष से समाधान करते हुए कहता है कि इसका समाधान अध्यात्मपक्ष में भी हो सकता है। ये प्रहेलिकायें ऋग्वेद की अनुपम भेंट हैं जो विशिष्ट वैज्ञानिक अर्थों की संवाहिका के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होती हैं। इन प्रहेलिकाओं पर और शोध की आवश्यकता जान पड़ती है जिससे वेद के वास्तविक अर्थों की परतें खुल सकें।

बीजशब्द – प्रहेलिका, स्वधावान्संवत्सर, देवजिह्व, ब्राह्मण, वैद्युताग्नि, क्रान्तदर्शी।

ऋग्वैदिक ऋषि जब सारस्वत मण्डल के सूक्तों से आगे जाने लगा तो उसकी भाषा और उसके मन्त्रों में कुछ विविध प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे, भाषा में जहाँ रेफ के स्थान पर लकार की सत्ता स्थापित होने लगी और 'हेऽरयः', 'हेऽलयः' बनने लगा, वहीं सूक्तों के मन्त्र प्रायः जटिल एवं केवल विदग्धजनों के बुद्धि द्वारा आत्मसात् करने योग्य रह गये। इस प्रकार के मन्त्र वाक्जाल के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते हैं और उन्हें आधुनिक विद्वानों द्वारा 'प्रहेलिका' संज्ञा दी गयी। वास्तव में इस तरह के मन्त्रों के सम्यक् निरीक्षण से ज्ञात होता है कि ये मन्त्र किसी गूढ़ रहस्य को उद्घाटित करने वाले हैं, और इन्हीं रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास अनेक वैदिक विद्वानों ने किया भी है और वे अपने उद्देश्यों में बहुत सीमा तक सफल भी हुए हैं।

ऋग्वेदीय प्रहेलिकाओं के समाधान इतने सरल भी नहीं हैं इसीलिए सायण जैसा दुर्धर्ष विद्वान् भी 'अस्यवामीय' सूक्त के एक ही प्रहेलिका का कभी 'अधिदैवत' पक्ष से कभी 'अधियाज्ञिक' पक्ष से समाधान तो करता है लेकिन वह कहता है कि इसका समाधान 'अध्यात्म'

*सहायक आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

पक्ष में भी हो सकता है - **एवमुत्तरत्रापि अध्यात्मपरतया योजयितुं शक्यम् तथापि स्वरसत्वाभावात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च न लिख्यते।।** [1]

ऋग्वेदीय प्रहेलिकायें प्रायः असम्भववर्णात्मक अथवा श्लेषात्मक हैं। प्रमुख ऋग्वेदीय प्रहेलिकाओं को अधोलिखित रूप में देखा जा सकता है - प्रथम मण्डल में एक प्रहेलिका का स्वरूप इस प्रकार से है -

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाँ छुक्रो अन्यस्यां दद्दशे सुवर्चाः।।[2]

अर्थात् दो विभिन्न स्वरूपों वाली कृष्ण-गौर वर्णी माताएं हैं, वे शोभन उद्देश्य के साथ आवागमन करती हैं, एक दूसरे के शिशु को दूध पिलाती हैं, गौर वर्णी माता का पुत्र हरि है जो कृष्ण वर्णी माता में स्वधावान् होता है, कृष्णा माता का पुत्र सुवर्चा शुक्र है जो गौर-वर्णीं माता में स्वधावान् (अन्नवान्) होता है।

वास्तव में प्रहेलिका की दृष्टि से विचार किया जाये तो दिन तथा रात्रि, अग्नि तथा सूर्य की माता ही हैं उसमें रात्रि का पुत्र सूर्य ही है, रात्रि उसे जन्म देकर दिन या द्यौ को सौंप देती है, जो उसे स्वधावान् बनाती है। गौर वर्णी माता (दिन) का पुत्र अग्नि है जिसे वह रात्रि को सौंप देती है और रात्रि रूपी माता उसे स्वधावान् या अन्नवान् बनाती है।

दिन में सूर्य का प्रकाश होता है तथा रात्रि में अग्नि प्रज्ज्वलित होती ही है इसी बात को उपर्युक्त प्रहेलिका के माध्यम से काव्यात्मक ढंग से कहा गया है।

एक प्रकृतिवादी प्रहेलिका का सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है -

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति।।[3]

अर्थात् तन्द्रारहित दश युवतियाँ अपने पति त्वष्टा द्वारा गर्भस्थ एक पुत्र को जन्म देती हैं। तेजवान मुख वाले उस यशस्वी पुत्र को माताएं जन-जन के पास ले जाती हैं।

आचार्य सायण महोदयानुसार यहाँ पर दश युवतियाँ प्राच्यादि दश दिक् स्वरूप हैं, त्वष्टा अन्तरिक्ष स्थानीय दीप्तवायु है, जिसके द्वारा दिशाओं के मेघरूपी उदर में गर्भ स्थापित होता है, जिससे वे दिशायें वैद्युताग्नि-पुत्र को जन्म देती हैं।

इसी प्रहेलिका का यज्ञीय दृष्टि से भी सायण व्याख्या देते हुए विचार करते हैं कि यजमान की दश अंगुलियाँ ही दश युवतियां हैं, त्वष्टा वायु स्वरूप हैं, अंगुलियाँ ही अरणिमन्थन करके वायु की सहायता से यज्ञाग्नि रूप पुत्र को जन्म देती हैं।[4]

यदि ध्यान से देखा जाय तो ये प्रहेलिका गूढ़ रहस्यात्मक प्रतीत होती है एवं वैदिक ऋषियों की अप्रतिम मेधा का साक्षात्कार कराती है क्योंकि इस तरह का चिन्तन सामान्य जन के पहुँच से सर्वथा दूर जान पड़ता है।

इसके पश्चात् ऋषि इसी सूक्त में इसके विपरीत अपने भाव को प्रकट करते हुए कहता है -

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्निश्चरति स्वधावान्।[5]

अर्थात वत्स अपनी शक्तियों से माताओं को उत्पन्न करता है, वह वत्स भी माता के गर्भ से बाहर आता है। वह वत्स बहुत ही महान् है, क्रान्तदर्शी अथवा त्रिकालज्ञ है, साथ में शक्तिशाली तथा आत्मनिर्भर भी है। तुम लोगों के बीच कौन इस गूढ़, रहस्य को जान सकता है?

आचार्य सायण के अनुसार वह वत्स मेघवर्ती वैद्युताग्नि स्वरूप है, उसकी माताएं मेघ में ही स्थिति आपः (जल) है क्योंकि अग्नि में डाली गयी आहुति वृष्टि में निमित्त होती है एवं वत्स माताओं का जनक भी कहलाता है। विशाल जलराशियों के गोद (समुद्र) से गर्भ रूप महान् कवि देवजिह्व अग्नि निकल कर विचरण करता है।[6]

अथवा वत्स अग्नि है, उसकी माताएं अरणियां हैं क्योंकि वह अरणि-मन्थन से ही प्रकट होता है, और बाद में अग्नि अरणियों को वृष्टि द्वारा उत्पन्न करता है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के उत्पादक के रूप में समझे जा सकते हैं अर्थात् इन दोनों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

ऋषियों की अद्भुत रहस्यमयी दृष्टि ने देवों को भी रहस्ययुक्त कर दिया। इस तरह की एक प्रहेलिका जो अधिदेवपरक है, में देखा जा सकता है -

अमी ये पंचोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना नि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी।।[7]

अर्थात् पाँच बैल (उक्षणः) महान् द्युलोक के मध्य में स्थित हैं। वे पाँच बैल देवों में जो प्रशंसनीय हैं उनके पास आते हैं और पुनः लौट जाते हैं।

इस मन्त्र की व्याख्या भी सायण ने इस प्रकार से की है - इन्द्र, वरूण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता ये पाँच देव हैं अथवा अग्नि, वायु सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत ये पाँच देव ही द्युलोक के बीच में स्थित हैं जिन्हें ऋषि ने पाँच बैल से सम्बोधित किया है। यहाँ पर 'उक्षा' शब्द। उक्ष सेचने धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है - कामाभिवर्षक, समस्त कामनाओं या इच्छाओं को पूर्ण करने वाला, अतः उन्हें 'उक्षा' शब्द से सम्बोधित किया गया है।[8]

ग्रिफिथ के अनुसार - द्युलोक में बैल की आकृति निर्माण करने वाली वृषराशि के पाँच प्रमुख तारे भी पाँच बैल माने जाते हैं।[9]

ग्रिफिथ का यह विचार सम्भवतः ज्योतिष वेदाङ्ग के आधार पर है। इसके पश्चात् एक मन्त्र में द्युलोकवासी सुपर्ण की चर्चा की गयी है जो वृक (भेड़िया) को मार्ग से हटाता है -

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी।।[10]

अर्थात् द्युलोक में व्याप्त प्रदेश के मध्य में कुछ सुपर्ण हैं। वे विस्तीर्ण जलों को तैरते वृक को मार्ग से हटा देते हैं। हे द्यावापृथिवी! मेरी इस पहेली को बूझो।

सायण महोदय के अनुसार गरूड (सुपर्ण) का अर्थ सूर्यरश्मियों से है आपः (जल) अन्तरिक्ष को द्योतित करता है जबकि वृक् चन्द्रमा है जो बारह राशियों वाले आकाश मार्ग का सन्तरण कर रहा है। सुपर्ण अर्थात् सूर्यराशियाँ दिन में वृक को अर्थात् चन्द्रमा को रास्ते से हटा देती हैं, अपने प्रकाश से उसके प्रकाश को निष्प्रभ कर देती हैं। लेकिन ग्रिफिथ के अनुसार अन्धकार या चन्द्रग्रहण वृक है जबकि तारे सुपर्ण। कुछ विद्वानों ने इसकी नक्षत्रपरक व्याख्या भी की है।

एक प्रहेलिका में ऋषि ने जगत् पालक के स्वरूप को रहस्यात्मक बना दिया है, जिसमें सूर्य, वायु तथा अग्नि का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया गया है -

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।[11]

एक वाम (अति सुन्दर), पलित (पक्वकेश वृद्ध) है, जो 'होता' के नाम से जाना जाता है। उस होता का मध्यम भ्राता 'अश्न' (बहुत खाने वाला) है। तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ (जिसकी पीठ पर घृत लगाया गया है) है। इनमें से एक सात पुत्रों वाला है तथा उसे विश्पति कहते हैं।

सायण ने वाम, अश्न तथा घृतपृष्ठ का आधिभौतिक दृष्टि से सूर्य, वायु तथा अग्नि एवं आध्यात्मिक पक्ष से परमात्मा, विराट् तथा जीवात्मा अर्थ किया है, और इसमें जो परमात्मा है वही सबका स्वामी है।

एक रोचक प्रहेलिका में ऋषि सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में समाधान करता हुआ कहता है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।[12]

अर्थात् एक साथ रहने वाले, परस्पर सखा बने हुए दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा या ईश्वर) एक ही वृक्ष अर्थात् शरीर का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में एक (जीवात्मा) पीपल के फल को अर्थात् कर्मों के फल को स्वाद लेकर भोगता है, दूसरा अर्थात् परमात्मा फलों के भोग से विरत रहता हुआ केवल देखता रहता है। इस प्रहेलिका का उद्देश्य यदि सृष्टि-प्रक्रिया के प्रति आभास प्रकट करना रहा हो तो सम्भव है इसका संकेत सांख्य की ओर हो।

अस्यवामीय सूक्त के एक दूसरे मन्त्र में संवत्सर और बारह महीने का वर्णन कितनी रोचकतापूर्ण प्रहेलिका में किया गया है -

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तिच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्ठिर्न चलाचलासः।।[13]

अर्थात् एक चक्र है जिसमें बारह प्रधियां एवं तीन नभ्य हैं। उसमें 360 कीलें लगी हुई हैं जो अत्यन्त चंचल हैं। कौन उसे निश्चित रूप से जान सकता है? यास्काचार्य के मतानुसार यह संवत्सर रूपी चक्र है, संवत्सर के बारह महीने ही बारह प्रधियों के रूप में हैं।[14] बसन्त-ग्रीष्म, वर्षा-शरद, हेमन्त-शिशिर ये तीन युगल ही तीन नभ्य हैं। 360 कील संवत्सर के ही 360 अहोरात्र हैं।[15]

निरन्तर चलायमान होने के कारण ही ये चंचल हैं।[16] यह प्रहेलिका निश्चित रूप से वैदिक कालीन उन्नत-विज्ञान की ही सूचक है।

संवत्सर के ही सन्दर्भ में एक अन्य प्रहेलिका में कहा गया है -

षड्गारां एको अचरन्बिभर्त्यृतं वर्सिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरूपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका।।[17]

अर्थात् एक अज्ञात तत्त्व है जो चलता नहीं है परन्तु छः प्रकार के भारों को धारण किये हुए है, उसके निकट में अनेक गायें आती हैं, तीन विशाल घोड़ियां उसके सन्निकट हैं, उनमें से दो गुहा में रखी गयी हैं और एक ही दिखाई देती हैं।

सायणाचार्य के अनुसार इस प्रहेलिका में वह एक अज्ञात तत्त्व संवत्सर ही है जो, स्वयं न चलकर भी छः प्रकार की ऋतुओं बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर के द्वारा चलता है, उसके निकट में आने वाली गायें सूर्य की रश्मियां ही हैं जो संवत्सर को व्याप्त करती है तथा तीन प्रकार की घोड़ियाँ-पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं, इनमें से दो अर्थात् अन्तरिक्ष और द्यौ दृष्टिगोचर न होने के कारण गुफा में रखी हुई के समान हैं केवल एक मात्र पृथिवी ही दृश्यमान है।

वैसे यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो तीन प्रकार की घोड़ियां तीन काल भी हो सकते हैं -भूत, वर्तमान और भविष्य। इनमें से केवल वर्तमान ही चलता जान पड़ता है भूत और भविष्य गुफा में छिपे हुए दिखाई पड़ते हैं।

एक अन्य प्रहेलिका ऋग्वेद में बहुत ही चर्चित है, जिसकी व्याख्या वैदिक अपने ढंग से करता है, दार्शनिक अपने ढंग से करता है, वैयाकरणी अपने ढंग से तथा साहित्यिक अपने ढंग से इस मन्त्र की व्याख्या करता है। मन्त्र इस प्रकार से है-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।।[18]

अर्थात् एक वृषभ (बैल) है जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो शिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बँधा हुआ वह अत्यधिक शब्द कर रहा है। वह एक महान् देव है जो मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।

वेदाङ्ग निरूक्तानुसार यह वृषभ यज्ञ है, चार वेद ही चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न एवं सायं सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीयेष्टि एवं उदयनीयेष्टि ही उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द ही उसके सात हाथ हैं। वह यज्ञ रूपी वृषभ (बैल) मन्त्र, ब्राह्मण एवं कल्प इन तीन खूंटों से बँधा हुआ है। यज्ञ में बोले जाने वाले मन्त्रों के पाठ ही उसके शब्द हैं।

पतंजलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में व्याकरण की दृष्टि से इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि वह वृषभ शब्द है, चार सींग से तात्पर्य चार प्रकार के पदसमूह से है - नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात (प्रकारान्तर से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी)। तीन पैरों से तात्पर्य तीन कालों भूत, भविष्यत् और वर्तमान से है। दो सिर अर्थात् शब्द के दो स्वरूप सुबन्त और तिङन्त हैं।

सात हाथ अर्थात् सात विभक्तियाँ ही हैं। तीन स्थानों - उरस्, कण्ठ तथा शिर से बंधा हुआ वह शब्द करता है क्योंकि शब्द इन्हीं तीन स्थानों से मिलकर ही उच्चरित होता है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस मन्त्र की व्याख्या साहित्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य पुरुष की स्तुति के विषय में की है।

इस प्रहेलिकात्मक मन्त्र का सायण ने पंचधा व्याख्यान सम्भव माना है, यज्ञात्मक अग्नि और सूर्य के पक्ष में उनका व्याख्यान उपलब्ध भी है, यज्ञपरक व्याख्या यास्क के निरूक्तानुसार ही है केवल दो शिर निरूक्त के प्रायणीय तथा उदयनीय के स्थान पर ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य माने हैं।[19] इसके अतिरिक्त इस प्रहेलिका का यजुर्वेद में उवट और महीधर ने भी भाष्य किया है। जिसमें से उत्वट का एक भाष्य यज्ञपरक है और दूसरी शब्द ग्राम परक, जबकि महीधर ने तीन प्रकार से व्याख्या की है।

वास्तव में यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह प्रहेलिका वैदिक ऋषियों की उच्च स्तर की मानसिक विलक्षणता की द्योतक है।

एक विशिष्ट प्रहेलिका में 'संसार में आने जाने का क्रम अनवरत रहता है' इसी रहस्य को ऋषि ने मन्त्रों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया -

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान।[20]

अर्थात् युद्ध में शौर्य प्रदर्शित करने वाले युवक को श्वेतकेश वृद्ध भी निगल जाता है, उस देव का महत्त्व और चमत्कार देखो जो आज मर मरा है वही पुनः कल भली प्रकार चेष्टा करने लगता है।

यह मनुष्य-शरीर ही युवक है जो बहुतों का दमन करने वाला होता है लेकिन परमात्मा के कालरूपी चक्र से उसे मुक्ति नहीं मिलती, यहाँ पर कालचक्र ही वह वृद्ध है जो युवक को अर्थात् मनुष्यों को अवसर आने पर निगल जाता है, लेकिन आत्मा कभी नष्ट नहीं होती इसलिए वह नये कलेवर में हमारे सामने युवक बनकर आ जाती है।

यदि देखा जाय तो इस ऋग्वेदीय प्रहेलिकात्मक ऋचा में बड़े ही दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का सूक्ष्म वर्णन किया गया है, बाद में यही सिद्धान्त गीता में विस्तार से देखने को मिलता है।[21]

एक प्रहेलिका में चार चोटियों वाली युवती का मनोरम वर्णन है -

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।[22]

अर्थात् एक चार चोटियों से युक्त युवती है, सुन्दर वेशभूषा वाली है, मुख पर घृत लगा हुआ है तथा वह वयुन में आच्छादित है, उस युवती के सिर पर वर्षा करने वाले दो पक्षी बैठे हैं, जिसके द्वारा देव अपने-अपने भाग प्राप्त करते हैं।

सायणाचार्य के अनुसार वह युवती यज्ञ-वेदि है। चूंकि वेदी चार कोनों से युक्त होती है इसलिए ये कोने ही चार चोटियाँ हैं। यज्ञ में घृत का प्रयोग होने से घृतप्रतीका है। वयुन अर्थात् मन्त्र ही उसकी साड़ी है। दो पक्षी याज्ञिक, पति-पत्नी अथवा यजमान और ब्रह्मा नामक ऋत्विज हैं यही दोनों हवि की वर्षा करते रहते हैं। उसी वेदि से ही सभी देव अपने-अपने हविर्भाग को प्राप्त करते हैं।

निश्चय ही इन प्रहेलिकाओं की शैली एक विशिष्ट प्रकार की है जिनसे दार्शनिक अभिव्यक्ति भी होती है। ये प्रहेलिकायें ऋग्वेदीय स्तुति परक मन्त्रों से भिन्न स्वरूप की प्रतीत होती हैं, जो वैज्ञानिक तथ्यों का भी अपने भीतर सन्निवेश किये हुए हैं। अतः इन मन्त्रों पर और अधिक मन्थन किये जाने की आवश्यकता है जिससे वास्तविक रहस्य हमारे सम्मुख उद्घाटित हो सकें।

सन्दर्भ -

1. सायण भाष्य, 1/164/1
2. ऋग्वेद, 1/95/1 तथा यजुर्वेद 33/5
3. ऋग्वेद 1/95/2
4. दशसंख्याका अंगगुलयस्त्वष्टुर्दीप्तस्य वायोः गर्भ स्वकारणभूते वायौ गर्भरूपेण वर्तमानम्। अग्नेर्हिवायुः कारणं 'वायोरग्निः' (तै0आ0 8/1) इति श्रुतेः। एवंभूतम् इमम् अग्निम् अरण्यो 'सकाशात् जनयन्त उत्पादयन्ति'। सायण भाष्य
5. ऋग्वेद, 1/95/4
6. सायण भाष्य 1/95/4
7. ऋग्वेद 1/105/10
8. सायण भाष्य, ऋग्वेद, 1/107/3
9. वेद विमर्श - डॉ0 मानसिंह, पृ0 86
10. ऋग्वेद, 1/105/11
11. 1/164/1, एवं अथर्ववेद, 9/9/1
12. ऋग्वेद, 1/164/20
13. ऋग्वेद, 1/164/48
14. निरूक्त, 4/27
15. शतपथ ब्राह्मण, 9/1/1/43
16. सायण भाष्य ऋ0 1/164/48
17. ऋग्वेद, 3/56/2
18. ऋग्वेद, 4/58/3 तथा यजुर्वेद 19/92
19. वेद विमर्श - डॉ0 मानसिंह, पृ0 91
20. ऋग्वेद, 10/55/05
21. तुलनीय गीता, 2/22
22. ऋग्वेद, 10/114/3

'इकोऽचि विभक्तौ': एक विश्लेषण

• डॉ. रवि प्रभात*

शोधसार - प्रस्तुत शोध पत्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूत्र 'इकोऽचि विभक्तौ' पर एक गहन अध्ययन एवं समीक्षण करने का प्रयास किया गया है। वैयाकरण निकाय में पाणिनि के सन्दर्भ में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि "तत्राशक्यं वर्णेनाप्येकेनानर्थकं भवितुम्", अतः पाणिनि द्वारा प्रयुक्त सूत्रस्थ सभी पदों की प्रयोजनवत्ता पर बहुशः चर्चाएँ निरंतर की गयी हैं। प्रकृत सूत्र पर भी "अचि" इस पद की सार्थकता को लेकर कात्यायन, पतंजलि, वामन-जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, हरदत्त मिश्र, कैयट, भट्टोजि दीक्षित एवं नागेश भट्ट आदि प्रामाणिक आचार्यों ने गहन मंथन किया है। अनेक पक्षों पर विचार करने के बाद सामान्यत: दृष्टिगत न होने वाला प्रयोजन उक्त पद का निष्कर्ष रूप में प्राप्त होता है, जिसकी सैद्धांतिक स्थापना प्रस्तुत शोधपत्र में की गयी है। प्रस्तुत शोध पत्र में पाणिनि की अन्वाख्यान-प्रविधि एवं उसको हृदयंगम करने के उपायों को भी समझने में सहायता प्राप्त होती है।

बीजशब्द - इक:, अचि, विभक्तौ, पाणिनि, पतंजलि, अङ्ग, इगन्त, 'नुम्'आगम, साधु-अन्वाख्यान, अजादि विभक्ति, पदसंज्ञा, हलादि विभक्ति, सन्निपातलक्षण-परिभाषा, 'नुट्' आगम।

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषापाणिनि की अष्टाध्यायी अपनी अन्वाख्यान पद्धति की अपूर्वता और विश्लेषण शैली के कारण अद्यावधि मानव मस्तिष्क की उपलब्धियों में सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी एवं सर्वप्रशंसित प्रमाणित हो चुकी है। आचार्य ने समकालीन भाषा का जितना क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अनुशासन अष्टाध्यायी में किया है उतना विश्व की किसी भाषा में दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रस्तावित शोध-पत्र का आधार पणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र-विशेष को ही बनाया गया है।

इगन्त अङ्ग को 'नुम्' आगम

अजादि विभक्ति परे रहते इगन्त (इक्- इ, उ, ऋ, लृ अन्त में है जिसके) नपुंसक अङ्गसंज्ञक को 'नुम्' आगम का विधान किया गया है।[1]इस विधि की प्रवृत्ति को दर्शाने हेतु इगन्त 'त्रपु'शब्द को प्रस्तुत किया जा सकता है। द्वितीया विभक्ति एकवचन में 'त्रपु + औ' 'नपुंसकाच्च' (अष्टा. 7.1.19)

*सहायक-आचार्य, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत-विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

सूत्र से 'औ'के स्थान पर 'शी'आदेश, 'त्रपु + शी (ई)'इस स्थिति में नपुंसकलिङ्गवाची इगन्त 'त्रपु'अङ्ग को अजादि 'ई'विभक्ति परे रहते 'इकोऽचि विभक्तौ' (अष्टा. 7.1.73) से 'नुम्'आगम होता है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (अष्टा. 1.1.47) सूत्र से मित् आगम अन्तिम अच् से परे होता है. 'त्रपुन् ई' में णत्व होकर 'त्रपुणी' इष्ट रूप सिद्ध होता है।

1 सूत्र-स्वरूप-विमर्श

इगन्त नपुंसक अङ्ग को अजादि विभक्ति परे रहते 'नुम्'विधान के लिए आचार्य ने 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र का प्रणयन किया है। प्रस्तुत सूत्र में स्थित पदों के विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं, आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए इन प्रश्नों की मीमांसा आवश्यक है।

1.1 'इक्'पद का प्रयोजन-विमर्श

'इक्'पद के प्रयोजन पर विचार करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि आचार्य को केवल 'इगन्त'नपुंसक अङ्ग को ही 'नुम्'आगम का विधान इष्ट है। अन्यथा अदन्त अङ्ग 'कुण्ड'और 'पीठ'आदि नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों को अजादि विभक्ति परे रहते 'नुम्'की प्रवृत्ति सम्भव थी।[2]हरदत्त मिश्र 'इक्'पद के प्रयोजन के विषय में कहते हैं कि यदि पूर्वसूत्र 'नपुंसकस्य झलचः' (अष्टा. 7.1.72) में 'अच्'पद का ग्रहण न करके प्रकृत सूत्र में 'इकोऽचि'के स्थान पर 'अचोऽचि विभक्तौ'इस प्रकार 'अच्'पद का ग्रहण करते तो हलन्त शब्दों को 'नुम्'का निवारण सम्भव था और सन्ध्यक्षरान्त (ए, ओ, ऐ, औ) शब्दों में कोई नपुंसकलिङ्गी शब्द नहीं है। अतः 'इक्'पद के ग्रहण का प्रयोजन अदन्त कुण्ड आदि शब्दों के वारण के लिए है, हलन्त शब्दों के वारण के लिए नहीं।[3]

1.2 'अचि'पद का प्रयोजन-विमर्श

प्रकृत सूत्र में 'अचि'पद आचार्य के विशेषाभिप्राय का द्योतक है। 'अचि'पद 'विभक्तौ'पद का विशेषण है, अतः वर्णमात्र का ग्रहण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे'परिभाषा के आधार पर तदादि अर्थ को कहेगा, अतः 'अजादि विभक्ति परे रहते'यह अर्थ प्राप्त होता है।

यदि 'इकोऽचि विभक्तौ'सूत्र की अपेक्षा मात्र 'इको विभक्तौ'इतना ही सूत्र होता तब अजादि और हलादि उभयसाधारण विभक्ति को 'नुम्'की प्राप्ति होती। किन्तु हलादि विभक्ति में 'नुम्'होने पर भी कोई अनिष्टापत्ति नहीं होती। हलादि विभक्ति 'भ्याम्'आदि के परे रहते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (अष्टा.1.4.17) सूत्र से सर्वनामस्थान- विभक्ति को छोड़कर अन्य विभक्तियों के परे रहते पदसंज्ञा होती है। अतः हलादि विभक्ति परे रहते 'नुम्' होने पर भी 'त्रपुन् भ्याम्'यहां पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (अष्टा.8.2.7) सूत्र से 'न'का पदान्तनिमित्तक लोप हो जाएगा, अतः कोई समस्या नहीं होगी।[4]

नपुंसकलिङ्ग में केवल 'जस् और 'शस्'के स्थान पर आदेशभूत 'शि'की ही सर्वनामस्थान संज्ञा होती है, अतः सु परे रहते सर्वनामस्थान संज्ञा न होकर पदसंज्ञा होती है। जिससे 'सु' परे रहते भी नलोप सम्भव है। अजादि विभक्ति परे होने पर भसंज्ञा से पदसंज्ञा का बाध हो जाएगा।[5]इस तरह 'नुम्' का

श्रवण अजादि विभक्ति परे रहते ही होगा, हलादि विभक्ति परे रहते नहीं। इसलिए 'इको विभक्तौ' इतना ही सूत्रपाठ इष्टापत्ति के लिए पर्याप्त हैं[6], यहां पर 'अचि' पद का क्या प्रयोजन है?

1.3 हलादि विभक्तिपरक 'नुम्'के निवारणार्थ पक्ष की स्थापना

'अचि' पद का एक अन्य प्रयोजन दशार्ते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यदि हलादि विभक्ति परे रहते 'नुम्'आगम करेंगे तो अङ्ग का अवयव होने से 'नुम्'सहित की अङ्गसंज्ञा होगी। 'पञ्चभिः त्रपुभिः क्रीताभ्यां क्रीतैः वा'यहां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (अष्टा. 2.1.51) सूत्र से तद्धितार्थ में समास, 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (अष्टा. 2.1.52) से द्विगु संज्ञा, ठक् प्रत्यय, 'पञ्च त्रपु ठक्', 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (अष्टा. 5.1.28) सूत्र से ठक् का लुक् होकर हलादि विभक्ति परे रहते 'पञ्चत्रपुभ्याम्'यहां पर 'नुम्'तथा 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (अष्टा. 8.2.7) सूत्र से नलोप करते हैं।

इस स्थिति में 'इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ' (अष्टा. 6.2.29) इस सूत्र से इगन्त उत्तरपद परे रहते द्विगु समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान किया गया है। यही स्वर 'पञ्चत्रपुभ्याम्' में भी अभीष्ट है परन्तु 'नुम्' भी अङ्ग का अवयव है। अतः स्वरविधि में नलोप असिद्ध हो जाता है।[7]'न' के असिद्ध हो जाने से 'पञ्चत्रपुणि' यह इगन्त अङ्ग न होकर नकारान्त अङ्ग हो जाता है। जिससे कि कि उपर्युक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और 'पञ्चत्रपुभ्याम्' में पूर्वपदप्रकृतिस्वर की प्राप्ति नहीं हो पाती।[8]'नुम्' के कारण 'पञ्चत्रपु' के इगन्तत्व का विघात हो रहा है।[9]इसलिए हलादि विभक्ति के परे रहते 'नुम्' के निवारणार्थ 'अचि' पद की आवश्यकता प्रतीत होती है।

1.4 स्वरविषयक प्रयोजन का खण्डन

उपर्युक्त विवरण में हलादि विभक्तिपरक 'नुम्' के कारण इगन्त 'पञ्चत्रपुभ्याम्' में दोष की उद्भावना की गई है। परन्तु भाष्यकार इसे भी प्रयोजन के रूप में स्वीकार रहीं करते। 'पञ्चत्रपुणा' (पञ्च + त्रपु + टा) यहां अजादि विभक्ति परे रहते 'नुम्' का श्रवण हो रहा है। यहां भी इगन्तलक्षण स्वर इष्ट है। यहां भी 'नुम्' अङ्ग का ही अवयव है, किन्तु यहां भी उत्तरपद 'त्रपुन्' इगन्त न होकर नकारान्त है अतः इगन्तलक्षण स्वर की प्राप्ति नहीं होती। इसका समाधान यह दिया गया है कि 'नुम्' होने पर भी सन्निपातलक्षण परिभाषा[10]के द्वारा वह 'नुम्' 'त्रपु' के इगन्तत्व का विघात नहीं करेगा। इगान्त अङ्ग को ही 'नुम्' आगम हुआ है, अतः वह अपने निमित्त इगन्तत्व का विघात नहीं करेगा। इसी प्रकार 'पञ्चत्रपुभ्याम्' में सन्निपातलक्षण-परिभाषा के द्वारा 'नुम्' होने पर भी इगन्तता का विघात न होने से स्वर में कोई दोष नहीं होगा[11], इसके लिये 'अचि' पद की कोई आवश्यकता नहीं है।

कैयट के अनुसार इगन्त स्वर की प्रवृत्ति का एक अन्य उपाय यह भी है कि 'नुम्' प्रवृत्त होने के लिये विभक्ति की अपेक्षा रखता है, अतः अधिक निमित्त की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है जबकि स्वर अन्तरङ्ग है।[12]अन्तरङ्ग कार्य की दृष्टि में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है।[13]अन्तरङ्ग स्वर की कर्तव्यता में बहिरङ्ग 'नुम्' असिद्ध हो जाएगा। स्वर होने के बाद यदि 'नुम्' करेंगे तो 'नुम्' भी इगन्तलक्षण का

विघात नहीं करेगा। इस प्रकार अजादि-विभक्तिपरक 'पञ्चत्रपुणा' की तरह 'पञ्चत्रपुभ्याम्' में भी इष्टस्वर हो जाएगा। इसलिए स्वरसिद्धि के लिए 'अचि' पद के निर्देश की आवश्यकता नहीं है।

1.5 'अतिराभ्याम्' शब्द के साधु-अन्वाख्यान के लिए 'अचि' पद का प्रयोजनत्व एवं खण्डन

'अचि' पद का प्रयोजन दर्शाने हेतु 'अतिराभ्याम्' शब्द उपस्थित किया जाता है। 'रायमतिक्रान्ताभ्याम् (ब्राह्मणकुलाभ्याम्) अतिराभ्यामिति' इस विग्रहपूर्वक से रचित 'अतिरि' प्रातिपदिक से 'भ्याम्' का योग कर 'अतिरि + भ्याम्' यह स्थिति होती है। यदि यहां पर हलादि विभक्ति परे रहते 'नुम्' आगम हो जाएगा तो 'नुम्' के व्यवधान के कारण 'रायो हलि' (अष्टा. 7.2.85) सूत्र से हलादि विभक्ति परे रहते 'रै' अङ्ग को आत्व नहीं हो पाएगा।[14] यदि यह कहा जाए कि हलादि विभक्ति तथा 'रे' (रि) के बीच में आए हुए 'नुम्' आ जाने से व्यवधान नहीं होगा, क्योंकि 'नुम्' का लोप हो चुका है। इस प्रकार जिससे कि आत्व आदेश की प्रवृत्ति निर्बाध हो जाएगी, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि सुब्विधि में नलोप असिद्ध होता है, नलोप के असिद्ध होने से व्यवधान यथावत् बना रहेगा।[15] इस प्रकार से 'अतिराभ्याम्' शब्द के साधु अन्वाख्यान के लिये 'अचि' पद की आवश्यकता दर्शायी गयी है।

इस सन्दर्भ में भाष्यकार का कथन है कि 'अति + राभ्याम्' इस स्थिति में 'नुम्' भी प्राप्त होगा तथा आत्व भी प्राप्त होगा। 'दधीनि' शब्द में 'नुम्' चरितार्थ है तथा 'राभ्याम्' शब्द में आत्व चरितार्थ है, अतः अन्य स्थलों पर लब्धावकाश 'नुम्' विधायक सूत्र तथा आत्वविधायक सूत्र 'अतिरि + भ्याम्' में एक साथ प्रवृत्त हो रहे हैं। तुल्यबलविरोध होने से परवर्ती शास्त्र 'आत्व' के द्वारा पूर्ववर्ती 'नुम्' का बाध हो जाएगा और आत्व होकर इष्टसिद्धि हो जाएगी।[16] कैयट इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'नुम्' की प्रवृत्ति के बाद आत्व की प्रवृत्ति नहीं हो पाती तथा आत्व की प्रवृत्ति के बाद नुम् की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, इसलिए दोनों अनित्य हैं, दोनो के अनित्य होने पर 'आत्व' के परवर्ती होने से आत्व की ही प्रवृत्ति होती है, इसके लिए 'अचि' पद की आवश्यकता नहीं है।[17]

1.6 उपर्युक्त सन्दर्भ में जिनेन्द्रबुद्धि एवं हरदत्तमिश्र द्वारा विशेष व्याख्यान

महाभाष्य में एक श्लोकवार्तिक द्वारा इस समस्त विवेचन का संग्रह किया गया है, जिसे काशिकाकार ने भी दुहराया है।[18]पतञ्जलि परत्व के आधार पर इस समस्या का समाधान करते हैं कि नुम् के व्यवधान के होते हुए भी 'व्यवधानाद्' 'रै' का 'रायो हलि' (अष्टा. 7.2.85) से आत्व आदेश हो जाता है। श्लोकवार्तिक के 'व्यवधानाद्' शब्द की एक नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए न्यासकार एवं पदमञ्जरीकार कहते हैं कि 'व्यवधानाद्' शब्द में कर्म अर्थ में ल्यप् प्रत्यय का लोप होने पर पञ्चम्यन्त पद है, जिस प्रकार 'प्रासादात् प्रेक्षते' का अर्थ है 'प्रासाद पर चढ़कर (प्रासादमारुह्य) देखता है' इसी प्रकार यहां भी 'व्यवधानाद्' शब्द का अर्थ होगा कि 'अतिरिभ्याम्' शब्द 'नुम्' का व्यवधान प्राप्त करके भी सिद्ध हो जाता है। कैसे? इसका समाधान करते हुए दोनों टीकाकार 'विहितविशेषण' पक्ष का आश्रय लेते हैं। 'रायो हलि' (अष्टा. 7.2.85) सूत्र में 'रै' शब्द से जो विभक्ति विहित है, उसका ग्रहण होगा, उसी के परे रहते आत्व भी होगा, भले ही 'नुम्' का व्यवधान क्यों न हो।[19]इससे 'नुम्'

का व्यवधान होने पर भी 'अतिरिभ्याम्' यह इष्टसिद्धि सम्भव है। भाष्यकार ने 'पर' होने से आत्व की प्रवृत्ति स्वीकार की है। जिनेन्द्रबुद्धि एवं मिश्र ने विहितविशेषण तथा 'पर' दोनों पक्षों को मानकर आत्व की प्रवृत्ति स्वीकार की है।

1.7 'नुम्' एवं'नुट्' की प्रवृत्ति-निर्णय के लिये 'अचि' पद का प्रयोजनत्व एवं खण्डन

'अचि' पद के एक अन्य प्रयोजन को दर्शाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'त्रपूणाम्' 'जतूनाम्' शब्दों के साधु अन्वाख्यान के लिये 'अचि' पद का ग्रहण आवश्यक है। 'त्रपु-आम्' इस स्थिति में 'आम्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् की प्राप्ति है तथा अजादि विभक्ति परे रहते इगन्त त्रपु अङ्ग को 'नुम्' आगम की प्राप्ति है। 'नुट्' विधायक शास्त्र 'अग्नीनाम्' आदि में चरितार्थ है तथा 'नुम्' विधायक शास्त्र 'त्रपुणे' आदि स्थलों में चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन'[20] इस वचन से पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा 'नुट्' की प्रवृत्ति होती है तथा 'नामि' (अष्टा.6.4.3) सूत्र से दीर्घ होकर 'त्रपूणाम्' इष्ट शब्द सिद्ध होता है।

'नुम्' और 'नुट्' दोनों अनित्य हैं। यदि 'नुट्' प्रवृत्त होगा (त्रपुनाम्) तो अजादि विभक्ति परे न होने पर 'नुम्' की प्रवृत्ति नहीं होगी और यदि 'नुम्' होगा (त्रपुन्आम्) तो ह्रस्वान्त अङ्ग न मिलने से नुट् नहीं हो पाएगा। 'नुम्' और 'नुट्' दोनों अनित्य हैं और तुल्यवलविरोध वाले हैं। इसलिए 'अचि' पद के कारण 'नुम्चिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वचन से परविप्रतिषेध की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध अर्थात् पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति होकर 'नुट्' आगम होता है। 'त्रपुनाम्' 'नामि' (अष्टा.6.4.3) सूत्र से दीर्घ होकर 'त्रपूणाम्' इष्ट रूप सिद्ध होता है।[21]

1.8 'नुट्' प्रवृत्ति के प्रयोजनत्व का खण्डन

'अचि' पद के उपर्युक्त पूर्वविप्रतिषेध रूपी प्रयोजन के विषय में मीमांसा करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह भी प्रयोजन नहीं बन सकता। यदि सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण करते हैं तब भी 'त्रपूणाम्' शब्द में 'नुट्' की प्रवृत्ति के लिये अतिरिक्त प्रयास कर 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्' इस पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा 'नुम्' को बाधकर 'नुट्' कहना होगा तभी इष्टसिद्धि होगी।[22]

कैयट एवं मिश्र कहते हैं कि 'नुट्' की प्रवृत्ति के लिये 'अचि' पद का ग्रहण और 'पूर्वविप्रतिषेधवचन'[23] ये दो प्रकार के यत्न करने होते हैं, इसलिए 'अचि' पद के बिना ही पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा 'नुट्' के लिये प्रयास करना चाहिये। यदि यह कहा जाए कि 'नुट्' की प्रवृत्ति के पश्चात् 'त्रपु नाम्' यहां 'नुम्' प्रवृत्त न हो, इसके लिये 'अचि' पद की आवश्यकता है क्योंकि 'नुट्' के बाद 'नुम्' की प्रवृत्ति होने पर 'त्रपुन् नाम्' यहां अजन्त अङ्ग का विघात हो जाने से 'नामि' (अष्टा. 6.4.3) सूत्र से दीर्घ की प्राप्ति नहीं हो पाएगी।

'अचि' पद के इस प्रयोजन की भी स्वीकार्यता नहीं है क्योंकि 'त्रपुन नाम्' यहां पर 'नुम्' होने के बाद भी 'नाम्' परे रहते नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ[24] होकर तथा 'न्' लोप होकर इष्टसिद्धि हो जाएगी।

5.7.1.9 'शुचीनाम्' आदि शब्दों के अन्वाख्यान हेतु 'अचि' पद का प्रयोजनत्व एवं खण्डन

उपर्युक्त विवरण में यह ज्ञापित किया गया है कि यदि 'अचि' पद का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'नुट्' के साथ 'नुम्' भी प्रवृत्त होगा। 'नुम्' के प्रवृत्त होने से 'शुचि + नाम्' यहां पर 'नुट्' के पश्चात् यदि 'नुम्' भी प्रवृत्त होगा तो 'शुचिन् + नाम्' इस प्रकार शुचिन्' यह इन्नन्त होगा। 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (अष्टा.6.4.12) यह सूत्र नियम करता है कि 'इन्नन्त' अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो तो 'शि' परे रहते ही हो अन्यत्र नहीं। 'शुचिन् नाम्' यहां इन्नन्त हो जाने से 'शि' के अभाव में दीर्घ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। 'अचि' पद के ग्रहण से 'नाम्' परे रहते 'नुम्' प्राप्त नहीं होगा तथा 'शुचि नाम्' यहां 'नामि' (अष्टा.6.4.3) से दीर्घ होकर 'शुचीनाम्' इष्ट रूप सिद्ध होगा। परन्तु व्याकरणिक कसौटी पर यह प्रयोजन भी खरा नहीं उतरता क्योंकि लक्षणप्रतिपदोक्त[25] परिभाषा के कारण लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ग्रहण होता है। 'शुचिन्' यह पद नुम्' होने के बाद इन्नन्त होता है अतः लाक्षणिक हो गया जिससे यहां पर इन्नन्त के निय जो नियम सिद्ध है, वह लागू नहीं हो सकेगा।[26] इसलिए 'शुचिन् नाम्' यहां भी नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ तथा नलोप होकर 'शुचीनाम्' यह रूप सिद्ध हो जाएगा। 'अचि' पद 'शुचीनाम्' आदि के अन्वाख्यान में प्रयोजक नहीं बन सकता।

1.10 उत्तरसूत्रार्थ एवं 'हे त्रपो' के अन्वाख्यान हेतु 'अचि' पद के प्रयोजनत्व की स्थापना

पतञ्जलि का मन्तव्य है कि प्रयोजन वही होता है, जिसके बिना साध्य सिद्ध न हो सके।[27] उपर्युक्त विवरण में 'अचि' पद के जितने भी प्रयोजन दर्शाए गए हैं, उनमें से कोई भी प्रयोजन बनने योग्य नहीं है। सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अचि' पद के ग्रहण का अवश्य कोई प्रयोजन होगा, इसकी मीमांसा में दो प्रयोजनों का उल्लेख एक श्लोकवार्तिक में किया गया है। प्रथम् उत्तरवर्ती 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः' (अष्टा. 7.1.75) आदि सूत्रों में 'अचि' पद का अनुवर्तन हो सके, इसलिए 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण किया गया है।[28] इससे 'अस्थि' आदि को अजादि विभक्ति परे रहते ही अनङादेश होता है, जिससे 'अस्थि + टा + अस्थ्ना', 'अस्थि + ङे + अस्थ्ने' आदि साधु शब्द सिद्ध होते हैं। हलादि विभक्ति परे रहते 'अस्थिभ्याम्' इत्यादि में अनङादेश नहीं होता।

परन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि प्रकृत सूत्र में 'अचि' पद का प्रयोजन उत्तरसूत्रों के लिए है तो वहीं पर इसका उच्चारण होना चाहिए था, यहा इसका क्या प्रयोजन है।[29] प्रकृत सूत्र में 'अचि' पद का प्रयोजन यह है कि त्रपु, जतु, में जहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (अष्टा.7.1.23) सूत्र से 'सु' और 'अम्' विभक्ति का लोप है, वहां 'नुम्' न हो। परन्तु उक्त प्रयोजन में भी एक समस्या उत्पन्न होती है। यदि 'इको विभक्तौ' इतना ही सूत्र रखते तो 'विभक्तौ' ऐसा कहने से नुम्कार्य के प्रति विभक्ति निमित्त है। 'त्रपु' और 'जतु' में 'सु' विभक्ति का 'लुक्' हो चुका है तथा उसको निमित्त मानकर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (अष्टा.1.1.62) सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य भी नहीं हो सकता क्योंकि 'लुक्' संज्ञा के द्वारा लुप्त का प्रत्ययलक्षण-कार्य नहीं हो सकता।[30] 'त्रपु' में भी प्रत्ययलक्षण कार्य नहीं होगा तथा 'नुम्' का निवारण हो जाएगा। फिर 'अचि' पद की क्या आवश्यकता है।[31]

उपुर्यक्त विस्तृत विश्लेषण के उपरान्त भी प्रकृत सूत्र में 'अचि' पद का कोई सटीक उदाहरण दृष्टिगत नहीं होता।

अब भाष्यकार 'अचि' पद का वास्तविक प्रयोजन दर्शाते हुए कहते हैं कि 'अचि' पद के बिना भी सभी प्रयोगों की सिद्धि सम्भव हो रही है अतः सिद्ध होने पर भी आचार्य ने जो 'अचि' पद का ग्रहण किया है, वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करेगा कि प्रत्ययलक्षण का कोई दूसरा प्रकार भी होता है। इसे स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार 'त्रपु' के सम्बोधन एकवचन का रूप प्रस्तुत करते हैं। 'हे त्रपु सु' यहां सम्बुद्धि (सु) का लुक् होने पर सम्बुद्धि को निमित्त मानकर 'नुम्' न हो, इसलिए 'अचि' पद का ग्रहण किया है। सम्बुद्धि में 'न ङिसम्बुद्धयोः' (अष्टा. 8.2.8) से नलोप का भी निषेध है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'नुम्' होने पर 'न्' का लोप हो जाएगा।

यहां प्रश्न होता है कि सम्बुद्धि का लुक् होने में 'न लुमताङ्गस्य' (अष्टा. 1.1.63) सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो जाता है. अतः यहां पर 'नुम्' की प्राप्ति ही नहीं होती फिर 'अचि' पद की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर देते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि 'त्रपुभ्याम्', 'त्रपुभिः' 'हे त्रपु' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर आचार्य के पुनः 'अचि' पद के ग्रहण से 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र की अनित्यता का ज्ञान होता है। यदि 'न लुमताङ्गस्य' यह प्रत्ययलक्षण-निषेध नित्य होता तो सम्बुद्धि में उसका आश्रय लेकर 'नुम्' प्राप्त नहीं हो सकता था, पुनः उसके निवारण के लिए 'अचि' पद नहीं पढ़ते परन्तु आचार्य का उसके निषेध के लिये यत्न करना सिद्ध करता है कि आचार्य 'न लुमताङ्गस्य' निषेध को नित्य नहीं मानते। 'हे त्रपु' यहां प्रत्ययलक्षण-निषेध के अनित्य होने से अनित्य पक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (अष्टा. 7.3.108) सूत्र से गुण होकर 'हे त्रपो' यह रूप सिद्ध होता है।[32] नित्य पक्ष में गुण न होने से 'हे त्रपु' यह रूप सिद्ध होता है।

1.11 उपर्युक्त सन्दर्भ में हरदत्तमिश्र द्वारा कैयट का सङ्केत

उपर्युक्त सन्दर्भ में प्रदीपकार का कथन है कि 'हे त्रपु' ऐसा रूप प्राप्त होने पर प्रत्ययलक्षण निषेध के अनित्य होने से गुण होकर 'हे त्रपो' यह रूप सिद्ध होता हैं।[33] प्रदीपकार 'केचित्' पद से सङ्केत करते हुए कहते हैं कि कुछ आचार्य 'हे त्रपु' तथा 'हे त्रपो' ये दो रूप उचित मानते हैं।[34] भाष्यकार का भी यही मन्तव्य प्रतीत होता है।[35]

प्रदीपकार का कथन है कि प्रत्ययलक्षण-निषेध की अनित्यता कहीं-कहीं होती है- सब जगह नहीं। पदमञ्जरीकार अपना कोई स्पष्ट मत व्यक्त नहीं करते तथा प्रदीपकार के कथन की ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं कि भाष्य का व्याख्यान करने वाले लोग 'हे त्रपो' में गुण को वैकल्पिक नहीं, अपितु नित्य मानते हैं। मिश्र की यह पंक्ति कैयट को मिश्र से पूर्ववर्ती मानने वाले पक्ष को पुष्ट करती है।[36]

सन्दर्भ -

---

[1]इकोऽचि विभक्तौ। अष्टा. 7.1.73

[2]इक इति किम् ? कुण्डे पीठे। का.वृ. 7.1.73

[3]पूर्वत्र यदज्ग्रहणं तदिहैव कर्त्तव्यम्, 'नपुंसकस्य झलः' अचोऽचीति तेन हलन्तस्य न भविष्यति सन्ध्यक्षरान्तं तु नपुंसकं नास्त्येवेति प्रश्नः। अत एवादन्तं प्रत्युदाहरति न हलन्तम्। प.म. 7.1.73, 1. 482

[4]अस्तु लोपः। अस्त्वत्र नुम्, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपः भविष्यति। म.भा.7.1.71.,265

[5]यचि भम्। अष्टा. 1.4.18

[6]हलादौ नुमो लोपविधानात्तत्रनिवृत्त्यर्थ नोपयुज्यते इति प्रश्नः। म.भा.प्र. 7.1.71,66

[7]नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति। अष्टा 8.2.2

[8]इगन्ते उत्तरपदे द्विगौ पूर्वपदं प्रकृत्या भवतीत्येष स्वरो न प्राप्नोति, नलोपेऽपि कृते स्वरविधौ तस्यासिद्धत्वादनिगन्तत्वादनिगन्तत्वमेव। प.म. 7.1.73,483

[9]स्वरो न प्राप्नोतीति। नुमेगन्तताया विघातात्। म.भा.प्र. 7.1.73,66

[10]सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य। परि. 86

दो के जिस सम्बन्ध के कारण जो विधि उत्पन्न होगी, वह विधि उस सम्बन्ध के विधात का कारण नहीं बनेगी।

[11](क) संघातभक्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमिति कृत्वा ततः श्रूयमाणेऽपि नुमि स्वरो भवति। म.भा. 7.1.73,266

(ख) संघातभक्तोऽसौ नोत्सहते तदुत्तरपदस्येगन्ततां विहन्तुमिति। प.म. 7.1.73,483

[12]अङ्गस्य विधानाद् बहिरङ्गत्वाच्च नुमोऽन्तरङ्गः स्वरः पूर्वमेव प्रवर्तते। म.भा.प्र. 7.1.73,67

[13]असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। परि. 51

[14]इदं तर्हि अतिराभ्याम्, अतिराभिः। नुमि कृते रायो हलि (7.2.85) इत्यात्वं न प्राप्नोति। म.भा. 7.1.73, 266

[15]सुब्विधौ नलोपस्याऽसिद्धत्वाच्च। म.भा.प्र. वही. ,67

[16]इदमिह सम्प्रधार्यं-नुम्क्रियतामात्वमिति, किमत्र कर्तव्यम्। परत्वादात्वम्। म.भा. 7.1.73,266

[17]आत्वमनित्यं, नुमि कृते तेन व्यवधानादप्रसङ्गात्। अथवा शब्दान्तरप्राप्त्या नुमि कृते नकारस्य प्रसङ्गात् अकृते त्विकारस्य। नुम्प्यनित्यः कृते आत्वे प्राप्त्यभावात्। म.भा.प्र. 7.1.73, 67

[18](क) इकोऽचि व्यञ्जने मा भूदस्तु लोपः स्वरः कथम्। स्वरो वै श्रूयमाणेऽपि लुप्ते किं न भविष्यति ।।
रायात्वं तिसृभावश्च व्यवधानान्नुमा अपि।नुङ्वाच्य उत्तरार्थं तु इह किञ्चित् त्रपो इति।। म.भा. 7.1.73, 267

(ख) का.वृ. 7.1.73, 734

[19](क) व्यवधानादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षत इति। प्रासादमारुह्य इत्यर्थः। तदयमर्थः नुमा व्यवधानमपि प्राप्य राय आत्वं तिसृभावश्च भवतीति। कस्मात् पुनर्व्यवधाने तौ भवतः? 'रायो हलि' इत्यत्र रायो या विहिता विभक्तिः। न्यास 7.3.72,518

(ख) व्यवधानादिति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, नुम् व्यवधानं प्राप्यापि भवत इत्यर्थः। विभक्तिविधानदशायां यदानन्तर्यं तत्तत्राश्रीयते न त्वादेशविधानदशायामिति भावः। प.म. वही. ,483

[20]म.भा.7.1.96. ,276

[21]स च विप्रतिषेधोऽज्ग्रहणे कृताकृतप्रसङ्गित्वानित्यं स्यात्। प.म.7.1.73. p. 483

[22]क्रियमाणेऽपि अज्ग्रहणेऽवश्यमत्र नुडर्थो यत्नः कत्र्तव्यः। पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः। म.भा.7.1.73,200

[23](क) अज्ग्रहणं च कत्र्तव्यं, पूर्वविप्रतिषेधेश्च वक्तव्य इति यत्नद्वयमाश्रयणीयं, तत्राज्ग्रहणम्कृत्वैव एक एव नुडर्थे यत्नः कर्तव्य इत्यर्थः। म.भा.प्र. 7.1.73,68

(ख) ततश्चाज्ग्रहणं कर्तव्यम्, पूर्वविप्रतिषेधश्च वक्तव्यः इति यत्नद्वयमाश्रयणीयम् तत्राज्ग्रहणम्कृत्वा एक एव नुडर्थो यत्नः कर्तव्य इत्यर्थः। प.म. 7.1.73. 483

[24]नोपधायाः। अष्टा 6.4.7

[25]लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्। लक्षण अर्थात् सूत्र से उपपन्न प्रतिपदोक्त अर्थात् सूत्र में जिस रूप में कहा गया है. इन दोनों के प्राप्त होने पर प्रतिपदोक्त का ग्रहण होता है, लाक्षणिक का नहीं। परि. 114

[26](क) एवं तर्हि लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति। म.भा. 7.1.73p200

(ख) प्रतिपदोक्तस्येनस्तत्रग्रहणम्, लाक्षणिकश्चायम्। प.म 7.1.71p. 484

[27]प्रयोजनं नाम् तद्वेदितव्यं यन्नियोगतः स्यात्। म.भा. 7.1.58. p. 261

[28]उत्तरार्थ च। उत्तरार्थ तह्यज्ग्रहणं कत्र्तव्यम्, अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः अजादौ यथा स्यात्। म.भा.7.1.73. p. 266

[29]यद्युत्तरार्थं स्यातत्रैवायमज्ग्रहणं कुर्वीत। इह हि क्रियमाणे यदि किञ्चित् प्रयोजनमस्ति तदुच्यताम्। म.भा.7.1.7.3. p. 267

[30]न लुमताङ्गस्य। अष्टा. 1.1.63

[31]अजादौ यथा स्यादिह मा भूत् त्रपु जतु। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्, विभक्ताविति्युच्यते। न चात्र विभक्तिं पश्याम्:। प्रत्ययलक्षणेन न लुमताङ्गस्य (1.1.63) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। म.भा. 7.1.73. p. 267

[32]एवं तर्हि सिद्धे सति यदज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवतीह कश्चिदन्योऽपि प्रकारः प्रत्ययलक्षणं नामेति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? हे त्रपु । हे त्रपो। अत्र गुणः सिद्धो भवति। म.भा. 7.1.73. ,267

[33]'हे त्रपु' इति प्राप्ते 'हे त्रपो' भवतीत्यर्थः। म.भा.प्र. 7.1.73. p.69

[34]केचितु रूपद्वयमिष्यते इत्याहुः। म.भा.प्र. 7.1.73. p. 69

[35]इहोभयं प्राप्नोति। हे त्रपु। हे जतु। म.भा. 6.1.69. p. 49

ज्योतिषशास्त्रोक्तत्रिप्रश्न में 'देश' की अवधारणा का सैद्धान्तिक विमर्श

• डॉ. अनिल कुमार पोरवाल*

शोधसार - षडवेदा में नेत्रस्थानीय ज्योतिषशास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया गया है जिसके सिद्धान्त स्कन्ध में त्रिप्रश्न के अन्तर्गत दिक्-देश-काल का वर्णन मिलता है। जिसमें देश शब्द का क्या अभिप्राय है अर्थात् देश से किसका बोध होता है? आधुनिक विज्ञान और भूगोल के अन्तर्गत देश का क्या स्वरुप है? क्या ज्योतिषशास्त्र और आधुनिक भूगोल में उक्त देश सम्बन्धी विषय एक ही है या उनमें कोई अन्तर? क्या अक्षांश शब्द का सन्दर्भ आधुनिक भूगोल में प्राप्त होता है या उससे पहले ही इसके सन्दर्भ ज्योतिषशास्त्र में प्राप्त होते हैं? ज्योतिषशास्त्र में अक्षांश को किस रूप में परिभाषित किया गया है और कहाँ-कहाँ इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं? अक्षांश का पलभा से क्या सम्बन्ध होता है? बिना आधुनिक यन्त्रों के किसी स्थान का अक्षांश यदि जानना हो तो किन विधियों द्वारा जाना जा सकता है? इन्हीं महत्त्वपूर्ण ज्योतिषीय तथ्यों का सैद्धान्तिक विमर्श ही इस शोधपत्र का केन्द्र है।

बीजशब्द- त्रिप्रश्न, देश, अक्षांश, खमध्य, क्षितिज, निरक्ष, पलांश, नतांश, उन्नतांश, उन्मण्डलवृत्त।

सामान्य व्यवहार में 'देश' शब्द से तात्पर्य स्थान, गाँव, क्षेत्र तथा प्रदेश (Area of land) से है। भौगालिक दृष्टिकोण में देश शब्द से अभिप्राय भू-तल पर ऐसे इकाई क्षेत्र से है जिसकी अपनी एक वैश्विक स्थिति और भौगालिक अवस्थिति (अक्षांश तथा देशान्तर) हो अर्थात् किसी भौतिक स्थान का उर्ध्वाधर और क्षैतिजीय विस्तार ही पृथ्वी पर उस स्थान की वास्तविक स्थिति को इंगित करता है, जो देश कहलाता है।

त्रिस्कन्धीय[1] ज्योतिषशास्त्र में त्रिप्रश्न (दिक्-देश-काल) को शास्त्र का मुख्य आधारभूत विषय माना गया है क्योंकि ज्योर्तिविज्ञान के समस्त प्रश्नों का रहस्योघाटन इन्हीं त्रिप्रश्न अर्थात् दिक्-देश और काल के द्वारा ही सम्यक् रूप से किया जा सकता है। जैसाकि भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में उद्धृत किया है-

*ज्योर्तिविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

जगुर्विदोऽदः किलकालतन्त्रं दिग्देशकालावगमोऽत्रयस्मिन्।
त्रिप्रश्ननाम्नि प्रचुरोक्तिधाम्नि ब्रुवेऽधिकारं तमशेषकारम्।।[2]

वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र ने दिक्-देश और काल तीनों की पृथक-पृथक सत्ता स्वीकार की है लेकिन इनमें दिक्-देश के मध्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा एक के ज्ञान में दूसरा सहायक होता है परन्तु काल इनसे भिन्न है। कतिपय शास्त्रों में केवल देश और काल दो ही को स्वीकार किया गया है, परन्तु ज्योतिषशास्त्र के अनुसार देश के साथ दिक् का सम्बन्ध होते हुए भी देश और दिक् में भेद माना है तथा दोनों के साधन का मार्ग अलग-अलग बतलाया है। बिना दिक् ज्ञान के देश ज्ञान सम्भव नहीं और बिना देश के दिक् का कोई उपयोग नहीं।[3] जैसा कि ज्ञात है कि ज्योतिषशास्त्र में दश दिशायें कही गयी है- चार मुख्य दिशाएँ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण), चार कोण दिशाएँ (आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान) तथा दो खमध्य (उर्ध्वखमध्य तथा अधः खमध्य)। जिनमें से चार मुख्य दिशाएँ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) तथा चार कोण दिशाएँ (आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान) हमारे क्षितिजवृत्त[4] (Horizon) पर ही स्थित रहती हैं और क्षितिजवृत्त (Horizon) की स्थिति ऊर्ध्व खमध्य (Zenith) तथा अधः खमध्य (Nadir) से 90° पर होती है।[5]चूकिंखमध्य[6] को परिभाषित करते हुए कहा गया है, कि पृथ्वी के पृष्ठ पर जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है उसके सिर के ठीक ऊपर आकाश में जो स्थान होगा उसे उसका ऊर्ध्व खमध्य (Zenith) कहा जाता है तथा ऊर्ध्व खमध्य (Zenith) से 180° पर अधः खमध्य (Nadir) की स्थिति होती है। स्थान (देश) विशेष होने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध अक्षांश से होता है।जैसा कि अक्षांश के परिचय के विषय में भास्कराचार्य द्वितीय ने सिद्धान्त शिरोमणि में कहा है-

पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यात्तदक्षविश्लेषलवैस्तदा.....।[7]

अर्थात्पृथ्वी पर निरक्षदेश[8] से स्वदेश स्थान (नगर अथवा स्थान) जितना उत्तर या दक्षिण होता है उसे अक्ष के अंश, अक्षांश अथवा देश कहते हैं। ज्योतिषीय दृष्टिकोण में, पृथ्वी पर देश को जानने के लिए आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्तप्रभृति भारतीय खगोलज्ञ पृथ्वी पर किसी स्थान विशेष की स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए अक्षांश (याम्योत्तरान्तर) का प्रयोग किया जाता रहाहै।[9] भू-पृष्ठ पर किसी स्थान के सन्दर्भ में सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, ऋतुपरिवर्तन आदि का समय जानने देश (अक्षांश) का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

अतएव अक्षांश, भूमध्यरेखा (Equator) से किसी भी स्थान की उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की ओर की कोणीय दूरी का नाम है।[10] भूमध्यरेखा को 0° की अक्षांश रेखा माना गया है, जिसे ज्योतिषीय सन्दर्भ में निरक्षदेश[11] कहा जाता है क्योंकि यहाँ पर अक्षांश शून्य होता है। भूमध्यरेखा से समानान्तर ध्रुव तक दोनों गोलार्धों में अनेक वृत्तों का निर्माण होता है। यही अक्षांश रेखाएँ कहलाती हैं। भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर सभी दूरियाँ उत्तरी अक्षांश तथा दक्षिण ध्रुव की ओर सभी दूरियाँ दक्षिणी अक्षांश में मापी जाती है। ध्रुवों की ओर बढ़ने पर भूमध्यरेखा से अक्षांश की दूरी बढ़ने लगती है। इसके अतिरिक्त सभी अक्षांश रेखाएं परस्पर समानान्तर और पूर्णवृत्त के रूप में होती

है। ध्रुवों की ओर जाने पर वृत्त छोटे होने लगतें हैं, और 90° का अक्षांश ध्रुव पर एक बिन्दु के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आधुनिक भूगोलवेत्ता इसे अन्य प्रकार से कहते हैं कि भूपृष्ठ पर विषुवत रेखा के उत्तर या दक्षिण में एक याम्योत्तर (Meridian) पर किसी बिन्दु की पृथ्वी के केन्द्र से मापी गयी कोणीय दूरी अक्षांश कहलाती है।[12] जैसा कि स्पष्ट है-

अक्ष = धुरी, अक्ष +अंश = धुरी का कोणात्मक अंश।

अर्थात् किसी स्थान विशेष पर पृथ्वी की धुरी का कोणात्मक झुकाव कितने अंश होता है।[13]

खगोल परिभाषा में अक्षांश को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

स्वखमध्यान्निरक्षस्य अन्तरं दक्षिणोत्तरम्।
याम्योत्तरमण्डले चाऽत्र अक्षांशः प्रतिपद्यते।।[14]

याम्योत्तरवृत्त[15] में खमध्य स्थान से निरक्षखमध्य का उत्तर-दक्षिण के अन्तरांश मान को अक्षांश कहा जाता है। अक्षांश को सुस्पष्टकरते हुए भास्कराचार्य ने भुवनकोश के अन्तर्गत कहा है-

"निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौध्रुवो नरः पश्यतिदक्षिणोत्तरै।
तदाश्रितं खे जलयन्त्रवत् तथा भ्रमद्भचक्रं निजमस्तकोपरि।।
उदग्दिशं याति यथा यथानरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम्।
उदग्ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेस्तदन्तरे योजनजाः पलांशकाः।।[16]

निरक्षदेशीय मानव, भ्रमणशील नक्षत्रचक्र को अपने मस्तक के ऊपर पश्चिमाऽभिमुखजलयन्त्र के समान भ्रमण करता हुआ देखता है। आर्यभट्ट(द्वि0) ने महासिद्धान्त[17], ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त[18], लल्लाचार्य ने शिष्यधीवृद्धिद्[19] तथा सूर्य सिद्धान्त[20] इत्यादि ग्रन्थों में आचार्योक्त तथ्यों की पुष्टि की गयी है।

निरक्षदेश से उत्तर दिशा की ओर जैसे-जैसे जाते हैं, वैसे-वैसे ही अक्ष मण्डल में नक्षत्र-चक्र नत होता हुआ दिखाई देता है और उत्तर ध्रुव उन्नत दिखाई देता है। निरक्ष देश से अपने स्थान (स्वस्थान) की स्थिति जितने लम्बवत अंतर पर होती हैं उतने योजन पलांश(अक्षांश) होते हैं। अर्थात् खमध्य से निरक्षखमध्य के याम्योत्तर वृत्तीय चाप में नतांश तुल्य अक्षांश होता है।

सूर्य सिद्धान्त में नतांश-उन्नतांश[21] के सैद्धान्तिक पक्ष का वर्णन किया गया है-

"ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः।
निरक्षाभिमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते।।[22]

ध्रुव स्थान से 90° पर नाड़ीवृत्त है अतः ध्रुव प्रदेश में स्थित होने पर ध्रुव तारा खमध्य में तथा नक्षत्र-चक्र क्षितिज पर होगा। ध्रुवाभिमुख गमन करने से क्रमशः ध्रुव की स्थिति से उन्नति बढ़ती जाती है तथा नक्षत्र चक्र खमध्य से नीचे की ओर क्रमशः जाता है अर्थात् नक्षत्र चक्र नत हो जाता है। इसी प्रकार निरक्ष देश (भूमध्य वृत्त) की ओर बढ़ने से क्रमशः नक्षत्र चक्र की उन्नति बढ़ती जाती है तथा ध्रुवतारा की उन्नति घटती जाती है अर्थात् नतांश बढ़ता जाता है।[23]

इसलिए निरक्षदेश (अक्षांश रहित स्थान) में रहने वाले प्राणी उत्तर और दक्षिण ध्रुव को अपने क्षितिज में देखते हैं।[24] क्योंकि निरक्षदेशीयभूपृष्ठखमध्य से 90° की दूरी पर जो वृत्त बनेगा, वह निरक्षदेशीय क्षितिज वृत्त होगा अथवा उसे उन्मण्डलवृत्त (Six O' Circle) भी कहा जा सकता है, यथा- **'तद्योगचिह्नान्नवतिप्रमांशैर्वृत्तं कृतं स्वक्षितिजं च तत्स्यात्।'[25]**

गोल परिभाषा में अक्षांश की गोल में अवस्थिति तथा उनकी परिभाषाएँ भी कही गयी हैं[26]-

(1) स्वखस्वस्तिक (स्वखमध्य) निरक्षखस्वस्तिकयोः (निरक्षखमध्य) मध्येऽक्षांशाः।

(2) याम्योत्तरवृत्ते उन्मण्डल क्षितिज वृत्तयोर्मध्येऽक्षांशाः।

(3) स्वसमस्थानध्रुवस्थानयोर्मध्येऽक्षांशाः।

(4) याम्योत्तरवृत्ते पूर्वापरवृत्तनाड़ीवृत्तयोर्मध्येऽक्षांशाः।

(5) याम्योत्तरवृत्ते समवृत्तनाड़ीवृत्तयोर्मध्येऽक्षांशाः।

जिसको गोल परिभाषा में सूत्रबद्ध करते हुए कहा गया है-

समाख्यनाडीवलयान्तराले यथाक्षसंज्ञाश्चतथैववेद्याः।
उन्मण्डलक्षमावलयान्तरे स्यादेवं द्वयोस्तद्बहुधाऽत्र गोले।।[27]

आधुनिक भूगोलवेत्ताओं के अनुसार[28] पृथ्वी के चतुर्दिक अक्षांश रेखाएँ वृत्तों के रूप में खींची जाती हैं जिनकी लम्बाई भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर उत्तरोत्तर कम होती जाती है। भूमध्य रेखा बृहत्तम वृत्त होता है जबकि दोनों ध्रुव केवल बिन्दुमात्र रह जाते हैं। चूकिंपृथ्वी की सम्पूर्ण परिधि की लम्बाई 360° है तथा भूमध्य रेखा से उत्तर तथा दक्षिण धुरव की दूरी परिधि की एक चैथाई होती है अतएव 1° के अन्तर पर भूमध्य रेखा के उत्तर या दक्षिण 90° अक्षांश रेखाएँ खीची जा सकती हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों का अक्षांशीय मान 90°-90° होता है।

पृथ्वी पर अक्षांश रेखाओं का तापमान तथा जलवायु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि स्थानीय उच्चावच के प्रभावों को नजर अंदाज करने पर एक अक्षांश के सहारे स्थित स्थानों को समान सौर ऊर्जा की प्राप्ति होती है। अक्षांशों के आधार पर हम भूमण्डल को विभिन्न तापीय/जलवायु कटिबन्धों में विभाजित करते हैं। पृथ्वी के अक्ष का झुकाव तथा सूर्य के बदलते दिक्पात के कारण ग्लोब पर कर्क (23°N), मकर (23°S), उत्तरी ध्रुव वृत्त (66°N) तथा दक्षिणी ध्रुव वृत्त (66°S) आदि अक्षांशों का विशेष महत्त्व है। जहाँ अयन रेखाएँ ऐसी सुदूर ध्रुवीय सीमाएँ हैं जिन पर वर्ष में एक बार सूर्य की किरणें लम्बवत् चमकती हैं वही आर्कटिक तथा अण्टार्कटिक वृत्तों सें परे ध्रुवीय क्षेत्र 6 माह के अन्तराल पर रात और दिन का अनुभव करते हैं।

वर्तमान समय में, हम सुदूर संवेदन (Remote-Sensing) के सहयोग से ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम (GPS) जैसे आधुनिक यन्त्रों द्वारा पृथ्वी के त्रिआयामों (Three-Dimension) अर्थात् अक्षांश-देखान्तर-उन्नतांश (ऊंचाई) का ज्ञान आसानी से किया जा सकता है। किन्तु ज्योतिषशास्त्र में बिना किसी आधुनिक यन्त्रों के उपयोग के, केवल भारतीय वेधशाला के

शंकु यन्त्रादिअथवा गणित के साधारण सूत्रों के माध्यम से ही इनका ज्ञान पृथ्वी के किसी भी स्थान पर किया जा सकता है।

भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में ही अक्षांश ज्ञान के लिए यन्त्र वेध विधि बताते हुए कहा है कि-

यन्त्रवेधविधिना ध्रुवोन्नतिर्या नतिश्चभवतोऽक्षलम्बकौ।
तौ क्रमाद्विषुवदह्न्यहर्दले येऽथवानतमुन्नतालवाः।।[29]

यन्त्र वेध (चक्रयन्त्र) के द्वारा ध्रुव का वेध करने से प्राप्त उन्नतांश उस स्थान का अक्षांश तथा नतांशलम्बांश होता है अथवा विषुवद्दिनार्द्ध पर यन्त्रवेध से सूर्य का वेध करने से सूर्य का नतांश वहाँ का अक्षांश तथा उन्नतांशलम्बांश होता है। लल्लाचार्य[30] और वटेश्वराचार्य[31] ने गोलबन्ध के अन्तर्गत आचार्य की बातें स्वीकार की हैं और कहा है कि अक्षांश की सूक्ष्मता हेतु उक्त कथन तभी सत्य होंगे जब सूर्य मेष संक्रमण काल या तुला संक्रमण काल अर्थात् विषुव दिन में होगा।

त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध के अन्तर्गत अक्षांश ज्ञात करने हेतु प्रकारान्तर से निम्न विधियाँ कही गयी है-

1. **स्वक्षितिज से सूर्य की स्थिति -द्वारा अक्षांश आनयन (ऊँचाई)** विषुव दिवस -जब दिन) पर अथवा (रात बराबर रहता है21 मार्च या 23 सितम्बर को किसी स्थान विशेष पर मध्याह्नकालीन सूर्य की जो ऊँचाई है वह ऊँचाई (दोपहर के)90° में से घटा दे, तो घटाने से जो भी शेष रहे, वह उस स्थान का अक्षांश प्राप्त होगा। जैसेइलाहाबाद में - विषुवदिवस में सूर्य की जो ऊँचाई हो, अर्थात् 21 मार्च या 23 सितम्बर को मध्याह्न समय में सूर्य की ऊँचाई 64°30' है तो 90°00'-64°30'=25°30' अक्षांश हुआ। इसी प्रकार लखनऊ में विषुव दिनों में सूर्य की ऊँचाई 53°30' अक्षांश है तो 90°-53°30'=26°30' वहाँ का अक्षांश हुआ।
2. **स्वक्षितिज से ध्रुव तारे की स्थिति (ऊँचाई) द्वारा अक्षांश आनयन-** एक पतली सुतली लेकर या धागा लेकर उसका एक छोर सम धरातल (भूमि) में लगाकर रखें और दूसरा छोर ध्रुवतारा की सीध मिलाकर किसी ऊँचे स्थान पर बाँध दे कि सुतली का छोर ठीक ध्रुव तारा की सीध में रहे, तो उस सुतली से जमीन के धरातल पर एक कोण बनेगा। उस कोण को नाप लें, उस अंशादि पर उस कोण की नाप ही वहाँ का अक्षांश होगा। यहाँ पर 23°30' का कोण बना है इससे अक्षांश 23°30' हुआ। इसका सारांश यह है कि उस स्थान पर ध्रुव तारा की जो ऊँचाई है उसी ऊँचाई का कोणात्मक अंश वहाँ का अक्षांश होता है। उत्तरी गोलार्द्ध के किसी भी स्थान का अक्षांश ध्रुव तारा की ऊँचाई से ज्ञात हो सकता है। जैसे लाहौर में ध्रुवतारा की ऊँचाई 31°30' है तो वहाँ अक्षांश भी 31°30' होगा।

3. **तुरीययन्त्र वेध से अक्षांश ज्ञान**- कमलाकरभट्ट ने भी तुरीय यन्त्र के वेध द्वारा ध्रुव के वेध से अक्षांश ज्ञात करने की विधि बतलाई है। यथा-

यदासदोदितर्क्षं च परमं सन्नतोन्नतम्।
त्रिधाविद्धोन्नतांशैक्यदलंयत्ते पलाशंका।। एवं
मध्यनतांशानां क्रान्त्यक्षाभ्यां भवन्ति हि।
व्यस्त संस्कारतोऽक्षांशाः क्रान्त्यांशाश्चक्रमाद्ध्रुवम्।।[32]

4. **पलभा के द्वारा अक्षांश साधन-** अभीष्ट समय (सायन सूर्य मेषादि-तुलादि के स्थानीय मध्याह्न काल) में प्राप्त शङ्कु की छाया (पलभा) से भी अक्षांश साधन ज्योतिषग्रन्थों में वर्णित है पलभा के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूर्य सिद्धान्त का मत है-

एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्धजा।
दक्षिणोत्तररेखायां सा तत्र विषुवत्प्रभा।।[33]

सिद्धान्त शिरोमणि में भी कहा गया है-

क्रियतुलाधरसंक्रमपूर्वतोऽयनलवोत्भदिनैर्विषुवद्दिनम्।
मकरकर्कटसंक्रमतोऽयनंद्युदलभाविषुवद्दिवसेक्षभा।।[34]

अर्थात् अपने-अपने देश (स्थान) के मध्याह्न कालिक दक्षिणोत्तर रेखा में पड़ने वाली विषुवच्छाया (12 प्रमाण शङ्कु की छाया) उस स्थान की पलभा होती है। पलभा शब्द का आशय ही स्थान विशेष पर अभीष्ट समय की छाया से है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि पलभा का अर्थ छाया ही है तो विषुव दिनों में ही क्यों? किसी भी दिन क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि विषुव दिनों में सूर्य की स्थिति विषुवत् रेखा के ठीक ऊपर होने के कारण-

क) सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सीधी गिरती हैं।

ख) उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव सूर्य से समान दूरी पर रहते हैं।

ग) इस दिन पृथ्वी की अक्ष रेखा सूर्य के किरणों के लम्बवत् पड़ती हैं।

जिससे सभी अक्षवृत्तों पर सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं। अतः इन दिनों में पड़ने वाली छाया अक्षांश के अनुरूप होती है।

किसी स्थान विशेष पर पलभा का मापन करने हेतुसमतल भूमि में (जल द्वारा शुद्ध कर वज्रलेप से बराबर करने पर) में द्वादश (12) अङ्गुल या 12 प्रमाण की अन्य इकाई का शङ्कु पृथ्वी पर लम्बवत् स्थिर करते हैं। विषुव दिनों (सायनमेषादि अथवा सायनतुलादि) को स्थानीय मध्याह्नकाल के समय जब सूर्य याम्योत्तर लंघन कर रहा होता है तो द्वादश प्रमाण शङ्कु की छाया शङ्कु के माप की इकाई में नाप लेते हैं। यही पलभा कहलाती है।[35]

पृथ्वी के जिन स्थानों का अक्षांश शून्य होता है जिसे निरक्ष देश (अक्षांश रहित) भी कहते हैं और वहाँ स्थित सूर्य की किरणें उन्मण्डलवृत्त (निरक्ष स्थान का क्षितिज) पर विषुव दिनों में पूर्णतया सीधी पड़ती है अतः वहाँ शंकु की कोई छाया नहीं बनती इसलिए निरक्ष देश पर पलभा शून्य होती

है। परन्तु साक्ष (अक्षांश सहित) देशों में ही पलभा की प्राप्ति होती है जैसे-जैसे हम विषुवत रेखा से उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे अक्षांश के मान बढ़ते जाते है और उसी अनुपात में पलभा के मान में भी वृद्धि होती जाती है।

इसी पलभा (अक्षभा/विषुवत्प्रभा) के माध्यम से सूर्यसिद्धान्त[36] में त्रिकोणमिति तथा ग्रहलाघव[37] में सामान्य अंक गणित के माध्यम से अक्षांश ज्ञात करने की विधियां सुस्पष्ट हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से देश शब्द को प्रदर्शित करने वाले पलभा और अक्षांश अन्योन्याश्रित होते हैं। अतः अक्षांश-पलभा का ज्ञान परस्पर सापेक्ष है। आनुपातिक गणित के माध्यम से किसी भी स्थान विशेष पर पलभा द्वारा अक्षांश तथा अक्षांश द्वारा पलभा का ज्ञान अत्यन्त सहजता से किया जा सकता है। इस प्रकार कालविधानक[38] भारतीय ज्योतिष में प्राचीनकाल से ही देश की गणना के सन्दर्भ में अक्षांश की गणना की जाती रही है, और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आधुनिक शास्त्र तथा विज्ञान उन्हीं गणितीय सूत्रों का अनुगमन करते प्रतीत होते हैं।

सन्दर्भ -

---

[1]सिद्धान्तः संहिता होरा रूपं स्कन्धत्रयात्मकम्। (नारद सहिंता, 1/4)

[2]सिद्धान्त शिरोमणि-गणिताध्याय, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 1

[3]सूर्य सिद्धान्त, व्याख्या डा. रामचन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ-106

[4]गोल परिभाषा, श्लोक-23

[5]याम्योत्तरं प्रागपरं च कोणाभिधं च तद्वृत्त चतुष्कयोगौ।
तयोश्च योऽत्यूर्ध्वगत संतदूर्ध्व खस्वस्तिकं चान्यदधः स्थितं च।। (गोल परिभाषा, श्लोक 22)

[6]यः कोऽपिजनः यत्र स्थितःतस्य शिरस्युपरि आकाशे स्थित भागः तस्य खमध्यः।(गोल परिभाषा, प. गणपति लाल शर्मा, पृष्ठ 55)

[7] सिद्धान्त शिरोमणि-गोलाध्याय,भुवनकोश, श्लोक 14

[8]याम्योत्तरं स्वदेशस्यं निरक्षाभिधमण्डले, वृत्तं यत्र विलग्नं स्यान्निरक्षं स्वस्थ तत्स्थलम्। (गोल परिभाषा, श्लोक 15)

[9] भौगोलिक विचारधाराएं एवं विधितंत्र, पृष्ठ-108

[10]अभिनव प्रायोगिक भूगोल, पृष्ठ-19

[11]याम्योत्तरं स्वदेशस्यं निरक्षाभिधमण्डले। वृत्तं यत्र विलग्नं स्यान्निरक्षं स्वस्य तत्स्थलम्।।(गोल परिभाषा, श्लोक 15)

[12]भूगोल एक समग्र अध्ययन-पृष्ठ-19

[13]सचित्र ज्योतिष शिक्षा, प्रारम्भिक ज्ञान खण्ड, पृष्ठ 38-39

[14]खगोल परिभाषा, गणपति लाल शर्मा, श्लोक-48

[15]स्वदेशगं यद् ध्रुवयोः विलग्नं तत् स्वीय याम्योत्तरं वृत्त संज्ञम्।(गोल परिभाषा, श्लोक 30)

[16]सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लोक-48-49

[17]क्षितिलग्ने ध्रुवतारे पश्यति पुरुषो निरक्षदेशस्थः। (महासिद्धान्त-16/30)

[18] अन्यत्र सर्वत्रो दिशमुन्नमति भपञ्जरो ध्रुवो नमति।
लंकायामुडुचक्रंपूर्वापरगंध्रुवौक्षितिजे।।(ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, गोलाध्याय, श्लोक 5)

[19]निरक्षदेशोपरिगौ ध्रुववुभौस्वदक्षिणोदक् क्षितिजप्रसक्तौ।

सदात्र पश्यन्ति तदुत्तरं सुराः स्वमूर्ध्वमगं दक्षिणमिन्द्रशत्रवः।। (शिष्यधीवृद्धिद्-18/4-7)

[20]निरक्षदेशसंस्थानामुभयेक्षितिजाश्रये।।
अतो नाक्षोच्छ्रयस्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयोः।
नवतिर्लम्बकान्शास्तु मेरावक्षांशकास्तथा।। (सूर्य सिद्धान्त-12/43-44)

[21]खमध्यात् ग्रहपर्यन्तं दृग्वृते यावन्मितांशाः तावन्तः नतांशाः।(गोल परिभाषा, प. गणपति लाल शर्मा, पृष्ठ 55)

[22]सूर्य सिद्धान्त-12.72

[23]अक्षांशका ध्रुवोन्नतिभाग भूमेर्निरीक्षकस्थाने। (महासिद्धान्त-16/30)

[24]याम्योत्तरस्थौ क्षितिजाश्रितौ ध्रुवो सदैव पश्यन्ति निरक्षदेशजाः। (सिद्धान्त शेखर, 15/54)

[25]गोल परिभाषा, श्लोक-23

[26]गोल पभिाषा, पं. गणपति लाल शर्मा, पृष्ठ 57

[27]गोल पभिाषा, श्लोक-35

[28]अभिनव प्रयोगिक भूगोल, पृष्ठ 20-21

[29] सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना, श्लोक-33

[30] विषुवद्दिवसे द्युदले पलो नतांशाः समुन्नता लम्बः।
उन्नतनतभागज्ये तदावलम्बाक्षजीवे स्तः।। (शिष्यधीवृद्धिद् गोलाध्याय, श्लोक-24)

[31] विषुवद्दिवसे द्युमध्यजे नरदृग्ज्ये अवलम्बकाक्षजे।
अवनौ विवरं नराग्रकं नृतलास्तोदयसूत्रयोर्भवेत्।। (वटेश्वरसिद्धान्त, गोलाध्याय, श्लोक-18)

[32]सिद्धान्ततत्त्वविवेक, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 434-435

[33] सूर्य सिद्धान्त, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 12-13

[34] सिद्धान्त शिरोमणि, गणिताध्याय, स्पष्टाधिकार, श्लोक46

[35] शिलातलेऽम्बु संशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे।तत्र शङ्कुङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत।। (सूर्य सिद्धान्त, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 1)

[36]शङ्कुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते। लम्बाक्षज्ये तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा।। सूर्य सिद्धान्त, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 13-14

[37]अथऽक्षच्छायेषुघन्यक्षभायाः कृतिदशमलवोना यमाशाः पलांशाः।। (ग्रहलाघव, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 6)

[38]वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।। (याजुष ज्योतिष, श्लोक 3)

आयुर्वेदीय आर्षग्रन्थों में जलचिकित्सा विज्ञान

• डॉ. रोशन सिंह*

शोधसार - पञ्चमहाभूतान्तर्गत जल इस जगत् में विचरित समग्र जीवसृष्टि का आधार है, समस्त ओषधियाँ, वनस्पतियाँ तथा मानव सहित समस्त प्राणियों का जीवन जल के ही आश्रित है, जीवन देने के कारण जल को जीवन भी कहा जाता है **'जीवयति इति जीवनम्'**। आयुर्वेद में जल का महत्त्व, लाभ, हानि, गुण, दोष, जल शुद्धि के उपाय, उष्णजल के लाभ, शीतजल के लाभ, अशुद्धजल के दुष्परिणाम, जलग्रहण का समय तथा जलीयचिकित्सा सम्बन्धी विषयों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। शोधार्थी द्वारा आर्षग्रन्थीय तथ्यों सहित इन समस्त विषयों का संक्षेपतः मौलिक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

बीजशब्द - पञ्चमहाभूतान्तर्गत, दुष्परिणाम, जलीयचिकित्सा, आर्ष, वैद्यक, आयुर्वेदीय, पथ्यापथ्य, शुद्धीकरण, आरोग्यता, जठराग्नि, वातविकार, कफविकार, वमन, पित्तविकार, अन्तर्बाह्य, रोगहरण, झागयुक्त, प्रदेशजन्य, मन्दाग्नि, ,रक्तविकार, विषविकार।

सम्पूर्ण जगत् में मानव जीवन व उसकी आयु से सम्बन्धित एक मात्र परम्परा आयुर्वेदीय चिकित्सा ही है। हमारे ऋषियों ने प्रकृति के अनुकूल मानव संरक्षण व आरोग्यता हेतु आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'आयु' और 'वेद' दो शब्दों से मिलकर हुई है। आयुर्वेद के अर्थ को हम विविध परिभाषाओं से समझ सकते हैं- **'आयुरस्मिन् विद्यते इत्यायुर्वेदः'**[1] अर्थात् इसमें प्रतिपाद्य विषय के रूप में आयु वर्णित है। आयु का ज्ञान होने के कारण इसे आयुर्वेद कहते हैं।[2] इससे ही मनुष्य दीर्घ तथा स्वस्थ जीवन प्राप्त करता है।[3] इससे आयुर्वेद का विचार होता है, इसलिए यह आयुर्वेद है।[4]चरकसंहिता में आयुर्वेद को परिभाषित करते हुए महर्षि ने कहा है –

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितं।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।[5]

अर्थात् हित, अहित, सुख, दुःख यह चार प्रकार की आयु है, इस आयु का हित-अहित, पथ्यापथ्य तथा आयु का लक्षण जिसमें बताया गया हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

*सहायक अध्यापक संस्कृत, जनता औद्योगिक इंटर कॉलेज शेरपुर-गुढ़ा, कानपुर देहात

इसी आयुर्वेदीय परम्परा में प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत जलीयचिकित्सा का विधिवत वर्णन इन वैद्यक (आयुर्वेदीय) शास्त्रोमें प्राप्त होता है। इस शोध-पत्र में जलचिकित्सा सम्बन्धी विशिष्टताओं का वर्णन किया जा रहा है। जल शब्द की उत्पत्ति **'जल जीवने'** धातु[6] से**'अथ'** प्रत्यय[7] लगने से होती है। इस जल के द्वारा ही तीनो लोक जीवित रहते हैं और जो सम्पूर्ण भूमि को आच्छादित करता है, उसे जल कहते हैं। यह शीतल तथा स्पर्शवान् होता है, जिसे **'आप'**[8] भी कहा जाता है। पञ्चतत्त्वों में से 'जल' सदैव शरीर में विद्यमान रहता है। जल ही प्रणिभूत है, जल ही सृष्टिकर्ता की आदि सृष्टि है।[9] आज के विज्ञानविद् जल को तत्त्व न मानकर ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के मिश्रण से बना पानी मात्र मानते हैं। इसके विपरीत प्राचीन भारतीय विद्वान् जल तत्त्व को पञ्चमहाभूतों में परिगणित करते हैं, क्योंकि शरीर के घटक अवयवों में, रक्त, मांसपेशी तथा मष्तिष्क आदि में लगभग 80 प्रतिशत जल होता है। जलीयाश के माध्यम से ही पोषक तत्त्व रक्त में सञ्चरण करते हैं।[10] अतः हम सभी को भी शुद्ध जल ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अशुद्धजल में कार्बोलिक एसिड, सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन या क्लोराइड लवण, कैल्शियम, मैग्नेशियम, बालू, मिट्टी, जीवाणु तथा कृमि आदि विद्यमान रहते हैं,[11] जो अनेक प्रकार के रोगों के कारक होते हैं। इसलिए अशुद्धजल त्याज्य है।

इसप्रकार अशुद्ध जल को शुद्ध करने के उपाय आर्ष ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं| आचार्य सुश्रुत ने जल शुद्धीकरण के सात उपाय[12] बताए हैं-

1.कतक (निर्मली) 2.गोमेदक 3.विसग्रन्थि (कमल की जड़) 4.शैवाल 5.वस्त्र 6.मोती 7.मणि (फिटकरी)आदि। चरकसंहिता में भी जल शोधन के दो उपाय[13] बताए गए हैं-

1. मार्जन- जल को आग में गर्म कर, धूप में तपाकर, ईट या बालू आदि डालकर पुनः अच्छे से छानकर शुद्ध करना मार्जन कहलाता है।

2. प्रसादन- निर्मली, शैवाल, फिटकरी, तूतिया, ब्लीचिंग पाउडर या पोटेशियम परमैगनेट डालकर जल का शोधन करना प्रसादन है, जिससे जल निर्मल हो जाता है।

इस भूमण्डल पर जल अनेक रूपों में प्राप्त होता है, जिसमें वाग्भट जी ने जल के आठ रूपों का वर्णन किया हैं -

कौपसारसताडागचौण्ड्यप्रस्रवणौद्भिदम्।
वापीनदीतोयमिति तत् पुनः स्मृतम्।।[14]

अर्थात् कौप (कुएँ का जल),सारस (बड़े तालाब या झील का जल),ताडाग (तालाब का जल), चौण्ड्य (पर्वतीय जल),प्रस्रवण (झरना), औद्भिद (स्रोत का जल), वापी का जल, तथा नदी का जल। इस प्रकार इन जल के आठ रूपों के माध्यम से ही इस जगत् के जल से सम्बन्धित समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं।

सामान्य रूप से भी यह कहा जाता है कि जल का स्वरूप एक ही होता है, परन्तु उसका संयोग जिसके साथ होता है, उसका स्वरुप वैसा ही हो जाता है।

वाग्भट जी ने कहा है-

हिताहितत्त्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते।[15]

अर्थात् आकाश से गिरने के बाद सूर्य,चन्द्र तथा वायु आदि के स्पर्श से जल का प्रभाव हितकर व अहितकर हो सकता है, जैसे देश-काल का उसमें संयोग होगा, तदनुरूप उसका प्रभाव भी सुखद या दुःखद हो जाता है।

सुभाषितकार का कथन है कि प्रत्येक कुण्ड या जलाशय का जल भिन्न-भिन्न होता है।[16] यह भी कहा गया है की जैसी भूमि होती है, वैसा ही जल होता है।[17] इसप्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह बोध होता है कि जल हमें विविध रूपों में प्राप्त होता है। महर्षि अग्निवेश ने भी जल के विविध संयोगों के कारण शीतल, पवित्र, कल्याणकारक, स्वच्छ, विमल तथा लघु (शीघ्र पाचक) इन छः गुणों वाला तथा प्राकृतिक रूप से जल को दिव्य कहा है।[18]

जल के विशिष्ट तथ्यों को प्रस्तुत करने के उपरान्त जल की श्रेष्ठता,महत्त्व तथा प्रयोग की स्थिति के विषय को भी जानना अत्यावश्यक है। जल के श्रेष्ठत्त्व को व्यक्त करते हुए वैद्यक आचार्य कहते हैं कि मेघ के सामान श्रेष्ठ अन्य कोई जल नहीं होता है।[19] चरक शूत्र में भी मेघ जल को ही प्रधान जल कहा गया है और इस आकाशीय जल को स्वच्छ पात्र में एकत्र कर सभी सामान्य जन तथा राजा आदि के द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए।[20] इसके अतिरिक्त भूमि के जल को भी शुद्ध माना गया है।[21] जल के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए ऋषि कहते हैं-

पानीयं प्राणीनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम्।
न हि तोयाद्विना वृत्तिः व्याधितस्य च।।[22]

अर्थात् पानी सब प्राणियों का प्राण है, सम्पूर्ण संसार जलमय है, इसलिए पूर्ण निषेध करने पर भी पानी पूर्णरूप से छोड़ा नहीं जा सकता, पानी न मिलने से मुख की शुष्कता, अंगों में पीड़ा अथवा मृत्यु भी हो सकती है। पानी के बिना न तो स्वस्थ व्यक्ति का और न रुग्ण व्यक्ति का जीवन चल सकता है, अतः जल ही जीवन का आधार है।

भोजन के समय किस प्रकार हमें जल ग्रहण करना चाहिए, इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि- भोजन करते समय बीच-बीच में घूँट-घूँट पानी पीने वाले का शरीर 'सम' तथा भोजन के अन्त में पानी पीने वालों का शरीर 'स्थूल' और जो लोग भोजन के आरम्भ में ही पानी पी लेते हैं, उनका शरीर कृश (दुर्बल) हो जाता है।[23] इसीप्रकार वृद्धचाणक्य का एक उदाहरण देते हुए सुभाषितकार कहते हैं-

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारिबलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम।।[24]

अर्थात् बिल्कुल खाली पेट जल औषधि के सामान, भोजन पच जाने के दो-तीन घण्टे बाद जल बलदायक, भोजन के बीच में घूँट-घूँट पिया हुआ जल अमृत के सामान तथा भोजन करके तुरन्त बाद पिया हुआ जल विष के सामान अहितकर होता है।

इसी क्रम में आगे कहते हैं कि अधिक पानी पीने से अन्न का पाचन ठीक से नहीं होता और पानी न पीने से भी वही दोष होता है, इसलिए जठराग्नि वर्धनार्थ मनुष्य को चाहिए की वह बार-बार अल्प मात्रा में जल पीता रहे।[25] जो जल हम सभी ग्रहण करते हैं वह सामान्यतः तीन प्रकार का होता है शीत (ठंढा), उष्ण(उबला हुआ), अनुष्ण(सामान्य या कच्चा)जल। शीत जलपान से होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं-

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषाण्यम्बु नियच्छति।।[26]

अर्थात् शीतल जल का सेवन करने से मदात्ययरोग, ग्लानि, मूर्छा, वमन, श्रम(थकान), भ्रम, तृष्णा, उष्णता(गर्मी), दाह (जलन), पित्तविकार, रक्तविकार तथा विषविकार नष्ट हो जाते हैं।

जल को किस प्रकार शीतल रखा जा सकता है, इस निमित्त सुश्रुताचार्य ने सात उपायों का वर्णन किया है- हवा में पानी को रखना,जल सहित पात्र को गीले वस्त्र से लपेटना, यन्त्र, लकड़ी आदि को घुमाते रहना,पंखा चलाना,वस्त्र द्वारा छानना, पानी के पात्र को बालू पर रखना, जलपात्र को छीके पर लटकाना। इन सात उपायों द्वारा जल को शीतल रखा जा सकता है।[27]

अब अगले क्रम में उष्ण जलपान से स्वास्थ्यलाभ का का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि उष्णजल जठराग्नि को प्रदीप्त करता है,आमरस को पचाता है, कण्ठ के लिए हितकर है, शीघ्र पच जाता है, बस्ति का शोधक है, हिक्का, वातविकार, कफविकार, वमन, विरेचन आदि में इसका प्रभाव लाभप्रद होता है।[28] उष्णजल को गुनगुना करके उच्चताप या ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को देना चाहिए। इस दोषरहित जल का पान सामान्य व्यक्ति के लिए भी लाभकारी होता है। इस जल की गुणवत्ता 12 से 24घण्टो तक ही रहती है। अच्छे से पका हुआ जल शीतल कर पान करने से वातपित्त, कफपित्त, सन्निपात तथा पित्त की अधिकता होने पर हितकर होता है।[29]पुनः कहते हैं- **'व्युशितं तत्त्रिदोषकृत'**।[30]वही जल यदि बासी हो जाये तो वात ,कफ, सन्निपात इन तीन दोषों का कारक भी हो जाता है। महर्षि सुश्रुत कहते हैं –

यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु ।
चतुर्भागावशेषस्तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम्।।[31]

अर्थात् जो पानी पकाने पर वेगरहित, झागरहित,तथा निर्मल हो जाये और चतुर्थांश शेष रह जाय वह लघु (शीघ्र पचने वाल) तथा गुणकारी होता है।

साथ ही यदि नारियल का जल मिल जाये तो वह अत्यधिक स्वास्थ्यप्रद होता है। यह जल स्निग्ध, स्वादु, वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतल, पित्तविकार तथा वातविकार को नष्ट करता है।[32]

इसके पश्चात् हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि किस परिस्थिति में तथा कैसा जल ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में बताया गया है कि शक्ति से अधिक जल किसी को भी नहीं पीना चाहिए।[33] निम्न रोगों से युक्त रोगी को अल्प जल का ही सेवन करना चाहिए-

पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिः।

ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः।।[34]

अर्थात् मन्दाग्नि, गुल्म, पांडुरोग, उदररोग, अतिशार, अर्शोरोग, ग्रहणी, शोष, राजयक्ष्मा तथा शोथरोग से पीड़ित पुरुषों को कम जल पीना चाहिए। साथ ही यह भी बताया गया है कि अनेक विकारों से युक्त समुद्र के जल को भी नहीं पीना चाहिए।[35] किसी अन्य प्रदेशजन्य जल का निषेध करते हुए कहा गया है- **'पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्य प्रदेशजे'**[36]अर्थात् अन्य प्रदेशजन्य (कुएँ,सरोवर अदि) जल के पीने पर जब तक वह पच न जाय तब तक दूसरा पानी नहीं पीना चाहिए। यदि उबला हुआ उष्णजल का पान किया गया हो तो ठंढा पानी तब तक नहीं पीना चाहिए, जब तक उष्णजल जीर्ण न हो जाय, कहने का तात्पर्य यह है कि कभी भी ठंढा और गर्म जल एक साथ नहीं पीना चाहिए[38]और जो जल कीचड़, सीवार से मलिन हो, जिसमे सूर्य, चन्द्रमा की किरने न पड़ें, वायु का स्पर्श न हो, जो अभी-अभी बरस रहा हो या पहली वर्षा का जल हो, झागयुक्त, क्रिमियुक्त, जो अत्यन्त शीतल हो जिसके पीते समय दन्त वेदना हो ऐसे जल का पान पूर्णतया वर्जित है।

महर्षि काश्यप ने भी कहा है –

बालाहकाद्याः समदाः कीटाः लूताश्च खेचराः।[39]

अर्थात् अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले अनेक प्रकार के कीट-पतंगे, लूतायें(मकड़ी), वर्षा के जल के साथ भूमि पर गिरते हैं, उसके पीने से अनेक उदररोग तथा स्नान करने से खुजली अदि चर्मरोग हो जाते हैं।

यह जल ही है जो हमें अन्तर्बाह्य रूप से शुद्ध रखता है-

अपां संस्पर्शनात् स्नानात् पानाद् दर्शनोऽपि वा।
मनुष्ये सिद्धिमायान्ति बाह्याभ्यन्तरक्षालिता।।[40]

अर्थात् जल संस्पर्शन से, स्नान से, पीने से तथा उसके दर्शन से भी अन्तर्बाह्य शुद्ध हुए मनुष्य अपने स्वास्थ्यरक्षण और रोगहरण कार्यों में सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

अतः उपर्युक्त जल सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ही जल का सेवन करें तथा अनेक रोगों से अपने स्वास्थ्यकी रक्षा करें।

सन्दर्भ -

1. वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा, पृष्ठ–3
2. आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेदः,तदेव,पृष्ठ–3
3. अनेनवाऽऽयुर्विन्दति इत्यायुर्वेदः,तदेव,पृष्ठ–3
4. आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वा इत्यायुर्वेदः,तदेव,पृष्ठ–3
5. चरकसंहिता सूत्रस्थान, महर्षि अग्निवेश, 1/41
6. धातुपाठ,महर्षि पाणिनि,पृष्ठ–47
7. हलायुधकोष,पृष्ठ–313
8. तर्कसंग्रह टीका, श्री राजेश्वर शास्त्री,पृष्ठ–16
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,महाकवि कालिदास–1/1

10. चरकसंहिता,हिन्दी टीका, डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी,पृष्ठ–81
11. तदेव,पृष्ठ–81,82
12. अष्टांगहृदयम्, हिन्दी टीका,डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अध्याय–6,पृष्ठ–67
13. चरकसंहिता,हिन्दी टीका, डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी,पृष्ठ–82
14. अष्टांगसंग्रह, महर्षिवाग्भट–6/12
15. तदेव, 5/2
16. कुण्डे कुण्डे नवं पयः,वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/8
17. यथा भूमिस्तथा तोयम्, तदेव–10/7
18. शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकम्। चरकसूत्र, महर्षि अग्निवेश–27/198
19. नास्ति मेघसमं तोयम्।वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/5
20. चरकसूत्र,महर्षि अग्निवेश–27/202
21. शुद्धं भूमिगतं तोयम्। वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/6
22. अष्टांगसंग्रह, महर्षिवाग्भट–6/30–31
23. समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाह।अष्टांगहृदयम्हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अध्याय–5,पृष्ठ–67
24. वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/19
25. अत्याम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मेहुर्मुहुर्वारिपिबेदभूरि।।
वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/20
26. अष्टांगहृदयम्, हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अध्याय–5/15
27. सुश्रुतसंहिता, महर्षि सुश्रुत –45/19
28. दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णंबस्तिसोधनं।अष्टांगहृदयम् हिन्दीटीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अध्याय–5/16–17
29. पित्तयुक्ते हितं दोषे। तदेव, अध्याय–5/18
30. तदेव, अध्याय–5/18
31. सुश्रुतसंहिता, महर्षिसुश्रुत –45/40
32. नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु। तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनं।।
अष्टांगहृदयम् , हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अध्याय–5/19
33. नवाम्बु पेयमशक्त्या वा। तदेव, अध्याय–5/13
34. तदेव, अध्याय–5/14
35. समुद्रं तन्न पातव्यम्।अष्टांगहृदयम् ,हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी,अध्याय–5,पृष्ठ–64
36. अष्टांगसंग्रह, महर्षिवाग्भट–6/28
37. अजीर्णे कथितं चामे पक्के जीर्णेऽपि नेतरत्।तदेव– 6/29
38. न पिबेतंकशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम्।
फेनिलं जन्तुमत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः।।अष्टांगहृदयम् , हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी,अध्याय–5/6–7
39. अष्टांगहृदयम् ,हिन्दी टीका, डॉ.ब्रह्मानंद त्रिपाठी, पृष्ठ–65
40. वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्,श्री भाष्करशर्मा –10/21

संस्कृत साहित्य में स्त्री-स्वातन्त्र्य के उल्लेखनीय सन्दर्भ

• डॉ. अरविन्द कुमार*

शोधसार- भारतीय समाज मातृसत्तात्मक था; जो संभवतः मध्ययुग में पितृसत्तात्मकता की ओर शनै-शनै परिवर्तित हो गया। जब स्त्रियों की स्थिति दयनीय होने लगी तो साहित्य में भी उनका आर्त्तनाद और अधिकार का स्वर भी ध्वनित होने लगा। इसप्रकार स्त्री-विमर्श हमारी बौद्धिक चिन्तना के केन्द्र में स्थापित हुआ। संस्कृत वाङ्मय को देखे तो वैदिक साहित्य में भी स्त्री-स्वातन्त्र्य और समानता के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वहीं कतिपय परवर्ती व्याख्याकारों पर पितृसत्तात्मकता का प्रभाव भी नकारा नहीं जा सकता। संस्कृत साहित्य में मातृशक्ति की समानता के उल्लेखनीय निदर्शन देखे जा सकते हैं। संस्कृत के अर्वाचीन काव्यकार भी आधी आबादी को समानता और गरिमापूर्ण स्थान दिलाने हेतु उनकी साम्प्रतिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रमुखता से स्थान दे रहे हैं। समग्र रूप से देखें तो संस्कृत साहित्य में मातृशक्ति के सम्मान, समानता और स्वातन्त्र्य के अनेक उदाहरण और सन्दर्भ सुलभ हैं, जिन्हें प्रस्तुत शोधालेख में यथामति दर्शाया गया है।

बीजशब्द- स्त्री-स्वातन्त्र्य, पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक, मातृशक्ति, स्त्रीविमर्श।

समाज का दर्पण होने के कारण साहित्य वही प्रदर्शित करता है, जो समाज में दिखाई देता है, और समाज का भी दायित्व है कि वह दर्पण को देखकर मुखमण्डल के समस्त कलंकों का प्रक्षालन कर ले। न केवल भारतीय ही अपितु वैश्विक समाज पर लैंगिक असमानता का धब्बा लगा हुआ है, जिसे साहित्य ने स्त्री-विमर्श और किन्नर-विमर्श आदि में वर्गीकृत कर चर्चा के केन्द्र में स्थापित किया है। हाशिये पर पडे वर्गों को मुख्यधारा के केन्द्र में स्थापित करने का प्रयत्न साहित्यकारों व समाज का समान रूप से होना चाहिये। पुरातन, व्यापक एवं समृद्ध संस्कृत वाङ्मय में भी इन विषयों पर लेखन होता रहा है। विशेषतः स्त्रीविमर्श पर दृष्टिपात करें तो परस्पर विरोधाभासी सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं। जिनके पीछे साहित्य की अनपेक्षित व्याख्यायें और प्रक्षिप्तांशों का जुडना भी कम उत्तरदायी नहीं है।

यद्यपि संस्कृत साहित्य में पुरुषों पर अपेक्षाकृत अधिक लिखा गया, पुनरपि स्वाधीनता के

*सहायक आचार्य, संस्कृत, जे0एस0 हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमरोहा

लिये संघर्ष करती हुयी या स्वाधीन मन वाली नारीशक्ति की छवि भी देखी जा सकती है। संस्कृत व्याकरण से सन्दर्भ लें तो द्वन्द्व समास प्रकरण में जहाँ 'पुमान् स्त्रिया'[1] सूत्र जो द्वन्द्व को एकशेष में बदलता है, यहाँ पुरुष ही शेष बचता है-माता च पिता च -पितरौ, जिससे पुरुष की प्रमुखता का भाव द्योतित होता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि समास में ही जब दोनों पद साथ रखने हों तो वहां पूर्वनिपात का प्रकरण आता है, तब 'अभ्यर्हितं च'[2] वार्तिक द्वारा मातापितरौ बनता है, और माता को अधिक पूजित माना जाने के कारण ही पूर्वनिपात होता है। अतः वार्तिककार के निर्देश तथा इस प्रयोग से मातृशक्ति को अधिक पूज्य दर्शाया गया है। इसीप्रकार 'सीताराम, राधाकृष्ण, माता-पिता, उमा-महेश्वर' आदि प्रयोग भाषा में दृष्टिगत होते हैं; जो मातृशक्ति को अधिक पूजित दर्शाते हैं।

वैदिक समाज में मातृसत्तात्मक आदिम कबीलों का सातत्य बना हुआ था। ऋग्वैदिक काल में जहाँ सरमा-पणि (ऋग्वेद 10.108), पुरुरवा-उर्वशी (ऋग्वेद 10.95), अगस्त्य-लोपामुद्रा (ऋग्वेद 1.179) यम-यमी (ऋग्वेद 10.10) - जैसे संवादों में महिला-स्वर को अभिव्यक्ति दी गयी है। वहीं अदिति, अपाला, घोषा, श्रद्धा, वागम्भृणी, सूर्या, आत्रेयी, विश्ववारा जैसी ऋषिकायें भी हैं, जो मंत्रों की साक्षात्कारकृतधर्मा हैं। ऋग्वेद में 24 और अथर्ववेद में 5 ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है। यमस्मृति के अनुसार पुराकल्प में नारियों का यज्ञोपवीत और मौंजीबंधन भी होता था।[3] नारी के लिये शिक्षा, कला, धर्म, राजनीति, विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक कार्यों में प्रतिभागिता के सन्दर्भ की द्रष्टव्य हैं-

क. भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता। ख. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। ग. अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रां विवाचनी।[4]

सामाजिक कार्यों में स्त्रियों की सहभागिता पुरुषों की भांति ही थी, वे स्वयं रथ चलाकर संस्थाओं में वक्ता एवं श्रोता के रूप में स्वतन्त्रतया आने-जाने की अधिकारिणी थीं।[5] यज्ञ आदि कार्यों की सम्पूर्ति हेतु अर्धांगिनी की सहभागिता तो सर्वविदित है। यज्ञानुष्ठान हेतु स्वर्णमयी सीता का निर्माण रामकथा का प्रसिद्ध प्रसंग है। आश्वलायन श्रौतसूत्र आदि में यज्ञविधान के अन्तर्गत केवल पत्नी द्वारा पढे जाने वाले मंत्रों उल्लेख सस्वर पाठ करने के निर्देश के साथ प्राप्य है। सस्वर पाठ करने हेतु शिक्षित होने के साथ ही वेदपाठ के अभ्यास की अपेक्षा रखता है।

वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि विदेयकर्मासि...।[6]

उपर्युक्त सन्दर्भों का व्यवहारिक धरातल पर प्रभाव गार्गी, मैत्रेयी और भारतीदेवी सदृश स्त्रियों के जीवन में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उक्त सभी ब्रह्मवादिनी अर्थात् बुद्धिजीवी महिलायें थीं, जिन्होंने बहुधा शास्त्रार्थ आदि में भी भाग लिया। गार्गी याज्ञवल्क्य को निरुत्तर कर देती है। मैत्रेयी सम्पूर्ण भौतिक वैभव-विलास छोडकर अध्यात्म में निरत हो जाती है। भारतीदेवी मण्डनमिश्र और

आदिगुरुशंकराचार्य के शास्त्रार्थ में निर्णायक की भूमिका का निवर्हन करती है। शंकरदिग्विजयम् में उसके वैदुष्य पर कहा गया है-

सर्वाणि शास्त्राणि षडंग वेदान्, काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वान्।
तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला, तस्मादभूच्चित्रपदं जनानाम्।।[7]

विवाह की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उल्लेख है कि जैसे नदियां समुद्र को प्राप्त करती हैं, वैसे ही युवती कन्यायें युवक को स्वेच्छा से वरण करती हैं। इसे स्वयंवर प्रथा के सूत्र के रूप में भी देखा जा सकता है। जिसमें युवतियों को स्वेच्छानुसार परीक्षापूर्वक वर चुनने की छूट होती है।

क. युवतयो युवानं परिसन्त्यापः। ख. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[8]

स्वयंवर प्रथा तो अत्यन्त प्रसिद्ध थी। कन्या पतिंवरा और स्वयंवरा होती थी। सुवर्चला उसके पिता से अनुमति के पश्चात् अपने समान विद्यादि गुणों से सम्पन्न श्वेतकेतु को वरण करती है। इसीप्रकार सावित्री स्वयंवर और परवर्ती साहित्य में दमयन्ती-स्वयंवर, इन्दुमतीं स्वयंवर तथा सीता स्वयंवर आदि प्रसिद्ध हैं। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला अपनी सखियों के साथ ऋषि कण्व के आश्रम में रहती है, जहाँ गौतमी शिक्षिका एवं अधिष्ठात्री हैं। पिता कण्व की पूर्वानुमति के विना ही वह नायक हस्तिनापुर नरेश दुष्यन्त से गन्धर्व-विवाह करती है, पिता जिसका सहर्ष अनुमोदन करते हैं।[9] मालविकाग्निमित्रम् में परिव्राजिका नाट्याचार्य या शिक्षक हरदत्त और गणदास की परीक्षा या शास्त्रार्थ में निर्णायक नियुक्त की गयी है।[10] रघुवंशमहाकाव्य के 19वें सर्ग में राजा अग्निवर्ण की विधवा को ससम्मान राज्याभिषिक्त किया जाता है। प्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट की कादम्बरी नामक काल्पनिक कथाकाव्य में महाश्वेता और कादम्बरी स्त्री समाज के दृढ संकल्प तथा स्वातन्त्र्य के प्रतीक व उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भवभूति के उत्तररामचरितम् नाटक की पात्र आत्रेयी एक तपोवन (बाल्मीकि आश्रम) से किंचित् व्यवधान के कारण अन्य तपोवन में अगस्त्य आदि उद्गीथविदों से वेदान्तविद्या सीखने हेतु प्रव्रजन करती है।[11] इसी नाटक में वासन्ती अपनी सखी सीता के लिये प्रजा के सर्वाधिक लोकप्रिय राजा राम से बहस करती है।[12] भवभूति के ही मालतीमाधवप्रकरण में मालती स्वेच्छानुसार पिता का घर त्यागकर माधव से परिणीत होती है। संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के अनेक संवाद भी उनकी मुखरता एवं स्वतन्त्रता के निदर्शन हैं। महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयमहाकाव्य के प्रथम सर्ग में द्रौपदी युधिष्ठिर की अतिशय शान्तिप्रियता को उपालम्भ देती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में अनभिज्ञान की स्थिति में स्वयं शकुन्तला और गौमती की राजा से आत्मविश्वासपूर्ण निर्भीक वार्ता दर्शनीय है।[13] भारतीय जनमानस में सीता का चित्रण स्त्री-स्वातन्त्र्य के प्रमुख उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। सर्वप्रथम उसका स्वयंवर तत्पश्चात् पति राम का अनुगमन करते हुये, मना करने पर भी, उनके मार्ग के कुशकण्टकों को साफ करती हुई (अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुषकण्टकान्) आगे-आगे चलने का सङ्कल्प लेकर वन जाना तथा अपहरण के

बाद रावण की कैद में नितांत एकाकी एवं असहाय स्थिति में होने पर भी लङ्केश को निर्भीकतापूर्वक धिक्कारना अनुपमेय है- **त्वं पुनर्जम्बूकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्मते ।**[14]

उपर्युक्त सन्दर्भों से समन्वित गौरवपूर्ण साहित्य भारतीय समाज की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहते हुये भी (विशेषतः मध्यकाल से) स्त्रियों की दशा शोचनीय कैसे हो गयी ? उन्हें वेद अर्थात् शिक्षा से वंचित कैसे किया जाने लगा ?[15] कन्याओं को जन्म से पहले ही कैसे मारा जाने लगा ? आधी आबादी को उसके अधिकारों हेतु संघर्ष की आवश्यकता क्यों होने लगी ? यह विचारणीय है। इसप्रकार के रुढिवादी और दुराग्रहपूर्ण विचारों ने साहित्य और समाज की बडी क्षति की है। नारी स्वातन्त्र्य में मीरा और आधुनिक मीरा हिन्दी कवयित्री महादेवी वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी लिखते हैं कि '1975 के आसपास महादेवी वर्मा उज्जैन के कालिदास समारोह में बडे बेवाकी से कहतीं हैं कि उनका संस्कृत और वेद पढने का सपना था, किन्तु इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन वेद के गुरुजी को यह स्वीकार्य नहीं था कि कोई स्त्री वेद पढे और वह सपना अधूरा रह गया।'[16] इसप्रकार की स्थिति यदि नारी स्वातन्त्र्य को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली सशक्त हस्ताक्षर की है; तो सामान्य प्रतिभाओं का क्या हुआ होगा ? विचारणीय है।

ऐसे समय में राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्दविद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सावित्रीबाई फुले तथा स्वामी विवेकानन्द सदृश समाजसुधारकों ने स्त्री-पुरुष समानता की वकालत की। स्वामी दयानन्द ने बालक और बालिकाओं को गुरुकुल शिक्षा का मार्ग पुनरुद्घाटित किया। उन्होंने वेदादिशास्त्रों के आधार पर कहा - '.....जो स्त्रियों को पढने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।[17] सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र का पढने का अधिकार है।[18] वे कहते हैं कि माता-पिता व अध्यापक अपने लडके -लडकियों को अर्थसहित गायत्रीमन्त्र का उपदेश दें।[19] सभी जाति के बालक-बालिकाओं हेतु वे कहते हैं कि पांचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लडके-लडकियों को घर में न रखके, पाठशाला भेज देवें। जो न भेजे, वह दण्डनीय हो।'[20] भारत सरकार द्वारा 2001 में सर्वशिक्षा अभियान चलाया गया और 2009 में 6-14 वर्ष के बच्चों को अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार दिया गया। ये विचार स्वामी जी के चिन्तर भी स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। स्वामी जी ऋग्वेदभाष्यभूमिका (6.4.18) में लिखते हैं- राजा ऐसा यत्न करे जिससे सब बालक और कन्यायें ब्रह्मचर्य से युक्त होकर समृद्धि को प्राप्त हों, सत्य, न्याय और धर्म का निरन्तर सेवन करें।[21] वे अपने सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि नामक ग्रन्थों में पाठ्यक्रम का भी सविस्तर निर्देश करते हैं।[22] जिसका प्रभाव भारत में संचालित अनेक कन्या-गुरुकुलों के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। महात्मा गांधी जी कहते हैं कि स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं, सहधर्मिणी, अर्धांगिनी और मित्र है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होगा, तब तक विश्व का कल्याण नहीं हो सकता। किसी भी पक्षी के लिये एक पंख से उडना असंभव है।[23]

आधुनिक संस्कृत कविता में भी स्त्री-विमर्श पर प्रचुर लेखन हो रहा है। आधुनिक संस्कृत साहित्यकार सामाजिक भेदभाव, यौन उत्पीडन, गृहहिंसा, भ्रूणहत्या, दहेज हत्या तथा लैंगिक असमानता प्रभृति विषयों को व्यंग्यादि के माध्यम से भावानुरूप एवं युगानुरूप अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे हैं। इन वरेण्य साहित्यकारों में पं0 जगन्नाथ पाठक, प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी, अभिराजराजेन्द्र मिश्र, रमाकान्तशुक्ल, हर्षदेव माधव, हरिदत्तशर्मा, श्रीहरेकृष्णमेहेर तथा डॉ0 बनमाली विश्वाल आदि अनेक कवियों की रचनायें उद्धृत की जा सकती हैं।

जानकीजीवनम् महाकाव्य सदृश अनेक कृतियां से निर्दोष नारी समाज पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध प्रखर आवाज उठाने वाले युगधर्मा कवि अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने 'शतपर्विका कथा' में स्त्री को दूर्वा घास के समान बताया है। बार-बार पैरों से रौदी जाती हुई भी अनेक कष्टों को सहती हुई तथा अरक्षित रहती हुई भी जैसे दूर्वा घास सदा हरीभरी रहती है, गृहद्वार की शोभा बढाती है और शतपर्वा होकर बढती है। वैसे ही स्त्री भी सदा प्रसन्न रहते हुये गृहशोभा बढाती है, पुत्रादि द्वारा बढती है।[24]

हर्षदेव माधव का कल्पना वैचित्र्य देखिये, जहाँ उन्होंने चित्रांकन किया है कि गृह-क्लेश से क्लान्त वधू स्नानगृह में रोती है, तो ऐसा लगता है जैसे वह स्नानगृह ही उसका पितृगृह हो गया हो।

स्नानगृहं गत्वा गृहक्लेशक्लान्ता वधूः।
निःशब्दं रोदिति तदा स्नानगृहं तस्याः पितृगृहं भवति।।[25]

प्रो0 रमाकान्त शुक्ल अपनी 'रौति ते भारतम्' कविता मे दहेज हत्या पर लिखते हुये दहेज-लोलुपों की भर्त्सना करते हैं और इसी कविता में वेश्यावृत्ति आदि सामाजिक बुराईयों पर भी लिखते हैं। अनेकों सामाजिक समस्याओं से आक्रान्त स्त्रीसमाज की मुक्ति की आशा भी कविवर शुक्ल अपनी अन्य रचना 'जय भारतभूमे' में इसप्रकार व्यक्त करते हैं।

बलात्कार-हत्यापहार-प्रहाराः, अशिक्षा बधूदाह भिक्षाप्रचाराः,
कदाचित् लुप्तो भविष्यन्ति यस्मात्, (अवश्यं विलुप्ता भविष्यन्ति यस्मात्)[26]

जनार्दन पाण्डेय 'मणि' वर्तमान समाज में स्त्रियों की व्यथा कथा पर कहते हैं; कि आज दुर्योधन, दुःशासन और कंस जैसे दुर्जन स्वेच्छया विचरण कर रहे हैं। कलियुग में भी द्रौपदियों की लाज बचाने हेतु माधव की आवश्यकता है।

त्वद्रूपे विचरन्ति सहर्षाः, दुर्योधन-दुःशासन-कंसाः।
द्रौपद्यो लज्जन्ते नैकाः अच्युत साम्प्रतमपि सद्वंशाः।।
दुर्जन-दुष्ट-कदम्ब-कमयिते, कलावपि श्रीमन् सत्रासय।
माधव दुःखततिं मम नाशय, माधव दुःखततिं मम नाशय।।[27]

इसीप्रकार जगन्नाथ पाठक वर्तमान में चारों ओर रावण अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा करते देखते हैं, और उनसे रक्षणार्थ एक लक्ष्मणरेखा को अपर्याप्त मानते हैं।[28] वे कहते हैं कि आज भी

लोगों के हृदय में दशवदन रावण जीवित है, क्योंकि प्रतिदिन सीताओं के अपहरण की बात सुनाई देती है।

साम्प्रतमपि दशवदना दधति नृणां हृत्सु सम्यगस्तित्वम्।
नित्यमपह्रियमाणाः श्रुतिपथमायान्ति वैदेह्यः।।[29]

आधुनिक संस्कृत कवियों ने भारतीय स्त्री-समाज के सर्वोत्कृष्ट आदर्श वैदेही सीता के चरित को आधार बनाकर पर्याप्त लेखन किया है। प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी का सीताचरितम्, पं0 रामचन्द्र मिश्र का वैदेहीचरितम् तथा अभिराजराजेन्द्र मिश्र का जानकीजीवनम् महाकाव्य इनमें महत्वपूर्ण हैं। इन महाकाव्यों में सीता को नायकत्वेन स्थापित करके अप्रतिम सहनशक्ति, मानसिक दृढता, आदर्श पातिव्रतधर्म की पालिका, साहसी वीर कन्या तथा सबला नारी की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित किया है। जो स्वयंवर की कठोर शर्त से तत्कालीन भूपतियों को चुनौती बनी हुई है। सभी आरण्यक कष्टों को जानती हुई भी पति का अनुगमन करती है। रावण की कैद में भी साहस से स्वाभिमान की रक्षा करती है, और अग्निपरीक्षा हेतु स्वयं सन्नद्ध रहती है। वास्तव में इन महाकाव्यों की नायक सीता सम्पूर्ण स्त्री समाज की प्रेरणापुंज हैं। इसीप्रकार झांसीश्वरी लक्ष्मीबाई के भारतीय स्वातन्त्र्य-समर में विशिष्ट योगदान के आधार पर प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी के स्वातन्त्र्यसंभवम्, सुबोधचन्द्रपंत के झांसीश्वरीचरित महाकाव्य तथा प्रो0 ब्रजेशकुमार शुक्ल की कविता 'जयतु मम स्वातन्त्र्यसरणिः' में सौन्दर्य की अधिष्ठात्री नारी को साहस, पराक्रम और मातृभूमिरक्षिका के रूप में चित्रित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में कहना उचित होगा कि संस्कृत साहित्य में स्त्री समाज को मातृशक्ति के पूज्यास्पद पर विराजित किया गया है। सर्जक शक्ति एवं जीवन निर्माण की सामर्थ्य और दायित्व के कारण भी उसका महत्त्व स्मरणीय है। संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के अध्ययन-अध्यापन, सभाओं और संगोष्ठियों में प्रतिभाग, शास्त्रार्थों में निर्णायक की भूमिका आदि के सन्दर्भ तो सुलभ हैं ही, वैदिक साहित्य में वे मन्त्रों की साक्षात्कृतधर्मा ऋषिकायें भी हैं। स्वकीय जीवन के वैयक्तिक निर्णय-विवाह आदि की स्वतन्त्रता तो सर्वविदित है; वे सामाजिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। अर्धांगिनी के रूप में स्त्रियों की धार्मिक और सामाजिक कार्यों में भूमिका रही है। स्त्रियों पर हो रहे अत्याचारों पर आधुनिक संस्कृत काव्यों में मुखरता से आवाज उठायी गयी है। इसमें स्त्रीशिक्षा को बढावा देने तथा भ्रूणहत्या, दहेजहत्या, अपहरण, बलात्कार आदि अपराधों के शमन हेतु जनचेतना जागरण किया गया है। इसप्रकार संस्कृत साहित्य ने भी स्त्रियों के कष्टों को बौद्धिक विमर्श के केन्द्र में स्थापित करने में योगदान किया है।

सन्दर्भ -

[1] अष्टाध्यायी 1.2.67

[2] डॉ0 सत्यपाल सिंह, लघुसिद्धान्तकौमुदी, द्वन्द्व समासप्रकरण, पृष्ठ 865 पर उद्धृत।

[3] पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।

अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च।।- निर्णयसिन्धु, तृतीयपरिच्छेदपूर्वार्द्धम्, पुनरुपनयनप्रकरणम्, पृष्ठ 200 पर यमोक्ति के रूप में उद्धृत।

[4] क. ऋग्वेद 10.109.04, ख. ऋग्वेद 08.33.19, ग. ऋग्वेद 10.156.02,

[5] गुहा चरन्ती मनुषो न योषा समावती विद्ययेव संवाक्। -ऋग्वेद 01.167.03 तथा आ विदथमावदासि। -अथर्ववेद 14.01.21

[6] आश्वलायन श्रौतसूत्र 01.11.1

[7] शंकरदिग्विजय 3.16

[8] क. ऋग्वेद 02.35.04 ख. अथर्ववेद 11.07.18

[9] प्रियंवदा-.....दिष्ट्या धूमाकुलित दृष्टेरपि पावकः एवाहुतिः पतिता। वत्से, सुशिष्य परिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता। -अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ 197

[10] राजा-भगवति, अत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परविज्ञानसंघर्षो जातः। तदत्र भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम्। -मालविकाग्निमित्रम्, अंक 1, पृष्ठ 61

[11] उत्तररामचरितम्, अंक 2, पृष्ठ 106

[12] उत्तररामचरितम्, देखें- अंक 3

[13] अभिज्ञानशाकुन्तल, देखें- अंक 5

[14] राधावल्लभ त्रिपाठी, रविवार डाइजेस्ट, इन्दौर से प्रकाशित वैचारिक मासिक, ravivardigest.blogspot.com पर उद्धृत।

[15] क. स्त्रीशूद्रौनाधीयतामिति श्रुतेः। -सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास -3 पृष्ठ 81 पर उद्धृत् तथा '...अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्।.....वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः धारणे शरीरभेदः इति।' -ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, 1.3.38 (अपशूद्राधिकरणम्) भाष्य । ख. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।-श्रीमद्भागवतमहापुराण 1.4.25

[16] राधावल्लभ त्रिपाठी, रविवार डाइजेस्ट, इन्दौर से प्रकाशित वैचारिक मासिक, ravivardigest.blogspot.com

[17] स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थप्रकाश,समुल्लास-3 पृष्ठ 82

[18] वही, पृ0 81

[19] वही, पृष्ठ 39

[20] वही, पृष्ठ 39

[21] स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका 6/44/18

[22] देखें-सत्यार्थप्रकाश समुल्लास 3 और संस्कारविधि उपनयनसंस्कार प्रकरण।

[23] स्वामी विवेकानन्द, विवेकवाणी, 8 अक्टूबर 2019 http://surl.li/llrab से उद्धृत।

[24] 'सौभाग्यवतिः शतपर्विका इ मे तनूजाः। यथा हरितवर्णा शतपर्वित गृहद्वार सुषमा वर्धयति, शयने तूलास्तरणसाम्य दधती सौख्यं जनयति स्वनवनवांकुरैः पशुपक्षिणः प्रीणयति आत्माराम, तयाऽपोषिताऽपि अनतिषिक्ताऽपि अरक्षिताऽपि.....पुनर्नवतामुपैति नित्यहरिता च संलक्ष्यते तथैव पुत्रयोऽपि मे वर्तन्ते।' -इक्षुगन्धाकथासंग्रह, पृष्ठ 72

[25] आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा, डॉ0 मंजुलता शर्मा, पृष्ठ 76

[26] जय भारतभूमे, रमाकान्त शुक्ल

[27] जनार्दन पाण्डेय 'मणि', दीपमाणिक्यम् (संस्कत काव्यसंकलनम्), पृष्ठ 106

[28] परितो दशाननेषु स्वस्वावसरं प्रतीक्षमाणेषु। सीतां रक्षितुमेका लक्ष्मणरेखा कियत्प्रभवेत्।। -जगन्नाथ सुभाषितम्, भाग 3, पद्य 631, पृष्ठ 537

[29] जगन्नाथसुभाषितम्, भाग-2, जानकीहरणम्, पद्य 281, पृष्ठ 135

अग्निमहापुराण में ब्रह्मज्ञान : एक विमर्श

• डिम्पल जैसवाल*

शोधसार - पुण्याभारतभूमि अपनी अक्षुण्ण संस्कृति एवं ज्ञानपरम्परा के कारण वैश्विक पटलपर अपना अन्यतम स्थान रखती है। वेदों से लेकर पुराण पर्यंत अनन्त ज्ञानराशि भारतवर्ष में प्रवाहित रही है I गणित का अनुपम सिद्धांत, आयुर्वेद के सिद्धांत की स्थापना, ज्योतिषशास्त्र की उद्भावना, परमाणुसिद्धांत, प्रकाश व उसका विश्लेषण, रसायनशास्त्र के क्षेत्र में सुश्रुत की चरक संहिता, पतंजलि का लौहशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, प्राणिशास्त्र, भूगर्भ विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद,गर्भविज्ञान, प्रतिमा निर्माण, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि के साथ-साथ दार्शनिक क्षेत्र में भी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का अमूल्य योगदान रहा है। दर्शन की उपजीव्यता प्राचीनतम वाङ्मय वेद में निहित है। भारतीय दर्शन की समग्र विचार-सरणियां वहीं से निःसृत हैं। वैदिक ऋषियों के गूढ़ तात्विक विचार ही भारतीय दर्शन का आधार रहे हैं। उन्हीं विचारों का विस्तृत रूप दार्शनिक ग्रन्थों एवं उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इनके अलावा पुराणसाहित्य में भी उपर्युक्त समस्त विषयों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। **आग्नेयेहिपुराणेऽस्मिन्सर्वविद्याःप्रदर्शिताः**[1] उक्ति के अनुसार अग्निमहापुराण में प्रायः समस्तलौकिक एवं आध्यात्मिक विषयों का सम्यक्विवेचन प्राप्त होता है। प्रस्तुतशोध पत्र का मुख्य प्रतिपाद्य अग्नि महापुराण में प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप का वेदान्त सम्मत विवेचन एवं अनुशीलन करना है।

बीजशब्द - अष्टादशमहापुराण, अग्निमहापुराण, अर्थ, विषयवस्तु, पराएवंअपराविद्या, वेदान्तदर्शन में ब्रह्मका स्वरूप, अग्नि महापुराण में ब्रह्मज्ञान, महत्त्व एवं जीवनोपयोगिता।

पुरानवंभवतिइतिपुराणम्।[2] अर्थात् जो परम्पराएँ प्राचीन होते हुए भी प्रत्येक युग में सार्थक बनी रहें, उनका संग्रहण पुराण है। वायु पुराण में भी पुराण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है, जो प्राचीन होकर भी नित्य नूतन रहने वाले वृत्तान्तों, उपाख्यानों और इतिहास से परिपूरित है, और जिसको भलीभाँति जानकर मानव सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है, वह पुराण कहलाता है।

*सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर, राजस्थान

यस्मात्पुराह्यनतीदंपुराणंतेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्ययो वेद सर्वपापैःप्रमुच्यते।।[3]

अष्टादशपुराणपुञ्ज में अग्नि महापुराण का अन्यतम स्थान है। अग्निपुराण में प्रतिपादित विषयों की विविधता एवं बहुलता को देखकर यदि इसे ज्ञान का विश्वकोश कहा जाए तो अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा। इसमें परा एवं अपरा दोनों प्रकार की विद्याओं का सम्यक्निरूपण मिलता है। प्रस्तुत पुराण के प्रथम अध्याय में अग्निदेव स्वयं कहते हैं -

द्वेब्रह्मणीवेदितव्येशब्दब्रह्मपरंचयत्।
द्वेविद्येवेदितव्येइतिचाथर्वणीश्रुति।।[4]

अर्थात् शब्द ब्रह्म तथा परं ब्रह्म इनदोनों ब्रह्म कोजनाना चाहिए। अथर्ववेद के अनुसार दो विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए परा विद्या तथा अपरा विद्या। परं ब्रह्म विषयक विद्या को परा विद्या कहते हैं तथा शास्त्रीय ज्ञान विषयिणी विद्या को अपरा विद्या कहते हैं। इसी अपरा विद्या के प्रसंग में अग्नि महापुराण में प्रतिपादित ब्रह्म ज्ञान का निरूपण इस प्रकार कर सकते हैं।

ब्रह्म शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

'ब्रह्म' शब्द 'बृह्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है- बढ़ना या आगे की ओर प्रस्फुटित होना, आगे निकल जाना, अतिशयन करना, सत्य, नित्य, ऋचा इत्यादि। ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य में इसे **नित्यशुद्ध**[5] कहा गया है। आचार्य शंकर ने 'ब्रह्म' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बृहत्तम होने के कारण ही इसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार 'ब्रह्म' शब्द के विविध अर्थों का ग्रहण करके, इसे सत्य, ज्ञान तथा अनन्त कहा गयाहै। **सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म।**[6] छान्दोग्योपनिषद्में ब्रह्मको **तज्जलान**[7] कहा गया है- तत्-वह, जगत् को जन्म देता है, ला-अपने में लीन अन-धारण करता है। अर्थात्वहपरंतत्व जिससे इससंपूर्णचराचर जगत की उत्पत्ति जिससे सम्पूर्ण चरा चर जगत जीवित रहता है तथा अन्तमें जिसमें जाकर विलीन हो जाता है वही ब्रह्म है। इसी लिए सम्पूर्ण चराचर जगत्को ब्रह्मस्वरुप ही कहा गया है **सर्व खल्विदंब्रह्म**[8] अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है। स्पष्ट है कि निरतिशय अर्थ में 'बृह्' धातु से 'ब्रह्म' शब्द निष्पन्न हुआ है। वृद्धि का कारण तथा बृहत् होने से आत्मा भी 'ब्रह्म' कहलाती है। यही भाव बृहदारण्यकोपनिषद् में भीमिलताहै- **अयमात्माब्रह्म**[9]।

ब्रह्म की अवधारणा आचार्य शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का केन्द्रबिन्दुरही है, जहाँ वे ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्महीसमस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान, स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाश स्वरूप है। ब्रह्मसच्चिदानन्दस्वरूप है। उनके अनुसार ब्रह्म को छोड़कर शेष सभी वस्तुएँ असत्हैं तथा जीवब्रह्म का ही स्वरूप है। **ब्रह्म सत्यंजगन्मिथ्या..**[10] जीवत था ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने के कारण ही आचार्य शंकर के मत को अद्वैतवेदान्त कहा जाता है। अद्वैतवाद के अलावा एक अन्य मत भी प्रचलित है जिसे द्वैत वाद कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक मध्वाचार्य माने गए हैं। इनके मत में उपनिषद् आदि वेदान्तशास्त्रद्वैत अर्थातजीव और ईश्वर के भेद

का ही प्रतिपादन करते हैं, अद्वैत का नहीं। इस सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप ऋग्वेद की सुप्रसिद्ध श्रुति को प्रस्तुत करते हैं-

द्वासुपर्णासयुजासखाया, समानंवृक्षंपरिषष्वजाते।
तयोरन्यःपिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति।।[11]

अर्थात्संसाररूपी एक ही वृक्ष पर जीव और ईश्वर परस्पर हितकर सखा के रूप में मिले हुए दो हंस पक्षी रहते हैं। इन दोनों में जीवरूपी पक्षी, संसारवृक्ष के स्वादभोग रूपी फलों को भोगता है और दूसरा ईश्वररूपी पक्षी भोगों को भोगता नहीं है; अपितु केवल देखता रहता है। तात्पर्य है कि जीव भोक्ता है और ईश्वर द्रष्टा है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में ब्रह्म विषयक अनेक विचार उपलब्ध होते हैं, जिनका सार यही है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है। वही इस संपूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला तथा संहार करने वाला है। ईश्वर, आत्मा, परमात्मा इत्यादि सभी उसी परं ब्रह्म के विविध नाम हैं।

अग्निमहापुराण में ब्रह्म की सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में उपासना की गयी है। सगुण ब्रह्म के रूप में भगवान् विष्णु को सम्पूर्ण चराचर जगत् का सारतत्व माना गया है।

सारात्सारोहि भगवान् विष्णुःसर्गादिकृद्विभुः।
ब्रह्माहमस्मितंज्ञात्वासर्वज्ञत्वंप्रजायते ॥[12]

अर्थात्भगवान विष्णु ही सम्पूर्ण सृष्टकेकर्ता तथा सार भूततत्त्व हैं। वेहीपरंब्रह्म स्वरूप हैं। जब जीव स्वयं को ब्रह्मस्वरुप जान लेता है तो उसे और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता है।

अग्निपुराण के 374वे अध्याय में साधक को स्थिर चित्त से निरन्तर भगवान विष्णु के चिन्तन करने की प्रेरणा प्रदान की गई है। श्रीहरि के ध्यान के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अग्निदेवकहतेहैं-

एवं मुहूर्त्तमर्धवाध्यायेद्यःश्रद्धयाहरिम् ।
सोऽपितांगतिमाप्नोति न तांसर्वैर्मंहामखैः ॥[13]

अर्थात् जो पुरुष प्रतिदिन एक अथवा आधे मुहूर्त तक भी श्रीहरि का श्रद्धा पूर्वक ध्यान करता है, वह व्यकि जिस गति को प्राप्त करता है; उसे सम्पूर्ण महायज्ञों के द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। मूर्तात्मक एवं अमूर्तात्मक सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का स्वरूप जानकर उसमें श्रीहरि का चिन्तन करना ही ध्यान है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरि को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त एवं निष्कल जानना चाहिए। अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति ध्यान के प्रयोजन हैं। साकार ब्रह्म के रूप में भगवान विष्णु के स्वरूप का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं-

अग्निमण्डलमध्यस्थःशङ्खचक्रगदाधरः।
पद्मीचतुर्भुजोविष्णुरथवाष्टभुजोहरिः।।
शार्ङ्गाक्षवलयधरःपाशाङ्काशधरःपरः।
स्वर्णवर्णःश्वेतवर्णःसश्रीवत्सःसकौस्तुभः।।

वनमाली स्वर्णहारीस्फुरन्मकरकुण्डलः।
रत्नोज्ज्वलकिरीटश्चपीताम्बरधरोमहान्।।[14]

अर्थात् अग्निमण्डल के बीच में शंख, चक्र गदा तथा पद्म धारण किए हुए चतुर्भुज अथवा आठ भुजाओं वाले भगवान श्रीहरि विराजमान है। अष्टभुजा वाले भगवान श्रीहरि के हाथों में शंख आदि के अतिरिक्त शार्ङ्ग धनुष, अक्षमाला पाश तथा अंकुश विद्यमान हैं। उनका शरीर स्वर्ण के समान देदीप्यमान तथा श्वेत वर्ण का है। उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स चिह्न तथा कौस्तुभ मणि सुशोभित हो रही है। वनमाला तथा स्वर्ण का हार पहने हुए श्री भगवान के कानों में मकराकृतिकुण्डल सुशोभित हो रहे हैं। रत्नों से चमकते हुए किरीट वाले भगवान पीतांबर धारण किए हुए हैं वे सभी प्रकार के आभूषणों से भी विभूषित हैं।

उपनिषदों में भी अनेकत्र ब्रह्म का सगुण रूप में वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ- श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म के सगुणस्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं-

विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतोमुखोविश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैःद्यावाभूमीजनयन्देवएकः ।।[15]

आशय है कि ब्रह्म ही सबका ईश्वर, प्राणियों का अधिपति, भूतो का रक्षक तथा लोकों का धारक सेतु है। उसकी सब तरफ आंखें है, सब तरफ मुख है, सब तरफ बाहु है, और सब तरफ उसकी गति है। उसने मनुष्यों का भुजाओं से युक्त और पक्षियों को पक्ष से युक्त किया। उसने आकाश और पृथ्वी को बनाया है। वह द्युतिमान है तथा अद्वितीय है।इसी प्रकार उस सगुण ब्रह्म की विशिष्ट क्रियाओ का वर्णन यह उपनिषद् करता है और उसकी विशिष्टताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है-

अपाणिपादोजबनागृहीतापश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्तिबेत्तातमाहुरग्रन्वंपुरुषंमहान्तम्।।[16]

अर्थात् उसके हाथ नहीं है, किन्तु ग्रहण करता है। उसके पैर नहीं है किन्तु वह चलता है। उसके नेत्र नहीं है, किन्तु वह देखता है और कान न होने पर भी वह सुनता है। वह समग्र वेद्य पदार्थों को जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। उसी को सबसे श्रेष्ठ महान् पुरुष कहते हैं।

अग्निमहापुराण के अनुसार यह ब्रह्म ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है I समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार तथा पृथिवी इत्यादि पंचभूत तथा प्रकृति इन सभी का निर्माण करने वाला ब्रह्म ही है I जगत् और जगत् के समस्त पदार्थ क्षेत्र कहलाते हैं और आत्मा इन सब को जानने वाला होने के कारण क्षेत्रज्ञ कहलाता है I वही समस्त भूतों का ईश्वर है। सत्, असत् तथा सदसत् सभी उसके रूप हैं।

बुद्धीन्द्रियाणिसर्वाणिमनःकर्मेन्द्रियाणि च। अहङ्कारश्चबुद्धिश्चपृथिव्यादीनिचैवहि॥
अव्यक्त आत्मा क्षेत्रज्ञःक्षेत्रस्यास्यनिगद्यते। ईश्वरःसर्वभूतस्थःसन्नसन्सदसच्चसः॥[17]

ईश्वर जगत की उत्पत्ति का उपादान वनिमित्त दोनों प्रकार का कारण कैसे हो सकता है? इसका समाधान आचार्य शंकर के अनुसार, वेदान्तशास्त्रजगत् की सृष्टि ईश्वर से मानता है। उसकी दृष्टि से ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों है। अपनी उपाधि 'अज्ञान की प्रधानता से उपादान कारण तथा अपनी अर्थात् चैतन्य की प्रधानता से निमित्त कारण है। अपने इस मत के लिए वह मकड़ी का दृष्टान्त देते हैं। मकड़ी जिस ताने-बाने से अपना जाला बुनती है, वह कहीं बाहर से नहीं अपितु अपने शरीर में ही प्रकट करतीग है। भीतर से निकली लार ही बाहर आकर सूखकर ताने-बाने के सूत की आकृति धारण करके जाल बन जाती है। लार वह स्वयं ही निकालती है, अतः जाल के प्रति वह स्वयं निमित्त कारण है। मुण्डकोपनिषद में मकडी के इस दृष्टान्त से ईश्वर को जगत् का निमित्तोपादानोभय कारण मानने का सिद्धान्त इस प्रकार कथित है-

यथोर्णनाभिःसुजतेगृहणुते च, यथा पृथिव्यामोषधयःसम्भवन्ति।
यथा सतःपुरुषात्केशालोमानि, तथाऽक्षरात्सम्भवतीहविश्वम्।।[18]

ईश्वर भी मकड़ी की तरह अपने द्वारा की गई सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों ही प्रकार का कारण है। स्वेच्छापूर्वक सृष्टि- रचना करके फिर अपने में विलीन कर लेता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर,जीव एवं जगत् भिन्न-भिन्न न होकर एक ही ब्रह्मके विविध रूप हैं।

अग्निमहापुराण में प्रतिपादित ईश्वर, जीव एवं ब्रह्म के विवेचन में अद्वैतवेदान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रस्तुत ग्रंथ में यद्यपि अनेक स्थलों पर ईश्वर के रूप में विष्णु भगवान का उल्लेख प्राप्त होता है तथापि यहां विष्णु भगवान एक देवता के रूप में नहीं अपितु परंब्रह्म परमात्मा के रूप में निरूपित हुए हैं। ईश्वर, जीव एवं ब्रह्म पृथक- पृथक ना होकर एक ही चेतना के विविध रूप हैं। जैसा कि श्वेताश्वेतर उपनिषद में भी उल्लिखित है-

एकोदेवःसर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षःसर्वभूताधिवासः साक्षी चेत्ताकेवलोनिर्गुणश्च ॥[19]

अर्थात् एक देव ही सब प्राणियों मे छिपा हुआ, वह सर्वव्यापी और अन्तर्यामी परमात्मा है; वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है। अग्निपुराण के 'समाधि' नामक 376वे अध्याय में अग्निदेव संपूर्ण संसार में व्याप्त तथा अनेक रूपों में भासित एक ही परं तत्व की सत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

आकाशमेकंहि यथा घटादिषुपृथग्भवेत्। तथात्मानोह्यनिकेताजलाधारेष्विवांशुमान्।।
ब्रह्मधानात्मजाजलभूक्षितिधातवः। इमेलोकाएषचात्मातस्माच्चसचराचरम्।।[20]

अर्थात् जिस प्रकार एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है तथा एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलधाराओं के कारण अनेक प्रतीत होता है। उसी तरह एक ही आत्मा शरीर भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वायु, तेज, जल, पृथ्वी एवं आकाश ये पांचों भूत ब्रह्मात्मक हैं। यह समस्त लोक ब्रह्म का ही स्वरूप है उसी ब्रह्म से चराचर जगत्प्रतिभासित होता है। जिस तरह कुंभकार मिट्टी, दण्ड तथा चक्र समूह को एकत्रित करके उनके

संयोग से घडे का निर्माण करता है अथवा घर बनाने वाला जिस प्रकार मिट्टी, तिनके, एवं काष्ठ के प्रयोग से गृह निर्माण करता है, उसी उसी प्रकार परं ब्रह्म भी इन्द्रियों आदि कार्य- कारण समूह के द्वारा आत्मा से ही आत्मा का सृजन करता है। **'ब्रह्मज्ञानम्'** नामक ३७७वे अध्याय में सृष्टि प्रक्रिया को समझाते हुए अग्निदेव कहते हैं-

ब्रह्मणःआकाशंखाद्वायुर्वायुतोऽनलः। अग्नेरापोजलात् पृथ्वी ततःसूक्ष्मंशरीरकम्।।
अपञ्चीकृतभूतेभ्यःआसन्पञ्चीकृतान्यतः। स्थूलंशरीरंध्यात्वाऽस्माल्लयंब्रह्मणिचिन्तयेत्।।[21]

अर्थात् ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तथा उससे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। अपञ्चीकृतभूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति हुई है। स्थूल शरीर का ध्यान करके उसका ब्रह्म में लय होने का ध्यान करना चाहिए।पञ्चीकृत् भूत तथा उनके कार्यों को विराट् कहते हैं। जगत् की चार अवस्थाओं का वर्णन हमें अग्निपुराण में प्राप्त होता है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय। इस प्रकार संसार की चार अवस्थाएं, वेदान्त दर्शन के अनुकरण को दर्शाती हैं। इन चारों अवस्थाओं तथा उनके अभिमानी आत्माओं का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैंकि आत्मा का यह स्थूल शरीर अज्ञान से कल्पित है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान को धीरपुरुषों ने जागृत अवस्था कहा है।जाग्रत के अभिमानी आत्मा को विश्व कहते हैं। ये तीनों प्रणव के प्रथम वर्ण के आकार स्वरूप हैं। अपञ्चीकृत् भूत तथा उनके कार्य को लिङ्ग शरीर कहते हैं। दस इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ और मन एवं बुद्धि इस प्रकार सत्रह अवयवों से युक्त आत्मा के सूक्ष्म शरीर को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। जाग्रत अवस्था के संस्कार से उत्पन्न होने वाले विषयों के ज्ञान को स्वप्न कहते हैं तथा इस अवस्था के अभिमानी आत्मा को तैजस कहते हैं। वह जाग्रत के प्रपंच से रहित होता है। जब बाह्य ज्ञान के साधन भूत इन्द्रियों का पूर्ण रूप से लय हो जता है और केवल बुद्धि की स्थिति रहती है, उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था के अभिमानी आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं[22]।

उपर्युक्ततीनों अव्यवस्थाओं से परे नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, एवं चैतन्य स्वरूप अवस्था तुरीय अवस्था कहलाती है। इस अवस्था का साक्षी ज्योतिर्मयपरंब्रह्ममै स्वयं हूँ। मैं ही ज्ञान समाधि रूप परं ब्रह्म हूँ। संसार बंधन को विनष्ट करने वाला हूँ। चिरन्तनआनन्दमय, सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, अनन्त स्वरूप ब्रह्म मै ही हूँ। यह आत्मा परंब्रह्म है। वह परंब्रह्म में तुम स्वयं हो। इस तरह से गुरु के द्वारा बोध कराए जाने पर जीव यह अनुभव करता है कि देहादि से विलक्षण मैं ही परंब्रह्म हूँ। अग्निमहापुराण में अज्ञानजन्य संसार के बंधन से मुक्ति प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया गया है।जो पुरुष य़ह जान लेता है कि य़ह आत्मा परंब्रह्म है और वह परंब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा चिन्तन करने वाला पुरुष मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।आत्मस्वरूप का निरूपण करते हुए कहते है-

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारवर्जितम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिमुक्तं ब्रह्म तुरीयकम्।।
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तंसत्यमानन्दमद्वयम्।

ब्रह्माऽहमस्म्यहं ब्रह्म सविज्ञानं विमुक्त ओम् ।
अहं ब्रह्म परंज्योत्तिःसमाधिर्मोक्षदःपरः ।।[23]

समस्त विवेचनोपरान्त हम कह सकते हैं कि अग्निमहापुराण न केवल लौकिक विषयों की दृष्टि से अपितु आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों के सूक्ष्म एवं गंभीर विवेचन की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः सभी दार्शनिक विषयों यथा सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, एवं यमगीता के विषयों का सूक्ष्म विवेचन हमें प्राप्त होता है। अग्निमहापुराण के अध्ययन से अध्येता लौकिक अभ्युदय करते हुए निःश्रेयस के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।यहीकारणहैकिप्रस्तुत ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन करते हुए अग्निदेव ने इसे ब्रह्म स्वरूप बताया है-

आग्नेयंब्रह्मरूपंतेपुराणंकथितंमया ।[24]

सन्दर्भ -

---

[1]अग्निपुराणम्, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, ३८३/५२ (पूर्वार्द्ध)

[2]निरुक्त, महर्षि यास्क ,३ /१९

[3]वायुपुराण ,१/२०३

[4]अग्निपुराणम्, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी,१ /५

[5]नित्यशुद्धत्वाद् येऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । ब्रह्मसूत्र / शांकरभाष्य-१।१।१।१

[6]तैत्तिरीयोपनिषद्,भृगुवल्ली

[7]छान्दोग्योपनिषद्,३।१४।१

[8]तत्रैव, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

[9]अयमात्माब्रह्म।बृहदारण्यकोपनिषद्- २।५।१९

[10]विवेकचूडामणि – २०(पूर्वार्द्ध)

[11]ऋग्वेदसंहिता – १।१६४।२०

[12]अग्निपुराणम् – १।४

[13]अग्निपराणम्,३७४।६

[14]तत्रैव, ३७४।२९-३१

[15]श्वेताश्वतरोपनिषद् – ३।३

[16]तत्रैव- ३।१९

[17]अग्निपुराणम्,३७६।२४-२५

[18]मुण्डकोपनिषद – १।१।६

[19]श्वेताश्वतरोपनिषद् - ६।११

[20]अग्निपुराणम्,३७६-१४-१५

[21]तत्रैव, ३७७-८-९

[22]तत्रैव, ३८८-११-१९

[23]तत्रैव – ३७८।२२

[24]तत्रैव३८३-१(पूर्वार्द्ध)

संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध कविशिक्षा ग्रन्थ

• सोनाली बाजपेई*

शोधसार - किसी काव्य या कला के प्रारम्भिक विवरणों से ज्ञात होता है कि अपने आदि स्वरूप में अगाध तथा अपरिमित सौन्दर्य से ओतप्रोत इन विद्याओं का समय की गति मे इतना ह्रास हो गया कि वर्तमान में कवि प्रारम्भिक रूपों को अपनी कल्पनामात्र तथा पूर्वग्रन्थों के अभ्यास तथा उनमें उल्लेखित शब्दपरम्परा के द्वारा ही साकार कर पाने में समर्थ होता है। कविशिक्षा ग्रन्थ कवियों को इन्ही काव्यसृजन की विधियों, काव्यगत रूढियों, कविसमय तथा काव्यगत गुण-दोषों का परिचय कराते हुए सैद्धान्तिक-हेतुओं को समझाते है तथा प्रायोगिक सलाह भी देते है। प्रस्तुत शोधपत्र में इन्ही कविशिक्षा ग्रन्थों का विवेचन किया गया है।

बीजशब्द - कविशिक्षा, कवि, काव्यमीमांसा, कविकण्ठाभरण, काव्यशिक्षा, काव्यकल्पलतावृत्ति, कविकल्पलता, अलङ्कारशेखर, कविसमय, रीति, परम्परा।

ज्ञान की अनवरत परम्परा सदैव ही स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होने की रही है, ज्ञान का जो स्रोत स्थूल तत्वों से प्रारम्भ होता है वह शनैः शनैः सूक्ष्मता के समूद्र में अगाध विद्वता को आत्मसात नही करता परन्तु उस परम्परा की नींव का निर्माण अवश्य करता है, जिसपर ही विद्वान बौद्धिकता के शिखरों का निर्माण करते है, आचार्य राजशेखर शास्त्रों की इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए कहते है कि जिसप्रकार नदियों का प्रवाह आरम्भ में लघु तथा बाद में विस्तृत होता जाता है, उसीप्रकार शास्त्रपद्धति भी कार्य करती है-

सरितमिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।[1]

संस्कृत वाङ्मय में वैदिक साहित्य से ही कविशिक्षा के रूप में ही ऋग्वैदिक सिद्धान्तों की स्थिरता तथा नैमित्तकता प्राप्त होती है, छन्दों का स्थिर रूप तथा अलङ्कारों की अलौकिकता काव्य के प्रथम बिन्दुओं का सूत्रपात करती है, काव्यतत्त्वों के अतिरिक्त ऋग्वेद में काव्यसिद्धान्त भी प्राप्त होता है-

*शोधच्छात्रा, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सक्तुमिव तितउना पुनन्तों यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।[2]

संस्कृत साहित्य के विकास क्रम में कविशिक्षा की पद्धति भी विस्तार को प्राप्त हुई है, कविशिक्षा ग्रन्थों में कवि को केन्द्र में रखकर ही विषयों का समावेश किया गया है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित कविशिक्षा से सम्बन्धित तथ्यों का विवेचन किया गया है, परन्तु कविशिक्षा को व्याख्यापित करने के उपरान्त भी इन समस्त ग्रन्थों को कविशिक्षा की श्रेणी में नही रखा जा सकता है, क्योंकि इन ग्रन्थों का मुख्य विषय कविशिक्षा ना होकर काव्यतत्वों की व्याख्या करना रहा है। कविशिक्षा की श्रेणी में उन्हीं ग्रन्थों को रखा जायेगा जिनका मुख्य विषय ही कविशिक्षा तत्वों का समुचित विवेचन करना है, यह कविशिक्षा ग्रन्थ है-

1. **काव्यमीमांसा – आचार्य राजशेखर (9वीं शती का अन्त, 10वीं का प्रारम्भ)**
2. **कविकण्ठाभरण – आचार्य क्षेमेन्द्र (1028 ई० - 1063 ई० तक)**
3. **काव्यशिक्षा – आचार्य विनयचन्द्रसूरी (13वीं शती का उत्तरार्ध)**
4. **काव्यकल्पलतावृत्ति – आचार्य अमरचन्द्र, आचार्यअरिसिंह (13 वीं शती का उत्तरार्ध, 14वीं शती का पूर्वार्ध)**
5. **कविकल्पलता – आचार्य देवेश्वर (14वीं शती)**
6. **अलङ्कारशेखर – आचार्य केशवमिश्र (16वीं शती)**

काव्यमीमांसा –"काव्यशास्त्र की इसी परम्परा में आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्वों का विवेचन किया है जिसमें केन्द्रता काव्य की रही है, कवि की नही परन्तु आचार्य राजशेखर ने चिन्तन की नवीन परम्परा का आरम्भ किया तथा अपने शास्त्रीय विवेचन का आधार प्रथमत: कवि को बनाया, इसलिये आचार्य राजशेखर को कविशिक्षा का आदि आचार्य भी कहा जाता है।"

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर आचार्य राजशेखर का समय विक्रमाब्द ९३७-९७७ (ई० सन् ८८०-९२०) निर्विवाद रूप से माना जाता है।[3] आचार्य राजशेश्वर के समय तक काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि सम्प्रदाय प्रचलित हो चुके थे, भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्यायें हो चुकी थी और रस का क्षेत्र नाटक तक ही सीमित नही था, अपितु उसका विस्तार काव्य तक मान्य हो चुका था। अलङ्कारशास्त्र को भी उत्तरवर्ती आचार्यों ने पर्याप्त प्रश्रय दिया था, अलङ्कार की सीमा का भी पर्याप्त वर्धन हो चुका था। भामह का अनुकरण कर उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों ने इसका यथेष्ट पोषण किया था। रीति भी वैज्ञानिक आधार पर काव्य में मान्यता ही नही प्राप्त कर सकी थी अपितु गुण के मूल आधार पर वामन ने उसे काव्यात्मा के उत्कृष्ट पद पर अभिषिक्त कर दिया था, ध्वनि-सम्प्रदाय की अभी शैशवावस्था थी, आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा घोषित कर चुके थे लेकिन अभी उनका मत साहित्य-आलोचना क्षेत्र में विशेष समादृत नही हो सका था। इस प्रकार राजशेखर के काल तक काव्यशास्त्र का विस्तार बहुत अधिक हो चुका था तथा आलोचना के विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित थे तथा विभिन्न आचार्यों ने उन्हें यथेष्टप्रश्रय प्रदान किया था। राजशेखर

की काव्यमीमांसा सुदूरपूर्व से आती हुई एक परम्परा की कड़ी है, राजशेखर ने काव्यमीमांसा अट्ठारह अधिकरणों में विभक्त है,परन्तु इस अट्ठारह अधिकरणात्मक काव्यमीमांसा का केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जो अष्टादश अध्यायों में विभक्त है-

1. शास्त्रसंग्रहः
2. शास्त्रनिर्देशः
3. काव्यपुरुषोत्पत्तिः
4. शिष्यप्रतिभे
5. व्युत्पत्तिविपाकाः
6. पदवाक्यविवेकः
7. वाक्यविधयः
8. वाक्यार्थयोनयः
9. अर्थानुशासनम्
10. कविचर्या राजचर्या च
11. शब्दार्थहरणोपायाः
12. अर्थहरणोपायाः
13. अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः
14. कविसमयः
15. गुणसमयस्थापना
16. स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्य
17. देशकालविभागः
18. कालविभागः

प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्दश अध्याय में कवि-समय (कविशिक्षा) का विवेचन प्राप्त होता है, पञ्चदश अध्याय में गुणगत कविसमय की व्याख्या की गई, षोडश अध्याय में स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि-समय का विवेचन है तथा सप्तदश अध्याय में देश-विभाग का वर्णन है तथा अष्टादश अध्याय में काल का स्वरूप दर्शाया गया है। काव्यमीमांसा सैद्धान्तिक विषयों के साथ व्यवहारिक विषयों का भी विवेचन करती है, इसमेंकाव्यनिर्माण से सम्बद्धित जितने भी व्यवहारिक प्रश्न है उस समस्त प्रश्नों का यथोचित विवेचन किया गया है तथा उपयोगी निर्देश भी किया गया है।

कविकण्ठाभरण-आचार्य राजशेखर के पश्चात् आचार्य क्षेमेन्द्र का स्थान प्राप्त होता है, क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण शुद्ध कविशिक्षा ग्रन्थ है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा- 'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयंकृतः' तथा 'कविकण्ठाभरण'में 'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः'काले किलायं कृतः लिखकर अनन्तराज के नाम का उल्लेख किया है, अनन्तराज ने कश्मीर में १०२८ ई० से लेकर १०६३ तक राज्य किया है, वस्तुतः यही आचार्य क्षेमेन्द्र का समय माना जा सकता है। क्षेमेन्द्र की वाणी ने संस्कृत सारस्वत की अनेक शाखाओं में अनन्यपरतंत्रतया विहार किया है। kshemendra holds a unique Position in the history of Sanskrit Literature. He appears as poet, dramatist, rhetorician, Lexicographer and historian. He has written numerous works which form important landmarks in several fields of Sanskrit Literature. Almost every important branch of Sanskrit Literature has been enriched by the facile pen of this versatile genius.[4]

आचार्य क्षेमेन्द्र का यह लघुकाय ग्रन्थ कविशिक्षापरक ग्रन्थों में वैशिष्ट्यपूर्ण है, क्षेमेन्द्र की महत्ता मात्र नियमों के निर्देशन में ही नहीं है, नियमों के प्रयोग को प्रत्यक्ष करके उन्होंने विषय को

महत्व प्रदान कर दिया है। इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य शिष्यों को उपदेश देना है तथा विज्ञों के विशेष ज्ञान हेतु अ-कवि को कवित्वप्राप्ति के पांच विषयों का पांच सन्धियों में निरूपण किया है-

शिष्याणामुपदेशाय विशेषाय विपश्चिताम्। अयं सरस्वतीसारः क्षेमेन्द्रेण प्रदर्श्यते।।
तत्राकवेः कवित्वप्राप्तिः शिक्षां प्राप्तगिरः कवेः। चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तो गुणदोषोद्गतिस्ततः।।
पश्चात्परिचयप्राप्तिः इत्येते पञ्च संधयः। समुदिष्टा क्रमेणैषां लक्ष्यलक्षणमुच्यते।।[5]

कविकण्ठाभरण में स्वाभिमत विषय का प्रतिपादन आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'सन्धि' नामक पांच अध्यायों में विभक्त किया है, प्रथम सन्धि में कवित्वशक्ति प्राप्त करने के उपायों का विवेचन तथा दिग्दर्शन किया है, इसी दिव्य प्रयत्न के स्वरूप के विशदीकरण के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने शिष्यों का अल्पप्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य एवं असाध्य नामक त्रिविध वर्ग किया है, इनमें से प्रत्येक वर्ग के कवि को काव्य-निर्मिति के लिये कैसे प्रयास करना इष्ट है, इसका पथप्रदर्शन किया है, द्वितीय सन्धि के प्रारम्भ में छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी, सकलोपजीवी और भुवनोपजीव्य नामक कवियों के पञ्चप्रकारों का सोदाहरण निरूपण किया गया है, तत्पश्चात् भाषाप्रभु कवि को 'शतोपदेश'किया गया है तथा कविचर्या का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, तृतीय सन्धि का प्रधान विषय है चमत्कार निरूपण। आचार्य क्षेमेन्द्र ने उद्घोष किया है कि जो ग्रन्थकार काव्य में चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकता है वह कवि नही है-

'नहि चमत्कारविरहितस्यकवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्।[6]

तत्पश्चात् चमस्कार के पुरोलिखित दस प्रकारों का उद्देश करके उनका उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। इस प्रकार चमत्कृति के निरुपण के पश्चात् चतुर्थ सन्धि में क्षेमेन्द्र काव्य के गुणदोषों के विवेचन का प्रारम्भ करते हैं, इनकी दृष्टि में शब्दनिर्दोषता, अर्थनिर्दोषता, रसनिर्दोषता ये तीन काव्यगुण है; तथा यही तीन काव्य के गुण भी है। काव्य के संभाव्य पांच भेद प्राप्त होते है। क्षेमेन्द्र ने पञ्चम सन्धि के प्रारम्भ में शास्त्रीयज्ञान की महिमा गायी है तथा इसके पश्चात् तर्क, व्याकरण, राजनीति, धर्मशास्त्र इत्यादि अट्ठाईस शास्त्रों के ज्ञान की सोदाहरण चर्चा की है।

ग्रन्थ के अन्त में क्षेमेन्द्र ने,परिश्रमशील कवि विद्वत्समाज में आत्मविश्वास के साथ विहार करें और उन्हे पुण्य की प्राप्ति हो जाए ऐसी शुभकामनाएं प्रकट की हैं।

काव्यशिक्षा-काव्यशिक्षा के अध्ययन से परिज्ञात होता है कि विनयचन्द्रसूरि न केवल अलङ्कारशास्त्र के ज्ञाता थे, अपितु व्याकरण, कोषादि पर भी उनका समान अधिकार था।बाह्य तथा अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर उनका समय १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।[7]

काव्यशिक्षा छः परिच्छेदों में विभक्त है प्रथम परिच्छेद का नाम 'शिक्षा परिच्छेद' है, इसमें काव्य-स्वरूप, काव्य-शिक्षा, कविसमय प्रसिद्धि एवं काव्य लक्षणादि का उल्लेख है। द्वितीय परिच्छेद का नाम 'क्रियानिर्णय परिच्छेद' है, इसमें विभिन्न क्रियाओं के विषय में निर्णय किया गया हैं, तृतीय परिच्छेद का नाम 'लोक कौशल्यपरिच्छेद' है। इसमें लोक व्यवहार के लिये एक से अट्ठारह, २८, ३२, ३४, ४२ एवं ८४ लाख संख्या वाली वस्तुओं की गणना की गई है, अन्त में खड्गादि शास्त्रों का

नाम संग्रह है। चतुर्थ परिच्छेद का नाम वीजव्यावर्णन है, जिनेन्द्र भगवान उनके माता-पिता नगरी चिह्न प्रतिहार्य, देशना आदि का वर्णन है, ब्रह्मा, हरि विनायक, बुद्ध, बलभीनाथ, श्वेताम्बराचार्य, ब्राह्मण, योगी, आश्रम बीज, राजद्वार वर्णन-बीज तथा योगादि के लक्षणों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद का नाम 'अनेकार्थी शब्द संग्रह'है इसमें पञ्चाक्षर काण्ड अव्ययार्थ काण्ड, मूलाक्षरार्थ काण्ड, अन्त्याक्षर वर्णकाण्ड आदि अनेकार्थ शब्दों का वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद का नाम 'रसभावनिरूपण'है, इसमें रसलक्षण, उसके भेर स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, सात्विकभाव, रसाभास तथा भावाभास पर विचार किया गया है। ग्रन्थारम्भ में ही आचार्य ने काव्यशिक्षा का हेतु कहा है -

नत्वा श्रीभारतीं देवी वप्पभट्टिगुरोर्गिरा। काव्यशिक्षां प्रवक्ष्यामि नानाशास्त्रनिरीक्षणात्।।
विद्वन्मानितया नैव नैव कीर्तिप्रलोभनात्। किन्तु बालावबोधाय शास्त्रादेनां लिखाम्यहम्।।[8]

काव्यकल्पलतावृत्ति-आचार्य अरिसिंह एवं अमरचन्द्र नाम जैन विद्वद्वय ने कवितारहस्य अथवा काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। साक्ष्यों के आधार पर आचार्य का समय १३वीं शती का उत्तरार्द्ध तथा १४वीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है।[9] काव्यकल्पलता की सूत्र रचना आचार्य अरिसिंह ने तथा आचार्य अमरचन्द्र ने वृत्तिभाग की रचना की है। सूत्ररचना में आचार्य ने लिखा है -

वाचं नत्वा महानन्दकरसत्काव्यसम्पदे।
कविशिक्षामिमां वच्मि काव्यकल्पलताह्वयाम्।।[10]

तथा वृत्तिभाग में आचार्य अरिसिंह का वर्णन प्राप्त होता है-

विमृश्य वाङ्मयं ज्योतिरमरेण यतीन्दुना।
काव्यकल्पलताख्येयं कविशिक्षा प्रतन्यते।।
सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोर्मत्वाऽरिसिंह सुकवेः कवितारहस्यम्।
किंचिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किंचिद्वयाख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्।

काव्यकल्पलतावृत्ति चार प्रतानों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रतान स्तबकों में विभक्त है-

चत्वारो ऽत्र च्छन्दःशब्दश्लेषार्थसिद्धिनामानः।
क्रमशस्तताः प्रताना: पञ्चचतुष्पञ्चसप्तभिः स्तबकैः।।[11]

अत्र काव्यकल्पलतायां छन्दः सिद्धिप्रतानः पञ्चभिः स्तबकैः शब्दसिद्धि - प्रतानश्चतुर्भिः स्तबकैः, श्लेषसिद्धि- प्रतानः पञ्चभिः स्तबकैः, अर्थसिद्धिप्रतानः सप्तभिः स्तबकैः इत्येते तता विस्तीर्णाः। लताधर्मत्वात् प्रतानस्तबकारोप।[12]

प्रस्तुत ग्रन्थ छन्दसिद्धि, शब् सिद्धि, श्लेषसिद्धि तथा अर्थसिद्धि नामक चार प्रतानों में विभक्त है, प्रत्येक प्रतान में क्रमशः ५ , ६ , ५ तथा ७ स्तबक है, जिनकी कुल संख्या २१ है। छन्दःसिद्धि नामक प्रथम स्तबक का नाम 'अनुष्टुप शासन' है, द्वितीय स्तबक का नाम 'छन्दोभ्यास' है, तृतीय स्तबक छन्दपूर्ति से सम्बन्धित है, चतुर्थ स्तबक का नाम 'वाद-शिक्षा' है, पांचवे स्तबक का नाम 'वर्ण्यस्थिति' है इसमें महाकाव्यादि प्रबन्धों में वर्णनीय राजा, मन्त्री, पुरोहित, कुमार, सेनापति, देश,

ग्राम, सरोवर, समुद्र कामक्रीडा का विशद वर्णन प्राप्त होता है। शब्दसिद्धि नामक द्वितीय प्रतान के प्रथम स्तबक का नाम रूढयौगिक मिश्र है, द्वितीय स्तबक में वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों, व्यक्तियों अर्थ देवताओं के यौगिक पर्यायवाची शब्दों का सङ्कलन किया गया है, तृतीय स्तबक में अनुप्रास-सिद्धि साधारण शब्दों का संग्रह है, चतुर्थ स्तबक में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का विस्तृत विवेचन है।

श्लेषसिद्धि नामक तृतीय प्रतान के प्रथम स्तबक में पदच्छेद द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थो के साथ श्लेष का विशद वर्णन है, दूसरे स्तबक का नाम सर्ववर्णन है। तृतीय स्तबक का नाम उद्दिष्ट वर्णन है, चतुर्थ स्तबक का नाम अद्भुत-विधि है इसमें वर्ण, भाषा, लिङ्ग, पद-प्रकृति, प्रत्यय वचन और विभक्ति आदि का उल्लेख है। पञ्चम स्तबक का नाम 'चित्रप्रपञ्च' है।

अर्थसिद्धि नामक चतुर्थ प्रतान के प्रथम स्तबक में 'उपमा'पर विस्तृत विचार प्रस्तुत है, द्वितीय स्तबक में वर्णों का सङ्कलन है, तृतीय स्तबक में भिन्न कार्य के वर्णन की विधि है, पंचम स्तबक में कवि को किस प्रकार भिन्न-भिन्न नवीन कल्पनाओं का आश्रय लेकर रचना करनी चाहिए का वर्णन है। षष्ठ स्तबक में एक से बीस, सौ से सहस्र वाचक शब्दों का संकलन है, सप्तम स्तबक में समस्यापूर्ति हेतु कवियों के लिए आवश्यक व्यवहारिक ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

काव्यकल्पलता-अमरचन्द्र के उपरान्तआचार्य देवेश्वर का उल्लेखनीय स्थान है, कविकल्पलता का आधार 'काव्यकल्पलता' है, आचार्य देवेश्वर का समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। कविकल्पलता चार स्तबकों शब्द, श्लेष, कथा, अर्थ में विभक्त है तथा यह स्तबक चार, पाँच ,छः तथा सात कुसुमों में क्रमशः विभाजित है-

मालवेन्द्रमहामात्यश्रीमद्वाग्भटनन्दनः। देवेश्वरः प्रतनुते कविकल्पलतामिमाम्।।
शब्दश्लेषकथार्थाख्याश्चत्वारस्तवका इह। ते चतुः पञ्चषट्सप्तकुसुमैरन्विताः क्रमात्।।
तत्राद्यस्तबकेच्छन्दोभ्यासः सामान्यशब्दकः। वर्णस्थितिरनुप्रासः कुसुमानि यथाक्रमम्।।[13]

शब्द नामक प्रथम स्तबक छन्दस्मास, सामान्यशब्दनाम, वर्णस्थिति तथा अनुप्रास नामक चार कुसुमों में विभाजित है। प्रस्तुत स्तबक में छन्दसिद्धि हेतु सुयोग्य पद हेतु उचित स्थानादि का चयन, नाम-धातु आदि का विभाग, एकाक्षर, द्वयाक्षरादि का निर्देश, पुल्लिङ्ग- स्त्रीलिङ्ग आदि का निर्देश, वर्ण्यस्थिति आदि का विवेचन प्राप्त होता है।

श्लेष नामक द्वितीय स्तबक उद्दिष्टवर्णन, वर्ण्यवर्णन, सङ्कीर्ण (प्रकीर्ण) संख्या तथा रूढियौगिकमिश्राः नामः पञ्च कुसुम प्राप्त होते है।

कथास्तबक नामक तृतीय अध्याय में राजदर्शनम्, गङ्गास्तुतिः, भगवत्पादानुभाषणम्, विप्रसम्भाषणम्, तडागादिवर्णनम्, वादितर्जनम् नामक षट्कुसुम प्राप्त होते है।

इसी प्रकार अर्थस्तबक नामक अध्याय में अर्थोत्पादनम्, अद्भुतम्, चित्रम्, सादृश्यम्, रूपकादिकम, समस्यापूरणोपायः, समस्याः नामक सप्तकुसुम प्राप्त होते है। कविकल्पलता कवि शिक्षा का समग्र रूप से सूक्ष्म विवेचन करती है।

अलङ्कारशेखर-'अलङ्कारशेखर'में, पूर्ववर्ती प्रायः सभी विचारधाराओं का सम्मिलित रूप प्राप्त होता है। रचयिता आचार्य केशव मिश्र १६वीं शती के काव्यशास्त्रियों में विशेषतया उल्लेखनीय है, इन्होने अलङ्कार सूत्रकार भगवान शौद्धोदनि द्वारा रचित अलङ्कार सूत्रों को अपने ग्रन्थ में मूल रूप से संग्रहीत कर उन पर वृत्ति लिखी है जिसकी घोषणा आचार्य स्वयं करते हैं –

अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवान शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूपमाह।[14]

श्रुतमेवाऽन्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।
काव्यालङ्कारविद्यायां शौद्धोदनिरसूत्रयत्।।[15]

आचार्य केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' की रचना शौद्धोदनि की कारीकाओं के आधार पर की थी। यह अलङ्कारशेखर अष्ट रत्न तथा द्वाविंशति मरीचियों में विभक्त है।

प्रथम 'उपक्रम रत्न' में फलस्वरूपफलकारण,रीत्यादि मरीचि तथा वृत्ति मरीचि नामक तीन मरीचियां प्राप्त होती है जिनमें क्रमशः काव्य की परिभाषा, काव्य हेतु, वैदर्भी आदि रीतियों, शब्द वृत्तियों का विवेचन प्राप्त होता है। दोष नामक द्वितीय रत्न में पददोष, वाक्यदोष तथा अर्थदोष नामक तीन मरीचियां प्राप्त होती है जिसमें पदगत अष्टदोष, वाक्यगत द्वादशदोष तथा अर्थगत अष्टदोषों की व्याख्या प्राप्त होती है। तृतीय गुणरत्नमें शब्दगुण, अर्थगुण, वैशेषिकगुण नामक तीन मरीधियां प्राप्त होती है जिसमें शब्दगत पञ्चगुणों, अर्थगत- भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्त तथा सुधर्मिता आदि का विवेचन प्राप्त होता है। चतुर्थ अलङ्गर रत्नमें शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा रूपक मरीचि प्राप्त होती है जिसमें अष्टशब्दालङ्कार, चतुर्दश अर्थालङ्कार तथा रूपक के भेद प्रभेदों का वर्णन प्राप्त होता है। पञ्चम वर्णकरत्नमें योषित वर्णन मरीचि तथा पुरुष वर्णन मरीचि नामक दो मरीचियां समाहित है जिसमें उत्प्रेक्षा समासोक्ति की परिभाषाओं तथा उदाहरणों का तथा नायक की शारीरिक विशेषताओं का वर्णन प्राप्त होता है। षष्ठकविसम्प्रदायरत्नचार मरीचियों से समन्वित है ये है नियम मरीचि, वर्णनीय मरीचि, शुक्लादि नियम मरीचि, संख्या नियम मरीचि, जिसमें सादृश्य वाचक शब्दों तथा कवि समयों का वर्णन, विभिन्न वर्ष -विषयों- राजा, रानी, प्रदेश, नगर, नही आदि की वर्णन विधि तथा उनके गुणों का वर्णन, प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं के स्वरूप तथा रंग, एक से लेकर एक हजार तक की संख्या को व्यक्त करने वाली वस्तुओं के नाम, विविध प्रकार के चमत्कारों की रूपरेखा आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सप्तम कविसामर्थ्य रत्नमें दो मरीचियां है- चित्राद्युपकार मरीचि, समस्यापूरण मरीचि में समस्यापूर्ति तथा रसों का वर्णन प्राप्त होता है।

अष्टम विश्राम रत्नमें दो मरीचियों में समन्वित है- रसमरीचि, रसदोष मरीचि, जिसमें रसदोष तथा रसों के अनुकूल वर्णों का विवेचन प्राप्त होता है।

उपरोक्त कविशिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों ग्रन्थों में भी कवि सम्बन्धी आचार संहिता का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है -

1. **काव्यलङ्कारसूत्र - आचार्य वामन**

2. **काव्यानुशासन - आचार्य हेमचन्द्र**
3. **वाग्भटालङ्कार - आचार्य वाग्भट**
4. **अलङ्कारचिन्तामणि – आचार्य अजितसेन**

परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थों का प्रमुख प्रयोजन काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन करना रहा है अतः इनकी गणना स्वतन्त्र कविशिक्षा ग्रन्थों में नहीं की जाती है। इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में प्रो. डॉ. जनार्दन प्रसाद पाण्डेय 'मणि' ने समीक्षा ग्रन्थ 'संस्कृतवाङ्मये कविशिक्षा' का प्रणयन किया है जिसमे कविशिक्षा को विस्तृत रूप में व्याख्यायित किया है।

सन्दर्भ -

---

[1]काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृष्ठ 9

[2]ऋग्वेद 10/71/2

[3]संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (अष्टम खण्ड - काव्यशास्त्र) पृष्ठ 153

[4] Kshemendra Studies (page no. 33)

[5]कविकण्ठाभरण 1/2, 3, 4

[6]कविकण्ठाभरण पृष्ठ संख्या 76

[7]संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (अष्टम खण्ड - काव्यशास्त्र) पृष्ठ 230

[8]काव्यकल्पलता 1/1

[9]संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (अष्टम खण्ड-काव्यशास्त्र) पृष्ठ 228

[10]काव्यकल्पलतावृत्ति 1/1

[11].काव्यकल्पलतावृत्ति

[12]काव्यकल्पलतावृत्ति 1/2

[13]कविकल्पलता 1/1/2,6,7,8

[14]अलङ्कारशेखर पृष्ठ संख्या 2

[15]तत्रैव पृष्ठ संख्या 92

संस्कृत रूपकों में वाचिक अभिनय की भाषाएं

• आशमा*

शोधसार –प्रस्तुत शोधपत्र में भाषा की परिभाषा का विवेचन करते हुए वाचिक अभिनय में उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ नाट्यशास्त्र के अनुसार भाषा को वर्गीकृत करते हुए परवर्ती नाटकों में भाषा के अनुप्रयोग को परिलक्षित किया गया है। इसके साथ कौन सा पात्र किस भाषा में विचार-विनिमय करेगा इसका भी विवेचन किया गया है।

बीजशब्द – भाषा, डॉ. सत्यकाम वर्मा, अमर सिंह, सुमित्रानन्दन पंत, डॉ. महावीर सरल जैन, डॉ. कपिल देव द्विवेदी, डॉ. भोलानाथ तिवारी, भरतमुनि, संस्कृत पाठ्य, प्राकृत पाठ्य, मागधी, अवन्ती, प्राच्या, सौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका, दाक्षिणात्या, नीतिशतक, श्यामसुन्दर दास।

हमारे भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति जिस माध्यम के द्वारा सम्पन्न होती है उसे हम भाषा के नाम से सम्बोधित करते हैं। भाषा के अभाव में कोई भी व्यक्ति अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति का आदान-प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। अतः कोई भी सार्थक सम्प्रेषण भाषा के बिना सम्भव नहीं है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के भाष् धातु से हुई है जिसका व्युत्पत्ति परक अर्थ व्यक्त या प्रकट की गई वाणी होता है। **'भाष्यते व्यक्तवाग्रूपेण अभिव्यज्यते इतिभाषा'**[1] अर्थात् प्रकट वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है उसे भाषा कहते हैं।

डॉ० सत्यकाम वर्मा लिखते है "संस्कृत वाङ्मय में भाषा का पर्यायवाची शब्द सरस्वती है। भाषा का जन्म कल्याणविधायिनी शक्ति और सामाजिक क्रिया के रूप में हुआ है। भाषा सामाजिक सहयोग का सबसे व्यापक साधन है। वह किसी व्यक्ति की कृति नहीं है। मनुष्य और मनुष्य के बीच सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत अपने भावों तथा विचारों को एक दूसरे तक सम्प्रेषित करने की तीव्र उत्कण्ठा ने ही वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति को सम्पन्न किया। भाषा की प्रकृति निरन्तर प्रवाहमयी और परिवर्तनीय है। उसका विकास मुख-सुख और प्रयत्नलाघव के सिद्धान्त के अनुसार होता रहता है। भाषा में नये शब्द आते रहते हैं और पुराने शब्द छूटते जाते हैं।"[2]

भाषा का मूल रूप ध्वनियों पर आधारित होता है। भाषा को एक परिभाषा के रुप में पिरोना

*शोधच्छात्रा, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

अत्यन्त दुरूह कार्य है। परन्तु कतिपय भाषाविदों और विद्वानों ने भाषा को परिभाषित करने का सराहनीय प्रयास किया है। अमर सिंह ने अमरकोश में लिखा है- **"ब्राम्ही तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती"** ।[3]

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने भाषा के विषय में कहा है- भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है, यह विश्व की हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है और उसमें रागतत्त्व को प्राणतत्त्व मानते हैं।[4]

डॉ० महावीर सरल जैन के मतानुसार - परम्परित होते हुए भी परिवर्तनशील तथा यादृच्छिक वाक् प्रतीकों की विशिष्ट-जटिल तथा क्रमबद्ध व्यवस्थाओं की व्यवस्था का नाम भाषा है।[5]

डॉ० कपिल देव द्विवेद्वी भाषा की परिभाषा लिखते है–

स्फुटवाक्करणोपात्तो भावाभिव्यक्तिसाधकः।
संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषेत्युच्यते बुधैः।।[6]

डॉ० भोलानाथ तिवारी के मतानुसार - भाषा मानव उच्चारण अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचार विनिमय करते हैं, लेखक कवि या वक्ता के रूप में अपने अनुभवों एवं भावों आदि को व्यक्त करते हैं तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता के सम्बन्ध में जाने अनजाने जानकारी देते हैं।[7]

नाटक आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा को भरतमुनि ने चार भेदो में विभाजित किया है–

(क) अतिभाषा (ख) आर्यभाषा
(ग) जातिभाषा (घ) जात्यन्तरी (योन्यन्तरी) भाषा

भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः। संस्कृतं प्राकृतश्चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च। तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता।।[8]

समस्त देवगण अतिभाषा का प्रयोग करते थे एवं आर्य भाषा को बोलचाल के रूप में भूपाल प्रयोग करते थे। अनार्य एवं म्लेच्छों के द्वारा जातिभाषा का प्रयोग किया जाता था। यह भाषा अर्थात् जातिभाषा भारत वर्ष में बोली जाती थी। जात्यन्तरी या योन्यन्तरी भाषा गांव में एवं जंगल में रहने वाले पशुओं तथा पक्षियों द्वारा प्रयोग में लाई जाती थी। इसी क्रम में भरतमुनि ने जातिभाषा के पाठ्य को दो भागों में विभाजित किया -

(क) संस्कृत पाठ्य (ख) प्राकृत पाठ्य

संस्कृत पाठ्य का सृजन व्यञ्जन, स्वर-सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धित, समास तथा नामधातु के द्वारा होताहै –

व्यञ्जनानि स्वराश्चैव सन्धयोऽथ विभक्तयः। नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा।।
एतैरङ्गैः समासैश्च नानाधातुसमाश्रयम्। विज्ञेयं संस्कृतं पाठ्यं प्रयोगश्चनिबोधत।।[9]

संस्कृत पाठ्य का प्रयोग चारों कोटि के नायक अर्थात् धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत्त तथा धीरप्रशान्त नायक करते थे। धीरोदात्त कोटि के नायक राम 'उत्तररामचरितम्' नाटक के प्रथम अंक में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हुए कहते है-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[10]

'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक का नायक उदयन धीरललित नायक है जो संस्कृतपाठ्य का प्रयोग करते हुए दिखाई पड़ता है –

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते। दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।।
तैरद्यापि सशल्यमेवहृदयं भूयश्च विद्धा वयम्। पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठःशरः पातितः ॥[11]

भट्ट नारायण कृत वेणीसंहार नाटक का नायक भीमसेन धीरोद्धत्त कोटि का नायक है। यह संस्कृत पाठ्य का प्रयोग करता है–

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाऽभिघातः, सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानाऽवनद्धघनशोणितशोणपाणि-रुत्तंसयिष्यति कचांस्तवदेवि! भीमः।।[12]

मृच्छकटिकम् नामक प्रकरण का नायक चारुदत्त धीरप्रशान्त कोटि का नायक है जो संस्कृत पाठ्य का प्रयोग करता है –

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।।[13]

संस्कृत पाठ्य संस्कार के गुणों से हीन होकर परिवर्तित स्वरूप वाला हो जाता है तथा वह प्राकृत पाठ्य के रूप मे जाना जाता है –

एतदेवं विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्।।[14]

प्राकृत पाठ्य के मुख्यत: तीन भेद होते है-(क) समान शब्द या तत्सम से होने वाला प्राकृत पाठ्य, (ख) विभ्रष्ट या तद्भव शब्दों से होने वाला प्राकृत पाठ्य (ग) देशी शब्दोंसे होने वाला प्राकृत पाठ्य।

त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगेसमासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥[15]

संस्कृत के समान प्राकृत में भी कमल, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल आदि समान शब्दों से निर्मित वाक्यों का प्रयोग किया जाता है –

कमलामलरेणुतरङ्गलोलसलिलादिवाक्यसम्पन्नम्।
प्राकृतबन्धेष्वेवं संस्कृतमपि योगमुपयाति ॥[16]

भरतमुनि ने प्राकृत पाठ्य का उपविभाजन करके उसके अन्तर्गत सात भाषाओंको सम्मिलित किया। ये सात भाषाएहैं–

(क) मागधी, (ख) अवन्ती, (ग) प्राच्या, (घ) सौरसेनी या शूरसेनी, (ङ) अर्धमागधी
(च) बाल्हीका तथा(छ) दाक्षिणात्या

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाल्हीकादाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिताः।।[17]

नाट्यशास्त्र में इन सात प्राकृत भाषाओं के उपयोग एवं व्यवहार की भी विस्तार से चर्चा की गई है। राजाओं के अन्तःपुर के सेवक तथा रक्षक मागधी भाषा का प्रयोग साधारण बोलचाल की भाषा के रूप में करते थे।चेट, राजपुत्र,श्रेष्ठीजन आदि अर्धमागधी भाषा का प्रयोग करते थे।मृच्छकटिक में चेटअर्धमागधी भाषा का प्रयोग करता है –

चेटः - (जनान्तिकम्) अले। तेल्लेण विणापदी विआ ओपज्जाली अन्ति।[18]

विदूषक प्राच्या नामक प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है यथा –

विदूषक –भो,किंएदं। अणुववण्णं क्खुईदि संतुइ। कदा विसप्पुरिसासो अवत्तव्वा ण होन्ति। णं पवादेविणिक्कम्पागिरीओ।[19]

धूर्त वृत्ति वाले पात्र अवन्ति भाषा का प्रयोग करते थे। नायिका तथा नायिका की सखियां सौरसेनी (शूरसेनी) भाषा को बोलचाल के रुप में प्रयोग करती है। इस सन्दर्भ में अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला एवं उसकी दोनों सखियों का संवाद द्रष्टव्य है –

शकुन्तला- सहिअणसूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेन पिअंवदएणि अत्ति दह्मि। सिढिलेहि दाव णं।[20]
अनुसूया- तह।
प्रियंवदा – एत्थपओहरवित्थारइत्तअं अत्तणोजोव्वणं उवालह्। मं किं उवालहसि।

युद्ध करने वाले सैनिक दीव्य पुरुष (जुआरी) एवं नगर का मुख्य आरक्षक अर्थात् नागरकदक्षिणात्या भाषा का प्रयोग करते थे।मृच्छकटिकम् का द्यूतकर(दर्दुरक) दीव्य पुरुष अर्थात् जुआरी है जो दाक्षिणात्या भाषा का प्रयोग करता है। यथा–

द्यूतकरः - (पदंवीक्ष्य) एसोवज्जदिइअंपणट्टा पदवी।[21]

उदीच्य (उत्तर) भारत के निवासी तथा खसों की अपनी बाह्लीक भाषा प्रयोग में लाई जाती थी। इन सात मुख्य भाषाओं के अतिरिक्त विभाषाए भी हैं जो नाटक में अपनी गौण या अप्रधान स्थिति रखती हैं। विभाषा से तात्पर्य है वह भाषा जो एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। प्राकृत भाषा में शाकारी, आभीरी, चाण्डाली,शाबरी, द्रामिड़ी, आन्ध्री तथा वनेचरों की अपनी जंगली भाषाएँ प्रमुख विभाषाएं हैं–

शकाराभीर – चाण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजाः।
हीनावनेचराणाञ्च विभाषा नाटकेस्मृता।।[22]

शकार, शक तथा इनके समान स्वभाव वाले वर्ग शाकारी भाषा का प्रयोग करते है–

शकार - शूलेविक्किन्तेपण्डवे? शेदकेदूपुत्तेलाधाए ? लावणेइन्द्रपुत्ते ?।

आहोकुन्तीएतेणलामेणजादेअश्शत्थामे? धम्मपुत्तेजडाउ ॥[23]

इसके अतिरिक्त अङ्गारकारक, व्याध (बहेलिया), काष्ठ से जीविकोपार्जन करने वाले तथा वन में निवास करने वाले अर्थात् वनौकस वर्ग भी शाकारी भाषा का प्रयोग करते थे। हाथी, घोड़ा, अज, ऊंट, भेड़ तथा घोष स्थान (बैल तथा गायों के रखने का स्थान अर्थात् गोशाला) के निवासी आभीरी अथवा शाबरी विभाषा का प्रयोग करते थे। वनचर द्रामिड़ी विभाषा का प्रयोग करते थे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाषा ही वह इकाई है जिसके माध्यम से मनुष्य तथा सभी प्राणी विचार-विनिमय करते हैं, एक दूसरे के भावों को समझतेहैं तथा वैचारिक साझेदारी होती है। भाषा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि स्वयं कहते है –

वाङ्मयानीहशास्त्राणिवाङ्निष्ठानितथैव च।
तस्माद्वाचःपरंनास्तिवाग्घिसर्वस्यकारणम् ॥[24]

भाषा के महत्त्व को बताते हुए भर्तृहरिनीतिशतक में स्वयं लिखते हैं –

केयूराणि न भूषयन्तिपुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला। न स्नानं न विलेपनं न कुसुमंनालंकृतामूर्धजा।।
वाण्येकासमलंकरोतिपुरुषं या संस्कृताधार्यते। क्षीयन्तेऽखिलभूषणानिसततंवाग्भूषणंभूषणम् ॥[25]

अंततः श्यामसुन्दर दास ने भाषा के विषय में कहा है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान- प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।[26]

सन्दर्भ -

---

[1]भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र : डॉ०कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ 30

[2]भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय : डॉ० सत्यकाम वर्मा. पृष्ठ 22

[3]अमरकोश : अमरसिंह, सं. श्री मन्नाला 'अभिमन्यु', पृष्ठ 80

[4]पल्लव : सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ 28

[5]भाषा एवं भाषा विज्ञान : डॉ० महावीर सरल जैन, पृष्ठ 50

[6]भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र : डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ 30

[7]भाषा विज्ञान : डॉ०भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ 5

[8]नाट्यशास्त्र : 18.25-26

[9]नाट्यशास्त्र : 15.6-7

[10]उत्तररामचरितम् : डॉ०कपिलदेव द्विवेदी, 1.12

[11]स्वप्नवासवदत्तम् : डॉ०राकेश शास्त्री, डॉ० प्रतिमा शास्त्री, 4.1

[12]वेणीसंहारनाटकम् : पं०परमेश्वरदीन पाण्डेय, श्री अवनि कुमार पाण्डेय, 1.21

[13]मृच्छकटिकम् : व्याख्याकार आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र, 1.10

[14]नाट्यशास्त्र – 18.2

[15]नाट्यशास्त्र – 18.3

[16]नाट्यशास्त्र – 18.4

[17]नाट्यशास्त्र – 18.47

[18]मृच्छकटिकम् : व्याख्याकार आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र, पृष्ठ 87

[19]अभिज्ञानशाकुन्तलम् : डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ 340

[20]अभिज्ञानशाकुन्तलम् : डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ 45

[21]मृच्छकटिकम् : पूर्ववत्, पृष्ठ 100

[22]नाट्यशास्त्र – 18.48

[23]मृच्छकटिकम् : पूर्ववत्, 1.47

[24]नाट्यशास्त्र – 15.3

[25]नीतिशतकम् : श्री तारिणीश झा, पृष्ठ 27, श्लोक - 16

[26]भाषाविज्ञान : डॉ० श्याम सन्दर दास, पृष्ठ 20

पाञ्चरात्रसम्प्रदाय के क्रमविकास में आलवार सन्तों का स्थान

• अजय सिंह*

शोधसार- भारतीय संस्कृति निगमागमी मूलक संस्कृति है। यह दोनों ही धारायें समानान्तर रूप से भारतवर्ष में अतिप्राचीन-काल से निरन्तर प्रभायमान रही हैं। निगम जहाँ बाध्य साधना से सम्बन्धित है, वहीं आगम आन्तरिक साधना से। आगमीक परम्परा अपने उपास्य देवों के आधार पर तीन भागों में विभाजित हो गयी- (1) शैवागम, (2) वैष्णवागम तथा (3) शाक्तागम।

वैष्णवागम परम्परा में मुख्य उपास्य देव भगवान् विष्णु हैं, इस पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के विकास में आळवार सन्तों ने अपनी अनन्य भक्ति से इस सम्प्रदाय की चतुर्धिक कीर्ति फैलायी। प्रस्तुत शोध-पत्र में इन्हीं आळवार सन्तों द्वारा किए गए पाञ्चरात्र सम्प्रदाय सम्बन्धी विकास को दर्शाया गया है।

बीजशब्द - पाञ्चरात्रशास्त्र, वैशिष्ट्य, संहिताएँ, परम्परा, व्यूह रूप, आळवार, तमिल, पाणन् जाति, आनन्दमग्न, तिरूमालै, व्याध, जीवनाधार, वैष्णव तीर्थ, दिव्यप्रबन्ध, मार्मिक।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का परिचय-

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन यद्यपि विभिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं में प्राप्त होता है, तथापि महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्षधर्म पर्व का कुछ ही वैशिष्ट्य है। इसे पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का प्राचीनतम प्रतिपादक स्थल माना जाता है। सर्वप्रथम यहीं पर इस सम्प्रदाय का व्यापक तथा विशद् प्रतिपादन उपलब्ध होता है। शान्तिपर्व अन्य शास्त्रों की अपेक्षा पाञ्चरात्रशास्त्र के वैशिष्ट्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है-

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानिवै।।
सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नाऽन्यः पुरातनः।।
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते। प्राचीनगर्भ तमृषिं प्रवदन्तीह केचन।।
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः। उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवम्।।

*शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्। सर्वेषु च नृप श्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।।[1]

श्री रामानुजाचार्य के अनुसार-

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण स्वयम्।[2]

आचार्य वेदान्तदेशिक ने स्पष्ट किया है-

कमप्याद्यं गुरुं बन्दे कमलागृहमेधिनम्।
प्रवक्ता छन्दसां वक्ता पाञ्चरात्रस्य या स्वयम्।।[3]

पाञ्चरात्र परम्परा में विष्णु-

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की प्राचीनता भगवान् विष्णु से स्पष्ट होती है। विष्णु एक वैदिक देवता हैं। अतः विष्णु-महिमा की स्तुति परम्परा की प्राची`नता के विषय में विवाद नहीं है। यह निश्चित रूप से बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि जितना प्राचीन वैदिक साहित्य है उतना ही प्राचीन विष्णु स्तवन की परम्परा है। वेदों में ऋषि के रूप में नारायण का नाम अनेकत्र प्राप्त होता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दश्मङ्गुलम्।।[4]

इस मन्त्र में विष्णु को ऋषि नारायण के रूप में जाना जाता है।

त्र्यायुषं जमदग्रेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्।।[5]

पाञ्चरात्र परम्परा में आकर विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण तथा जनार्दन आदि शब्द एकार्थक हो गये तथा पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगे। इसी पाञ्चरात्र परम्परा की प्राचीनता का निर्धारण यहाँ इष्ट है। इस परम्परा के अन्तर्गत ईश्वर के चार रूप माने गये हैं- 1. पर, 2. व्यूह, 3. विभव, 4. अर्चा।[6]

कुछ संहिताओं में ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को स्वीकार करते हुए पाँच रूपों की कल्पना की गयी है।[7] ईश्वर के रूप को वासुदेव कहा जाता है। सृष्टि आदि व्यापार के लिए यहाँ पर वासुदेव चार रूपों को धारण करता है। इस प्रकार इन चार रूपों को व्यूह रूप कहा गया है। इन चार व्यूह रूपों के नाम इस प्रकार हैं- 1. वासुदेव, 2. संकर्षण, 3. प्रद्युम्न, 4. अनिरुद्ध।[8]

ईश्वर के इन रूपों का प्रतिपादन करने वाली प्रायः सभी पाञ्चरात्र संहिताएँ ईसा की उत्तरवर्ती है, किन्तु ईसा के पूर्व प्रचुर मात्रा में ऐसी साहित्यिक तथा पुरातात्विक यत्र-तत्र उपलब्ध होती है, जिसमें ईश्वर के उपर्युल्लिखित कुछ रूपों के अथवा उनकी संज्ञाओं के उल्लेख स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं उल्लेखों को आधार बनाकर इस सम्प्रदाय की प्राचीनता के निर्धारण का प्रयास किया जा सकता है। महाभाष्य में पाञ्चरात्र का परिचय-पतंजलि के महाभाष्य में कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनसे पाञ्चरात्र परम्परा के संकेतों को स्पष्ट रूप से ग्रहण किया जा सकता है-

सङ्कर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।[9]

यहाँ कृष्ण के सहयोगी के रूप में बलराम का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं-

प्रासादे धनपतिरामकेशवादीनाम्।[10]

यहाँ पर धनपति, राम अर्थात् बलराम और केशव के प्रासाद अथवा मन्दिर का उल्लेख किया गया है। पाञ्चरात्र परम्परा के प्रति आलवार सन्तों का अवदान-इस परम्परा को जनमानस तक सरल पद्यों के माध्यम से सभी जातियों के भक्तों तक पहुँचाने का काम बारह आलवार सन्तों ने किया। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का है। इसका अर्थ है, अध्यात्म ज्ञानरूपी सागर में गोता लगाने वाला। सभी आलवार उच्चकोटि के भक्त थे, उन्हें दिव्यसूरि कहा जाता है। उनकी वाणियों के संग्रह को नालायिर प्रबन्धम् (दिव्य प्रबन्ध) कहा जाता है। ये तमिल भाषा में है। इन्हें तमिल वेद या वैष्णव वेद कहा जाता है। उनमें शरणागति रूपभक्ति का पूर्ण विकास हुआ है। आलवारों के आराध्य देव कृष्ण थे। कृष्णलीला के विविध पक्षों का वर्णन उनकी गाथाओं में मिलता है।[11]

क्रमशः आलवार सन्तों के नाम तथा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में योगदान।

पोय्गै आळ्वार (सरोयागिन)- पोय्गै आळ्वार, भूतत्तु आळ्वार एवं पेयालवार तीनों का जन्म द्वापर युग के अन्त तथा लगभग 6150 वर्ष पूर्व माना जाता है। इन तीनों को भगवान् के शंख-पाञ्चजन्य, गदा-कौमोदकी तथा खड्ग-नन्दक के अवतार मानते हैं।[12] पोय्गै ने ईश्वरीय सत्ता का आभास पर-ज्ञान द्वारा, भूततु ने परा-भक्ति द्वारा तथा पेय् ने अन्तर्दृष्टि-समन्वित ज्ञान एवं परमज्ञान रूपी भक्ति द्वारा प्राप्त किया। अन्तर्दृष्टि-युक्त ज्ञान भक्ति एवं अनुभवातीत प्रेम तीन विभिन्न तत्त्व अथवा मार्ग नहीं अपितु तीनों का लक्ष्य एक ही है। पोय्गै के काव्य में यह भाव निरन्तर बना रहा है कि में पेरुमाल् के अतिरिक्त किसी अन्य की शरण का विचार भी नहीं कर सकता।[13]

भूततु आळ्वार (भूतयोगिन)- यह बाल्यावस्था से ही सन्त, पवित्र, निष्कलंक, ज्ञान के अपूर्व भण्डार तथा श्रेष्ठ भगवत् अनुरागी थे। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने वेद, उपनिषदों को अवश्य पढ़ा था। ये भी पोय्गै आळ्वार की तरह घूम-घूम कर भगवद्भक्ति का प्रचार करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। एक पर स्थायी रूप से न रहे। कहा जाता है कि यह सिऋ महात्मा थे। इन्होंने एक पद में अपने आराध्य देव कमलनयन वासुदेव के समक्ष रजोगुणमय संसार के समस्त तत्त्वों को वृथा मानते हुए वैकुण्ठ के आनन्द को भी अस्वीकार किया है।[14]

पेय् आळ्वार (महायोगिन)- नालायिर दिव्य-प्रबन्ध में संगृहीत कृति के रचयिता भक्त पेय् आळ्वार का जन्म स्थान परम्परा से मथिलापुर, मद्रास माना जाता है। श्री-सम्प्रदाय के मतानुयायी इन्हें भगवद्भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए भेजे गए अंशावतार मानते हैं।[15]

तिरुमकिशै आळ्वार (भक्तिसार)- एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न सन्त थे। आप भक्तिसार नाम से भी विख्यात हैं। इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन अल्पायु में ही प्राप्त किया। इनका जन्म ऋषि भृगु एवं पत्नी कनकांगी से माना जाता है। इनके काव्य में जैन, बौद्ध तथा कुछ प्रसङ्गों में शैव

मत का भी कटु विरोध है। इनकी गणना परम्परागत साहित्य में एक प्रबल योगी एवं अटूट भक्ति-भावना से युक्त वैष्णव के रूप में होती है। इनकी नालायिर दिव्य प्रबन्धम् की दो कृतियाँ संकलित हैं- (1) नान् मुखन् तिरुवंतादि- विष्णु के नारायण रूप की महिमा का गायन है। इस कृति में तमिल के प्रसिद्ध छन्द अन्तादि में रचित 100 पद हैं। (2) तिरुचनन्द विरुतम्- नायक-नायिका के विरह-मिलन को भगवान् और भक्त के बीच मिलन-उत्कण्ठा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[16]

नम्माळवार (शठकोप)- इन्होंने दास्य-भाव भक्ति को माना है। लौकिक लाभ को वे प्रभु-प्रपति के समक्ष कुछ समझते हैं तथा आत्म निवेदन द्वारा अपने पापों को प्रभु के आगे खोलकर रख देते हैं।[17]

शठकोप का ग्रन्थ 'तिरुवाय्मोकि' पवित्र मुख से निःसृत वाणी अथवा वेदवाक्य सत्य का पर्याय है। 4000 पदों के दिव्य-प्रबन्धम् में लगभग चतुर्थ अंश तिरुवाय्मोकि है। नाथमुनि ने इसे तमिल-वेद-सागर से अभिहित किया था। आचार्य रामानुज ने भाष्यों की रचना करते समय तिरुवाय्मोकि से प्राप्त सहायता के विस्तृत उल्लेख किए हैं। श्रीवेदान्त देशिकन् ने इसे तमिल उपनिषद् मानकर दो संस्कृत ग्रन्थों की रचना की- (1) द्रमिडोपनिषद्सारम्, (2) द्रमिडोपनिषद्तात्पर्यरत्नावली।[18]

अज्ञान के तमस् से निकलकर ज्योति के आनन्द में विलीन होना, सांसारिक प्रपंच से हटकर चरम सत्य की ओर उन्मुख होना, प्रभु के प्रेम को प्राप्त करने के लिए लालायित होना तिरुवाय्मोकि का मल चिन्तन है।

मधुरकवि आळ्वार- आप ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर तथा प्रभु के विभिन्न विग्रहों के दर्शन की कामना हृदय में संजोये मधुरकवि ने मथुरा, काशी, कांची, अवन्ती, द्वारिका, बदरी तथा अन्य तीर्थों के दर्शन किए। इन्होंने शठकोप को अपना गुरु माना तथा 19 वर्ष तक उनकी सेवा में संलग्न रहे, उनके काव्यों को लिपिबद्ध करते रहे तथा उनके गीतों को राग-रागनियों से आबद्ध कर जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करते रहे।

श्री नाथमुनि रचित मधुरकवि की प्रशस्ति से इनके गुणों का आंकलन सहज ही हो जाता है-

अविदितविषयान्तरः शठारेः उपनिषदाम् उपगानमात्रभोगः।
अपि च गुणवशात् तदेकशेषी मधुरकविः हृदयः मम आविरस्तु।।

सन्त शठकोप के अतिरिक्त किसी अन्य विषय को न जानने वाले उपनिशदों के (द्रमिडोपनिषदों के) गान ही को मात्र आनन्दानुभव समझने वाले और उनके गुणों के वश में आकर उन्हीं को एकमात्र शेषी स्वामी सन्त मधुरकवि मेरे हृदय में आविर्भूत हों।[19]

कुलशेखर आलवार- कुलशेखर चेर सम्राट् दृढव्रत के सुपुत्र थे। परिवार के रत्न कुलशेखर का तमिल तथा संस्कृत के प्रति सहज, स्वाभाविक आकर्षण था और 'राम' के पेरुमा (पेरुमाल्) रूप के प्रति इनके प्रेम के कारण इन्हें कुलशेखर पेरुमाल् भी कहा जाता है। इनके दो प्रतिष्ठित ग्रन्थ- (1) मुकुन्दमाला, (2) पेरुमाल।

मुकुन्दमाला भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति युक्त है-

कृष्णो रक्षतु नो जगत्त्रयगुरुः कृष्णं नमध्वं सदा,
कृष्णे नाखिलशत्रवो विनिहताः कृष्णाय तस्मै नमः।
कृष्णादेव समुत्थितं जगदिदं कृष्णस्य दासोऽरम्यहम्,
कृष्णे तिष्ठति विश्वमेतदखिलं, हे कृष्ण रक्षस्व माम्।।[20]

पेरुमाल (पेरुमाळ) 'तिरुमोकि' 105 पदों की श्रेष्ठ कृति है। पाँच दशक आत्मनिवेदनपरक हैं, शेष में जीवन की असारता, प्रभु के प्रति भक्त का दैव्य एवं बाल-गोपाल की लीलाओं का वर्णन हुआ है।[21]

दक्षिण भारत के श्री विष्णु मन्दिरों में गर्भ-गृह के समक्ष सोपान को कुलशेखन् पीड़ अर्थात् कुलशेखर-सोपान कहा जाता है और भक्तजन उस पर चरण रखे बिना आदर भाव से उसे लांघ कर भीतर प्रवेश करते हैं। पूर्णतया परिचित कुलशेखर आळ्वार भक्ति मार्ग के सच्चे पथिक हैं।[22]

पेरियाळ्वार (विष्णुचित्त)- बाल्यावस्था से ही भक्ति मार्ग की ओर उन्मुख हो गए। गम्भीर वेदाध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने यह निश्चय किया कि भगवत्कैकर्य ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ है। पेरियाळ्वार ने श्रीमन्नारायण को विभिन्न युक्तियों और प्रभावों द्वारा परतत्त्व प्रमाणित किया। उनके चरण-कमल साधना और उनकी सेवा को परम पुरुषार्थ सिद्ध किया-

श्रीमान् नारायणो नः पतिः अखिलतनुः मुक्तिदः मुक्तभोग्यः।।[23]

पेरियाळवार तमिल पिळळै- तमिल शैली के प्रथम कवि कहे जाते हैं। पिळअर्थात् शिशु विषयक रचनाएँ, जिनमें बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ एवं संस्कार वर्णन का विषय बनते हैं। बाल-सुलभ शिशु क्रीडाओं की मार्मिक अभिव्यंजना करने में पेरियाळवार अद्वितीय माने जाते हैं। इन्होंने कृष्ण के जन्म-उत्सव, बाल-लीला, यशोदा द्वारा गाए गए लोरी गीत, चन्द्र को खिलौन के रूप में मांगना, माता के साथ विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन किया है।

आण्डाळ (गोदा)- पुष्प सदृश कोमल नाम मिला, पिता की सात्विक भक्ति और भगवद्प्रेम के वातावरण से प्रभावित होकर आण्डाळ भगवान् के प्रेम में गहरे उतरती चली गईं। उन्होंने बाल्यावस्था में ही श्रीरंगम् के रंगनाथ प्रभु को पति रूप में मन में धारण कर लिया। वे श्री रंगनाथ को अर्पित करने से गुथीं हुई माला को अपने गले में पहनकर प्रभु के लिए भेजती थीं। आण्डाळ की दो कृतियाँ 'तिरुप्पावै' (30 पद) तथा 'नाच्चियार तिरुमोकि' (143 पद) दिव्य प्रबन्ध में संगृहीत हैं। "आण्डाळ का अर्थ है जिसने भगवान् को प्राप्त किया अथवा भगवान् के प्रति प्रबल प्रेम करने वाली।"[24]

तोंडर अडिप्पोडि आळ्वार (भक्तान्घ्रिरेणु, विप्रनारायण)- विप्रनारायण भक्तों की चरण-रज आळवारों में से कई रूपों में विशिष्ट हैं। यह तमिल एवं संस्कृत के विद्वान् बचपन से ही श्री रंगनाथ की सेवा में संलग्न हो गए। इन्होंने रामायण, महाभारत, विष्णु पुराण तथा अन्य अनेक ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन किया। तिरुमलै के अन्तर्गत तोंडर अडिप्पोडि आळ्वार का गहन अध्ययन प्रत्येक पद

की प्रत्येक पंक्ति में झलकता है-" श्रीरंगम् के निवासी प्रभो! तुम आदि हो, तीनों लोक तुम में व्याप्त हैं (प्रलय के समय) और उन्हें स्वयं से ही उद्भूत करते हो (सृष्टि के समय)। तुम्हारे नाम का स्मरण करने से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के पदार्थ नियंत्रित होते हैं। हम तो इससे भी आगे बढ़ गए हैं, हमने तो अपने चरण यम और उसके अनुचरों के शीष पर रख दिए हैं।[25]

तिरुप्पाण आळ्वार (मुनिवाहन)- एक ब्राह्मण के खेत में पड़े शिशु का गायक जाति पाणन् के एक व्यक्ति द्वारा पालन-पोषण किए जाने के कारण इनका सम्बन्ध पाणन् जाति से जुड़ गया। एक बार लोकसारंग नामक मुनि ने इनका अपमान किया। श्री रंगनाथ की भक्ति में लीन, आनन्दमग्न तिरुप्पाण् मार्ग में बैठे थे। लोकसारंग श्री रंगनाथ के अभिषेक के लिए कावेरी से पवित्र जल ले जा रहे थे, मार्ग में आकर बाधा उपस्थित करने वाले अछूत को हट जाने को कहा, पर भक्ति-रस में लीन तिरुप्पाण् को कुछ सुनाई नहीं दिया। आक्रोश में आकर कंकड़ मारा, माथे से रक्त बह निकला, लोक की स्मृति हुई, लोकसारंग से क्षमायाचना करते हुए वहाँ से चल दिए। इधर लोकसारंग भगवान् के गर्भ-गृह में पहुँचे तो देखा, भगवान् के ललाट से उसी स्थान से रक्त बह रहा है। जहाँ से 'शूद्र' तिरुप्पाण् को कंकड़ लगने से बहा था। प्रभु का आदेश हुआ कि लोकसारंग उनके भक्त को अपने कन्धे पर बैठाकर मन्दिर में लेकर आएँ। भक्त प्रभु से भिन्न नहीं है।[26]

तोंडर अडिप्पोडि आळ्वार- तोंडर अडिप्पोडि आळ्वार ने अपनी कृति तिरुमालै में एक पद में कहा है- "हे भगवान्! नीच जाति में जन्म लेने पर भी अपने भक्त होने के कारण, तुमने भक्त को अपने पास बुला लिया और यह सिद्ध किया कि नीच वह है जो तुम्हारा भक्त नहीं। चाहे वह उच्च कुल में ही जन्म क्यों न ले।"[27]

तिरुमंगै आळ्वार (परकाल, नीलन)- आचार्य श्री रामानुज ने तिरुमंगै आळ्वार को अत्यन्त आदर से स्मरण किया है-

कलयामि कलिध्वंसं कविं लोकादिवाकरम्।
यस्य गोभिः प्रकाशाभि, अविधं सिहतं तमः।।[28]

यह व्याध व्यवसाय से सम्बद्ध कल्लर जाति में उत्पन्न हुए। ऐसे संकेत मिलते हैं कि प्रेम-भक्ति को जीवनाधार बनाकर उन्होंने श्री बदरीनाथ, नैमिषारण्य, अयोध्या, मथुरा, श्री बालाजी, श्रीरंग इत्यादि उत्तर-दक्षिण के प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थों की यात्रा की तथा भक्ति के प्रचार-प्रसार का कार्य किया।

श्रीमद्भागवत महापुराण में द्रविड़ प्रदेश के आलवारों का वर्णन प्राप्त हुआ है-

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्। कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।।
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः। ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी। ये पिबन्ति जलं तासां मनुसा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः।।[29]

सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार में इन बारह सन्तों का विशेष योगदान रहा। यह सन्त विभिन्न समुदायों से सम्बधित थे, फिर भी वैष्णव भक्तों ने इन सभी सन्तों के प्रति भक्तिभाव रखा था। आलवार भक्तों के काव्य में अनुभूतिमूलक चिन्तन, पारमार्थिक व्याकुलता तथा दर्शानुभाव के अनेक पद हैं।

सन्दर्भ -

[1]महाभारत, शान्तिपर्व, 349/64-67

[2]श्रीभाष्य, 2.2.42

[3]यतिराजसप्तति, 1

[4]ऋग्वेद, 10.90-1

[5]यजुर्वेद, 3.62

[6]लक्ष्मीतन्त्र, अध्याय 2, श्लोक 60

[7]अहिर्बुध्न्यसंहिता, 1.63-65

[8]लक्ष्मीतन्त्र, 11.41-47

[9]महाभाष्य, 2.2.92, पृ0 277

[10]तथैव, 2.2.34, पृ0 278

[11]संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, दशम खण्ड, पृ0 190

[12]तमिल वैष्णव कवि आळ्वार, पृ0 39

[13]सुदल तिरुवन्तिादि, पद 31

[14]वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ0 114

[15]तमिल वैष्णव कवि आल्वार, पृ0 55

[16]तथैव, पृ0 63-64

[17]भक्ति का विकास, पृ0 358-359

[18]तमिल वैष्णव कवि, पृ0 76-77

[19]तमिल दिव्यप्रबन्ध, पृ0 300

[20]मुकुन्दमाला, पद 7

[21]तमिल वैष्णव कवि, पृ0 99

[22]तथैव, पृ0 110

[23]तथैव, पृ0 117

[24]तमिल वैष्णव कवि, पृ0 131

[25]तिरुमाले, पद 1

[26]तमिल वैष्णव कवि, पृ0 159

[27]अमलानादिपिरान्, पद 4

[28]दिव्य प्रबन्ध, भाग 3, 5

[29]श्रीमद्भागवत महापुराण, 11/5/38-40

पं. सांवरमलशास्त्रीविरचित 'यौतुकम्' नाटक का महिला सशक्तिकरण में योगदान

• राकेश कुमार गोरा*

शोधसार - पुरुष एवं महिला रथ के दो पहियों के समान है। जिस प्रकार से एक पहिया रथ को गति नहीं दे सकता उसी प्रकार से महिला के बिना मानव समाज प्रगति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। बच्चों के पालन पोषण से लेकर शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों की जिम्मेदारी नारी बखूबी निभा सकती है उसका यह स्थान अन्य कोई नहीं ले सकता। आज नारी अपने आप को हर जगह है असहज एवं असुरक्षित महसूस कर रही है। न केवल समाज में अपितु अपने घर में भी नारी के साथ अत्याचार की घटनाएं दिनों दिन बढ़ती जा रही है। अत: नारी का सशक्त होना परम आवश्यक है। प्रस्तुत लेख में संस्कृत साहित्य के आधुनिक कवि पण्डित सांवरमल शास्त्री द्वारा रचित 'यौतुकम्' नामक नाटक में निहित महिला सशक्तिकरण के सामाजिक एवं पारिवारिक पक्षों को दृढ़तापूर्वक रखा गया है।

बीजशब्द- नारी, सृष्टि, अशिक्षा, आत्मसात, स्त्रीधन, समाज, राष्ट्र, वेदना, दहेज़, मातृ दिवस, महिला, समानता, संज्ञानात्मक, शारीरिक, मनोवृत्ति।

ईश्वर निर्मित मानव सृष्टि का पल्लवन, उन्नयन एवं परिवर्धन नारी के बिना असंभव है। नारी की कोख में मानव सृष्टि का सृजन होता है। नारी का शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं संज्ञानात्मक दृष्टिकोण से सशक्त हो नामानवसभ्यता एवं संस्कृति के लिए पर महितकारी है। तभी तो कहा गया है- **"यत्रनार्यस्तुपूज्यन्तेरमन्तेतत्र देवता: ।"**[1] अर्थात जहाँ नारी को आदर दिया जाता है वहाँ देवता निवास करते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्समय भी अनेक मंत्रद्दष्टा नारियों ने वैदिक साहित्य के सर्जन में अपना अमूल्य योगदान दिया था जिनमें घोषा, गार्गी, लोपामुद्रा, अपाला आदिनारियों का नाम बड़े आदर के साथ आज भी लिया जाता है।

भारत में विदेशी आक्रांताओं के आगमन के साथ ही महिलाओं की स्थिति में बदलाव का दौर शुरू हुआ जो आज भी बदस्तूर जारी है। देश को आजाद हुए आज 76 वर्ष से अधिक का समय

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बूंदी(राज.), कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

व्यतीत हो गया है। आजादी के बाद निर्मित संविधान में महिलाओं की स्थिति में बदला व हेतु अनेक प्रावधान एवं संशोधन करने के उपरांत भी देश के कई हिस्सों में महिलाओं की स्थिति चिंतनीय है। अभी हाल ही में मणिपुर राज्य में महिला को निर्वस्त्र कर खुले में घुमाने की घटना मानवता को शर्मसार एवं झकझोर कर देने वाली है। राजस्थान के भीलवाड़ा में तो एक नाबालिक बालिका को भट्टी में डालकर ही मौत के मूँह में धकेल दिया गया। अख़बार प्रतिदिन ऐसी घटनाओं से अछूता नहीं रहता है। महिलाओं की इसी दयनीय स्थिति को आत्मसात करते हुए समकालीन कवियों ने इस वेदना को प्रकट करते हुए महिला सशक्तिकरण हेतु अपनी लेखनी चलाकर लोगों की मनोवृत्ति में मोड देने का कार्य किया है। वर्तमान काल में महिला सशक्ति करण एक चर्चित विषय है। राष्ट्र के विकास में नारी की भूमिका को स्वीकारते हुए समाज में बदलाव के लिए मातृदिवस, अंतरराष्ट्रीय बालिका दिवस, अंतर्राष्ट्रीयम हिला दिवस आदि जैसे कई कार्य क्रम सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं। महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए उनके अधिकारों एवं मूल्यों का हनन करने वाली प्रवृत्तियों का अंत आवश्यक है- जैसे दहेज प्रथा, अशिक्षा, यौन हिंसा, घरेलू हिंसा, असमानता और ऐसे ही दूसरे विषय।

वर्तमान समय में महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों के मूल में है- दहेजप्रथा, जिसे संस्कृत में यौतुक बोला जाता है। समाज में नारी के साथ नित्यप्रति घटित होने वाली घटनाओं से उद्वेलित तथा यौतुक प्रथा की सामाजिक वेदना का अनुभव करते हुए पंडित शास्त्री ने इसके निराकरणार्थ अपनी लेखनी चलाकर 'यौतुकम्' नामक नाटक का प्रणयन किया। स्वयं कवि ने इस नाटक को अपने पिता को समर्पित करते हुए कहा है-

"हे तात ! यौतुकमिदंरमणीयनाट्यम्।
शिक्षाप्रदंसुतवधूधनलुब्केभ्यः ।।"[2]

इस नाटक के एक दृश्य में कवि ने ब्रह्मदत्त के मुख से अपनी बीमार पत्नी के लिए कहल वाया है– **"अनुराधे ! इत्थंमाब्रूहि । नास्तित्वत्समंद्रव्यादिकम्। विशाखा त्वमहञ्चचिकित्सालयंयास्यामः।"**[3] ब्रह्मदत्त के निर्धन होने पर भी तथा पत्नी द्वारा बीमारी के इलाज के लिए मना करने पर भी उसका इलाज कराने हेतु चिकित्सालय चलने की जिद करता है जोकि ब्रह्मदत्त का नारी के प्रति उदारता एवं आर्थिक स्वतंत्रता देकर उसके सम्मान में लेश मात्र भी कमी नहीं आने देने की प्रतिबद्धता का द्योतक है जिसकी आज के घरेलू परिवेश में महत्ती आवश्यकता है।

अनुराधा की चिकित्सा/परिचर्या में व्यय संबंधी दुश्चिंता को दरकिनार करते हुए ब्रह्मदत्त अनुराधा को ही सर्वश्रेष्ठ धन मानता है – **"नास्तित्वत्समंद्रव्यादिकम्।"**[4]यह उक्ति निस्सन्देह ब्रह्मदत्त का नारी के प्रति अपार सम्मान एवं स्नेह का द्योतक है। आज हमारे समाज में धन के आगे सब बौने दिखाई पड़ते हैं। नारी भी सजीव है। उसे भी स्वस्थ रहने का उतना ही अधिकार है जितना एक पुरुष को है। पंडित शास्त्री ने यहाँ समानता का आदर्श स्थापित कर संतुलित समाज के निर्माण का संदेश दिया है। चिकित्सक द्वारा दिए गए परामर्श के विपरीत ब्रह्मदत्त अनुराधा के इलाज में धन

व्यय की चिंता छोड़ कर नारी सेवा को सर्वोपरि मानते हुए उस का इलाज कैंसर चिकित्सालय में जारी रखता है। वह नहीं चाहता कि अनुराधा का मनोबल कमजोर हो, अतः वह अनुराधा को उसकी बीमारी (कैंसर) के बारे में नहीं बता कर शीघ्र ही स्वस्थ हो जाने के लिए आस्वस्थ करता है। इस तरह से वह अपनी पत्नी अनुराधा को न केवल आर्थिक अपितु मानसिक संबल भी प्रदान कर नर-नारी की समानता के आदर्श की स्थापना करता है जोकि सामाजिक दृष्टिकोण से सामाजिकों के लिए अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय कार्य है।

अनुराधा के दिवंगत हो जाने पर उसकी अंतिम इच्छा की पूर्ति के लिए वह अपनी पुत्री विशाखा का विवाह किसी समृद्ध परिवार में जन्मे लड़के से करने का प्रयास करता है। स्त्रीशिक्षा सामाजिक बदलाव का सशक्त माध्यम है एवं महिला सशक्तिकरण के लिए अनिवार्य पहलू भी। शिक्षा मानव व्यवहार परिमार्जन में अपमार्जक के समान है। ब्रह्मदत्त अपनी विपरीत परिस्थिति में भी अपनी पुत्री की शिक्षा जारी रखता है। इसी का परिणाम हुआ कि विशाखा ने इंटर परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास की – **"अस्मिन्नेववर्षेविशाखयाइण्टरपरीक्षाप्रथमश्रेण्यामुत्तीर्णा।"**[5]

नारी अत्याचार विविध रूपों में दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। अत्याचार रूपी राक्षस के दलन के लिए शिक्षा रूपी शस्त्र की आवश्यकता दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। शिक्षा व्यक्ति के अज्ञान का परिमार्जन करने में अजल स्नान है। यह मानव को अंधविश्वास कुप्रथा, अत्याचार आदि से निवारित कर जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रेषित करती है। कहा भी गया है– **"साविद्यायाविमुक्तये।"**[6] परंतु यह बड़ी विडंबना का विषय है कि वर्तमान समय में दहेज रूपी राक्षस अपना विकराल रूप धारण करता जा रहा है। ब्रह्मदत्त अपनी पत्नी की अंतिम इच्छा के अनुरूप अपनी पुत्रीका विवाह किसी समृद्ध परिवार में करना चाहता है परंतु उन्हें यह भी पता है कि इसके लिए उन्हें अधिक दहेज की आवश्यकता पड़ेगी तथा ऐसा नहीं करने पर विवाह उपरांत उसकी पुत्री के साथ गलत व्यवहार किया जा सकता है। उसकी इस दुश्चिंता को प्रकट करते हुए कवि ने कहा है-

"ऊढा कन्या वधूः प्रोक्ता, श्वश्रूश्वशुरसद्मनि। यौतुकवस्तुन्यूनोक्तिर्वध्वा न परिषह्यते।।
विवाहान्तरंकश्चित् , कुर्यात्पितुरनादरम्। तत्क्लेशभीतिसंतप्ताकथं बाला सहिष्यते ।।"[7]

वरुण को पता है कि ब्रह्मदत्त की पुत्री विशाखा रूप, लावण्य, योग्यता, व्यवहार, पाकचातुर्य, वाणी आदि में परिपूर्ण है फिर भी वह सामाजिक व्यवस्था का हवाला देकर ब्रह्मदत्त को दहेज के लिए प्रेरित करते हुए कहता है– **"भौतिकेऽस्मिन्युगेप्रतिष्ठायाः धरातलंधनाधिकंवर्तते।"**[8] आज समाज में व्याप्त इस दहेज की मानसिकता को दूर करने कीमहती आवश्यकताहै। वरुण दहेज के रूप में एक लाख रुपए की माँग करता है – **"भवतातुएकलक्षात्मकानिरुप्यकाणिमह्यंप्रदेयानि।"**[9] वरुण की इस माँग की पूर्ति के लिए ब्रह्मदत्त को अपना घर तक बेचना पड़ा। विशाखा एवं उसके मामा ने जब ब्रह्मदत्त को ऐसा करने से मना किया तो उसने अपनी विवशता को छुपाते हुए घर की अनर्थकता सिद्ध करते हुए कहा -

"विनाविशाखांममस्नेहपालिताम्, विनाऽनुराधांममधर्मसङ्गिनीम्।

इदंगृहंधावतिभक्षितुं सदा, अहर्निशंचिन्तयतेमनोभयम् ।।"[10]

दहेज कई समस्याओं की जड़ है। इसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति अपना सब कुछ दाव पर लगा देता है और जब मनोवांछित दहेज में कमी रह जाती है तो शुरू होती है नारी प्रताड़ना। यौतुकम् नामक नाटक की नायिका विशाखा के साथ भी ऐसा ही हुआ।

ब्रह्मदत्त ने वरुण को दहेज के रूप में एक लाख रुपए देना स्वीकार किया था परंतु अपने मकान को बेचकरभी वह मात्र अस्सी हजार रुपए ही दे पाया तथा शेष दहेज राशि को शीघ्र ही लौटने की बात रखी। विवाह उपरांत जब ब्रह्मदत्त शेष राशि नहीं लौट पायातोवरुणने अपने पुत्र तरुण से कहा- **"अयि तरुण! विशाखाया पिता विंशतिसहस्ररुप्यकाणांप्रदानस्यसङ्गरः विस्मर्यतेकिम्?"**[11] तरुण ने इस संबंध में विशाखा पर दबाव बनाया तो विशाखा के मुख से अनायास ही निकल पड़ा -

"मुद्राधनंसकलसौख्यकरं यदि स्यात्, प्रीणीष्वतत्रसहवाससुखेनभूयः।
पत्नी मृताऽद्यमहिलाकुलमन्दभाग्या, जानाहिस्वर्णरजतंविभवंकलत्रम्।।"[12]

विशाखा के विनय पूर्व कमना करने तथा अपने पिता की असमर्थता को व्यक्त करने पर रात को दस बजे वरुण व तरुण ने उसको लात घुसों से मार कर लहूलुहान कर घर से बाहर निकाल दिया। अपमानित विशाखा आत्महत्या के लिए विवश होकर राज मार्ग पर आ जाती है, जहाँ से रोहिणी नामक एक चिकित्सक उसे अपने साथ ले जाती है -

"चिन्तांत्यज बाले ! जामिः मम लम्बी, बाला सबलात्वंसंघर्षवतीस्याः।
दानी मम भर्ता शिक्षा व्ययवोढा, नारी समुदायेधन्याहि विशाखा।।"[13]

रोहिणी ने ऐसा करके समाज को संदेश देने का प्रयास किया है कि न केवल पुरुष अपितु एक नारी भी दुसरी नारी को संबल प्रदान कर सकती है। वस्तुतः आज एक नारी दूसरे नारी के विरुद्ध हो रहेअत्याचार,अन्याय एवं अमानवीय कृत्यों का मूकदर्शिका बन अपनी मौन स्वीकृति प्रदान कर देती है। रोहिणी एवं दिलीप के कोई संतान नहीं थी। दिलीप विशाखा को पढ़ा लिखा कर डॉक्टर बनना चाहता है तथा वह दहेज लोभी समाज को आईना दिखाना चाहता है –

"विश्वप्रसिद्धांचिकित्सिकांद्रष्टुमीहेत्वाम्।
यौतुकलुब्धंसमाजंदर्शयिष्यामियन्नार्योयत्रपूज्यन्तेरमन्तेतत्रदेवताः।"[14]

विशाखा को पुत्री के रूप में प्राप्त कर रोहिणी एवं दिलीप बेहद खुश हो जाते हैं वस्तुत संतानहीन दंपती को ही संतति का मूल्य पता लगता है। रोहिणी के भावों को कवि ने क्या खूब पिरोया है -

"नार्योयत्रपूज्यन्तेरमन्तेतत्रदेवताः।
नार्योयत्रावधूयन्तेरमन्तेतत्रराक्षसाः।।"[15]

रोहिणी एवं दिलीप ने विशाखा को अमेरिका में पढ़ा लिखा कर विश्वप्रसिद्धहृदयरोग चिकित्सक बना दिया , जिसने रूढ़िवादी समाज की आँखों से अज्ञानता का पर्दा गिरा दिया। महिला

सशक्तिकरण का यह जीता जागता उदाहरण है। वस्तुतः महिला अबला नहीं सबला है, बसर्ते उसे समानता का अधिकार एवं आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया जावे। विशाखा मुंबई स्थित चिकित्सालय में हृदय रोग विभाग में चिकित्सक के रूप में नियुक्त होती है। एक दिन तरुण के पिता वरुण को हृदयाघात से पीड़ित होने के कारण चिकित्सालय में भर्ती होना पड़ा। विशाखा शल्य चिकित्सा के लिए जैसे ही उपकरण निकलती है उसका मन क्रोध से भर जाता है। वह सोचती है कि ऐसे दुष्ट के जीवित रहते किसी अन्य नारी का जीवन सुरक्षित नहीं है। अतः अपने हाथ की छुरि का से उसका हृदय भेदने की इच्छा होती है, परंतु उसके सुसंस्कार उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। वह उसकी सफल शल्य चिकित्सा कर उसे स्वस्थ कर देती है एवं अंत में वरुण के समक्ष सत्य का उद्घाटन कर उसका हृदय परिवर्तन करने में सफल हो जाती है। वह पश्चाताप की अग्नि में जलने के लिए मजबूर हो जाता है।

इस तरह से इस सामाजिक नाटक के द्वारा पं. शास्त्री ने नारी के साथ होने वाले अत्याचार,अन्याय, शोषण, घरेलू हिंसा एवं भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाकर नारी की महत्ता को उजागर कर दहेज जैसी सामाजिक बुराई को दूर करने की दिशा में सार्थक प्रयास किया है तथा स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता पर भी जोर देते हुए शिक्षा द्वारा महिला सशक्तिकरण की राह प्रशस्त की है। वस्तुत: काव्योपदेश की तुलना प्रेयसी द्वारा प्रदत्त उपदेश से की जाती है जिसे सामाजिक सहज ही स्वीकार कर लेता है। कहा भी गया है-

"काव्यंयशसेऽर्थकृतेव्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यःपरिनिर्वृत्तयेकांतासम्मिततयोपदेशयुजे॥"[16]

सन्दर्भ -

1. मनुस्मृति (तृत्तीय अध्याय)
2. यौतुकम् (समर्पणम्)
3. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-4)
4. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-4)
5. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-15)
6. श्रीविष्णुपुराण (प्रथम स्कंध का उन्नीसवाँ अध्याय)
7. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-34)
8. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-34)
9. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-35)
10. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-38)
11. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-43)
12. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-48)
13. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-55)
14. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-61)
15. यौतुकम् (पृष्ठ संख्या-72)
16. काव्यप्रकाश, १/२

सत्रहवीं शताब्दी के साहित्यिक परिदृश्य में मुक्तक काव्य

• सौरभ मिश्र*

शोधसार- संस्कृत-साहित्य में रचना- शिल्प की विविधता तथा विषय- चयन में परम्परागत विषयों के साथ नवीनता की स्वीकृति के आधार पर सत्रहवीं शती की सर्जना अपना पृथक् एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, विशेष रूप में स्फुट मुक्तक काव्यों एवं सुभाषितों में तो ग्राम्य-जीवन से लेकर नगरीय रहन- सहन में व्याप्त सामान्य जन का संघर्ष, अभावों की पीड़ा, और विपन्नता में भी स्वाभिमानी जीवन का यथार्थ निरुपण करते हुए तत्कालीन साहित्य-साधकों ने अपने समय को सहज ही साकार कर दिया है। प्रस्तुत शोधपत्र में **सत्रहवीं शताब्दी के साहित्यिक परिदृश्य में मुक्तक काव्य**विवेचन किया गया है।

बीजशब्द- मुक्तक काव्य, **सत्रहवीं शताब्दी,** समकालीन, सामाजिक, कवि, भामिनीविलास, करुणालहरी, पद्यवेणी, सभारञ्जनशतकम् आदि।

वैदिक काल से लेकर अद्य पर्यन्त संस्कृत-कविता में लोक की गहरी और व्यापक उपस्थिति साहित्य की सभी विधाओं में रही है और संस्कृति-कवियों ने अपने समय के राजनीतिक- सांस्कृतिक- सामाजिक- प्राकृतिक परिदृश्य को बड़ी तन्मयता के साथ अपनी रचनाओं में निरूपित किया है; तथापि समकालीन सन्दर्भों के आलोक में मिथकों पुराकथाओं अथवा पौराणिक आख्यानों की पुनः समीक्षा और अभिनवसज्जा के साथ प्रस्तुति करते हुए अतीत से वर्तमान का जो रोचक सम्वाद **सत्रहवीं शताब्दी** के कालावधि के कवियों ने स्थापित किया है, वह प्रशंसनीय है। विषय एवं शिल्पगत साहित्यिक परिवर्तनों ने समय के साथ नयी करवट ली,कवियों और साहित्यिक चितेरों ने समाज के आचार- विचार एवं नवीनता के प्रति उसके आकर्षण को साहित्य में यथावत् उतारने में कोई कृपणता नहीं दिखायी। इसीलिए भी संस्कृत साहित्य के इतिहास का यह कालखण्ड अति महत्वपूर्ण है; क्योंकि परम्पराओं की पुष्ट एवं समाहत पृष्ठभूमि से नवाचार का सामञ्जस्य स्थापित करते हुए संस्कृत साहित्य के लोक सरोकार को और अधिक परिष्कृत और प्रगाढ़, प्रखर बनाने का उपक्रम इसी समय प्रारंभ हुआ।

* शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

वस्तुतः १२वीं शताब्दी के बार भारत में मुगलों के आगमन के बाद देश की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति में होने वाली उथल-पुथल का स्पष्ट एवं गहरा प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा। इस्लाम एवं सनातन भारतीय संस्कृति का अंतर्द्वंद्व संस्कृत में एक नयी और सकारात्मक अभिव्यक्ति के साथ प्रतिफलित हुआ और संस्कृत कवियों का लोकभाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं, तमिल, कन्नड़, मलयालम, प्राचीन मराठी, गुजराती आदि के साथ-साथ उर्दू-फारसी आदि में रचित सहित्य से भी परिचय हुआ, फलतः संस्कृत-साहित्य में नये विषयों और नयी विधाओं का सूत्रपात हुआ।आधुनिक काल (१९वीं शती के बाद) से पूर्व एकादश शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक के समग्र साहित्य की भावभूमि एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य की समीक्षा करते हुए प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कहते हैं - "लोक भाषाओं में रचना करने वाले सन्तों की वाणी संस्कृत में भी उतरी। लल्ल दे की पदावली का कश्मीरी से संस्कृत में अनुवाद भास्कर ने १६वीं शताब्दी में किया। कबीर के बीजक का संस्कृत में अनुवाद कवि बोधा ने १८वीं शताब्दी में किया। तुलसी साहित्य के अनुवादों की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। दूसरी ओर अरबी और फारसी के कथा साहित्य के अनुवाद संस्कृत में किये गये, जिससे नये ढंग की मांगलिक कथाकृतियाँ रची गयीं, इस अंतः क्रिया व पारस्परिकता के परिणाम स्वरूप संस्कृत की छन्द संपदा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। नए भवबोध के साथ नए छन्दों की अवतारणा कवियों ने की।"[1]

छन्दोबद्ध रचनाओं में मुक्तक विधा तथा गद्य रचनाओं की अनेक नई विधाओं में सृजन की ओर साहित्यकारों की रुचि बढ़ी। भक्तिकाल के कवियों के काव्य ने तो मुगलशासन की कट्टरता से अवसाद ग्रस्त समाज में नवस्फूर्ति लाने का प्रयास किया ही, साथ ही "रहीम और बिहारी जैसे कवियों की कविता का संस्कृत की मुक्तक रचनाओं पर प्रभाव पड़ा।"[2] १७वीं शती संस्कृत-साहित्य- साधना का अत्यंत उर्वर काल है, जिसमें लक्ष्य एवं लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन आचार्यों एवं कवियों ने बड़ी कुशलता और गंभीरता से किया। इस काल में नाटकों, शास्त्रीय ग्रंथों, महाकाव्यों, चरित काव्यों, मुक्तक एवं लघु काव्यों, गद्य एवं चंपू काव्यों तथा कथा साहित्य सहित साहित्य की प्रत्येक प्रचलित विधा में साहित्य प्रणयन हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी संस्कृत मुक्तक काव्य परंपरा की दृष्टि से क्षेमेंद्र के बाद सबसे समृद्ध और उर्वर कालखण्ड है; इसमें अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ भक्तिपरक स्तोत्र तथा ललित रचनाओं का विपुल साहित्य संस्कृत जगत् को मिला। सत्रहवीं शती की ऐतिह्य समय-सीमा के आभोग में सर्वप्रथम अकबर और तुलसीदास के वरिष्ठ समकालीन श्रीमधुसूदन सरस्वती का नाम ग्रहण किया जा सकता है; जिनका समय सोलहवीं शती का अवसान तथा सत्रहवीं शती का प्रारम्भ निर्धारित होता है।[3] 'अद्वैतसिद्धि' तथा 'भक्तिरसायन' जैसे गंभीर शास्त्रीय विवेचनपरक ग्रन्थों के साथ उनकी अन्य रचनाएं हैं 'आनन्दमन्दाकिनी काव्य', 'कर्णकुतूहल नाटक' इत्यादि। 'भक्तिरसायन' जैसे अद्भुत भक्तिरस-प्रतिष्ठापक ग्रन्थ के रचयिता होने के साथ मधुसूदनसरस्वती कृष्ण विषयक सरस-भक्ति-स्तोत्रों के अमर गायक भी हैं। आनन्दमन्दाकिनी काव्य तो कवि की कृष्णविषयक माधुर्यभाव की

अभिव्यक्ति का अनुपमेय ग्रन्थ है। इनके अनेक पद्य आज भी रसिक कृष्णभक्तों के कण्ठहार बने हुए हैं –

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्, कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।[4]

दक्षिण भारत में श्रीमद्भागवत के समान आदरास्पद तथा आचार्य शंकर के स्तोत्रों के बाद बहुसमादृत 'नारायणीयम्' स्त्रोतकाव्य के प्रणेता भट्टनारायण ने चंपू, मीमांसा दर्शन तथा व्याकरण से भी सम्बद्ध अनेक रचनाएं की हैं। 'नारायणीयम्' सदृश कृष्णभक्ति की प्रौढ़ रचना के साथ कवि की श्रृङ्गारपरक काव्य रचनाएं उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रत्यय करती हैं। 'कोटिविरहः' नामक १०७ श्लोकों के श्रृङ्गारपरक खण्डकाव्य में पूर्वराग विरहव्याकुलता तथा अनन्यप्रेम की गहन भावानुभूति के दर्शन होते हैं। इसकी नायिका श्रृङ्गारलीला की लीला देखें -

सङ्केतभूमिः सुकुमारताया सङ्गीतसाहित्यसरोमराली
श्रृङ्गारलक्ष्मीरिव सम्भृताङ्गी श्रृङ्गारलीलेति बभूव बाला।।[5]

'ताराशशाङ्कम्' नामक काव्य के प्रणेता श्रीकृष्णकवि भट्टपादनारायण के पुत्र थे। यह रचना इनके पिता के चंपूकाव्य से प्रभावित है; किन्तु कल्पनाएं नवीन और मनोहर हैं। वैष्णवभक्ति परक 'चित्तामोदकाव्य' एक शतककाव्य है; जो षष्ठिकादास द्वारा प्रणीत है। यह १०८ पदों की रचना है; इसमें ग्रथित श्लोकों की लयात्मकता ने कृष्णभक्ति की सरसता को और सान्द्र बना दिया है-

उत्पलनेत्रं पङ्कजवक्त्रं नीरदकान्तिं कोमलगात्रम्।
चम्पकमालारञ्जितकेशं मानस कृष्णं चिन्तय नित्यम्।।[6]

राजाभाव सिंह की राजसभा के समादृत कवि रूद्र १३६ श्लोकों में निबद्ध 'भावविलास' काव्य के प्रणेता हैं; जो अन्योक्तिपरक काव्य है। परवर्ती इतिहासकारों ने इनके 'भ्रमरदूतकाव्य', 'वृन्दावनविनोदकाव्य, तथा 'पिकदूत' आदि अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। संस्कृत जगत् के चर्चित 'हास्यसागर' प्रहसन के प्रणेता रामानन्द त्रिपाठी एक सफल मुक्तककार के रूप में भी अपनी पहचान रखते हैं। 'पद्यपीयूषम्', 'रसिकजीवनम्', 'रामचरितम्', 'कटाक्षशतकम्', 'धन्यशतकम्', 'शशांकशतकम्' आदि शतक काव्य इनकी सरस मौलिक काव्य कृतियां हैं। कवि नीलकण्ठ शुक्ल ने 'श्रृङ्गारशतक', 'जारजातशतक' तथा 'अधरशतक' नामक श्रृङ्गारपरक रचनाएं की तथा इसके अतिरिक्त १६५६ ईस्वी में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रचित इनका सरस खंडकाव्य 'चिमनीचरितम्' एक संपन्न मुगल कन्या चिमनी और एक युवा पण्डित दयादेव के प्रेम की कथा से संगुफित है। 'रामचंद्रयशः' प्रबन्धकाव्य के प्रणेता गोविन्दभट्ट पद्यवेणी, पद्यामृततरंगिणी तथा सुभाषितरत्नभंडागार में उद्धृत अपने सूक्तियों, सुभाषितों तथा स्तुतिपरक रचनाओं, उर्वर कल्पनाओं के लिए भी कवि जगत् में ससम्मान चर्चित हैं। 'पद्यवेणी' के एक श्लोक में पार्वती की शंकाओं का समाधान करते शिव की उक्तियों में अपह्नुति की छटा देखते ही बनती है-

मौलो किं नु महेश मानिनि जलं किं वक्त्रमम्भोरुहं,

किं नीलालकवेणिका मधुकरी किं भूलता वीचिका।
किं नेत्रे शफरी स्तनयुगं प्रेङ्खद् रथाङ्गद्वयं,
साशङ्कामिति बोधयन् गिरिसुतां गंगाधरः पातु नः।।[7]

आंध्र के तैलङ्ग ब्राह्मण कुल में उत्पन्न पण्डितराज जगन्नाथ के लहरीकाव्य 'गंगालहरी', 'अमृतलहरी', 'करुणालहरी, 'लक्ष्मीलहरी', 'सुधालहरी' तथा इसके अतिरिक्त 'भामिनीविलास' आदि काव्यकृतियां संस्कृत जगत् में सुप्रसिद्ध हैं। शास्त्रीयपाण्डित्य के साथ प्रौढ़कवित्व का मञ्जुल सामञ्जस्य पण्डितराज की विलक्षण प्रतिभा का प्रत्यय कराता है। भामिनीविलास दीर्घकाल से सूक्तियों और विविधविषयावलम्बित अनूठी वक्रोक्तियों- अन्योक्तियों के लिए संस्कृत साहित्य रसिकों का कंठहार बनी है- भक्तिभावना से ओत-प्रोत गंगालहरी, सुधालहरी, अमृतलहरी प्रभृति लहरियों में कवि के द्रवीभूतहृदय की उक्तियां पाठक को रसमग्न करने में पूर्ण सक्षम हैं। कतिपय उदाहरण कवि की भावप्रवणता का परिचय कराने के लिए प्रस्तुत करना प्रासङ्गिक होगा-

न वदामि न दुष्कृतं मया कृतम्, इत्युक्तमिमां तु मे श्रृणुं।
मम भीतिमनीवशद् विभो, पतितोद्धारक नाम तावकम्।।[8]

अपनी अनन्यशरणता को क्रमशः सूखते सरोवर की मछलियों से परितुलित करता हुआ कवि बड़े ही मार्मिक शब्दों में अपने भाव व्यक्त करता है-

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
सङ्कोचमञ्चति सरस्तवयि दीन दीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपेतु।।[9]

इसके अतिरिक्त अब्दुर्रहीम खानखाना जो मुगल सम्राट अकबर के समकालीन बैरम खां के पुत्र थे, ने संस्कृत में अनेक फुटकर पद्यों के अतिरिक्त स्तुतिपरक रचना 'गंगाष्टकम्' तथा ज्योतिषविषयक 'खेटकौतुकम्' तथा 'त्रयस्त्रिंशद्योगावलिः' की रचना की है। गंगा के प्रति कवि की असीम श्रद्धा इस श्लोक में देखी जा सकती है -

अच्युतचरणतरङ्गिणि मदनान्तकमौलिमालिनीमाले।
त्वयितनुवितरणसमये हरता देया न में हरिता।।[10]

कवि रत्नकंठकृत 'सूर्यशतक', कवि वंशीधर मिश्र कृत १०४ अन्योक्तिपरक पदों का संकलन 'अन्योक्तिस्तबक', कवि षडक्षरदेव कृत 'रत्नावली', 'अम्बाष्टक', 'भद्रासव' आदि मुक्तक काव्य प्रमुख हैं। कवि गोकुलनाथ ने पुत्री कादंबरी की स्मृति को समर्पित 'कुंडकादंबरी' नामक एक शोकगीति की रचना की है; जो संस्कृत साहित्य जगत् में करुणा और अवसाद से प्रेशल शोकगीति का नवीन आविष्कार कही जा सकती है। इन्होंने शताधिक ग्रंथों का प्रणयन किया; जिसमें अधिकांश अनुपलब्ध हैं।[11] 'शिवशतक' नामक इनकी रचना में भक्ति, दर्शन और आध्यात्म की अजस्र त्रिवेणी प्रवाहित हुई है। पुत्री के प्रति कवि का शोकोद्गार 'कादम्बरीप्रश्नोत्तराणि' तथा 'कादम्बरीकीर्तिश्लोक'

नमक ग्रन्थों में भी व्यक्त हुआ है। 'कादम्बरीप्रश्नोत्तरमाला' से एक उद्धरण कवि के करुण वात्सल्य का परिचय देने में समर्थ है-

आवां वात्र प्रकृतिकृपणौ दूरमुद्यम्य बाहू, विक्रोशावः करुणवचनं पुत्रि कादम्बरीति।
कोऽसौ लोकः? क इव विषयः किं पुरं को निवासो, यस्मिन्नस्मद्विमुखहृदया त्वं निलीय स्थितासि?

समकालीन सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य करने वाले और समाज का यथार्थ चित्रण करने वाले कवियों में क्षेमेन्द्र के बाद नीलकण्ठ दीक्षित अन्यतम कवि हैं। उनकी रचनात्मक प्रज्ञा ने संस्कृत जगत् को 'कलिविडम्बनम्', 'सभारञ्जनशतकम्', 'अन्यापदेशतकम्' आदि सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने वाली रचनाओं के साथ 'आनंदसागरस्तवः', 'शांतिविलासः', 'वैराग्यशतकम्', 'शिवोत्कर्षमञ्जरी', 'चंडीरहस्यम्', 'रामायणसारसंग्रहः', 'गुरुस्तवमालिका' प्रभृति स्तुति एवं गहन भक्तिपरक रचनाएं दीं। इनमें कवि के उक्तिचातुर्य और पाण्डित्य के साथ हास्य एवं व्यंग्यप्रियता का भी परिचय मिलता है। कालिविडम्बनम् के व्यंग्य कवि के काल में जितने प्रभावी और सटीक थे वर्तमान में भी उनकी प्रासङ्गिकता यथावत् सार्थक है। इसीप्रकार अन्यापदेशशतकम् में भी अन्योक्तियों के माध्यम से अनेक प्राकृतिक उपादानों के व्याज से कवि ने समकालीन परिस्थितियों में अपने जीवन दर्शन को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। इसी प्रकार भक्ति एवं स्तुति परक ग्रन्थों में देवों के प्रति कवि का प्रहवीभाव उसी तन्मयता से व्यक्त हुआ है। भक्ति, नीति एवं लोकव्यवहार को निर्देशित करने वाली इन रचनाओं में जीवन के अनुभूत सत्य का प्रत्यक्ष निदर्शन मिलता है। दाम्पत्य जीवन में अनुकूल गृहणी के महत्व को इन पंक्तियों में सहज ही देखा जा सकता है-

गृहिणा यदि लभ्येत गृहिणी हृदयङ्गमा। संसार इति को भारस्तं सारमनुपश्यतः।।
आहत्य चिनुमः स्वर्गपगवर्गमपि क्रमात्। अनुकूले हि दाम्पत्ये प्रतिकूले न किञ्चन।।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रचना धर्मिता की दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी का संस्कृत साहित्य बहुत ही उर्वर और विविधता भरा है। इसमें जिसप्रकार रचनाओं की प्रचुरता है; उसी प्रकार उसमें विषयवैविध्य और लोकसरोकार की भी प्रचुरता दिखाई पड़ती है। शास्त्रीय पाण्डित्य और सरस साहित्यिक प्रतिभा से युक्त कवियों से यह काल अत्यन्त समृद्ध रहा है। विशेष बात तो यह है कि सत्रहवीं शताब्दी का साहित्य समाज से अत्यधिक सम्पृक्त और लोकव्यवहार के चित्रण में प्रयस्त रहा है। उक्ति वैचित्र्य, समाज से सहज संवाद, जीवन के यथार्थ का यथातथ्य वर्णन ऐसी विशेषताएं हैं; जो सत्रहवीं शताब्दी के काव्य रचना संसार को एक पृथक् पहचान देती हैं।

सन्दर्भ -

[1]संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास/ तृतीय खण्ड/ भूमिका/

[2]तत्रैव पृष्ठ संख्या 2

[3]संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, पृष्ठ संख्या 1550

[4]श्रीमद्भगवद्गीता- गूढार्थदीपिका/ चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान/ पुनर्मुद्रित संस्करण- 2005/ पृष्ठ संख्या- 901

[5]संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, पृष्ठ संख्या 1553

[6]तत्रैव पृष्ठ संख्या 1555

[7]पद्यवेणी श्लोक 16

[8]करुणालहरी,श्लोक 37

[9]भामिनीविलास,श्लोक 17

[10]संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, पृष्ठ संख्या 1565

[11]तत्रैव पृष्ठ संख्या 1583

[12]सभारञ्जनशतकम् 92/93

Cross-cultural Influence of Indian Knowledge Tradition: A Critical Exposition of Ralph Waldo Emerson's Literary Works

• Dr. Prashant Shukla* & Dr. Richa Shukla**

ABSTRACT: The fascination with India has long captivated the attention of scholars and writers from around the world. Throughout literary history, illustrious names such as T.S. Eliot, E.M Forster, R.P Jhabwala and Rudyard Kipling have drawn inspiration from the rich tapestry of Indian culture. Likewise, Ralph Waldo Emerson's philosophical outlook is noticeable. The present paper is an attempt to comprehend, analyze and appreciate Indian impression on Emerson mainly on following grounds: (a) Influence of Indian notion of *Brahman* on Emerson's Works, (b) Influence of *Bhāgavad Gītā,* and (c) Law of Karma. As a concluder, it has been established that despite having an apparent cross-cultural influence of Indian Knowledge Traditions (Concepts of *Brahman Ātman, Māyā* and Karma) on his thoughts, Emerson is skeptical about the union of 'Over-Soul' and *Ātman* for polarity.

Keywords: Indian Knowledge Tradition, Brahman, *Ātman, Māyā*, Karma, Over-Soul.

The fascination with India has long captivated the attention of scholars and writers from around the world. Throughout literary history, illustrious names such as T.S. Eliot (1888-1965) - *The Wasteland*, E.M Forster (1879-1970) - *A Passage to India*, R.P Jhabwala (1927-2013) - *Heat and Dust*, and Rudyard Kipling (1865-1936) - *The Whiteman's Burden* have drawn inspiration from the rich tapestry of Indian culture. Likewise, Ralph Waldo Emerson's philosophical outlook is noticeable. Born on May 25, 1803, Boston (Massachusetts), United States, Emerson could be considered the first

*Associate Professor (Philosophy), University of Lucknow
**Assistant Professor (English Literature), Balram Krishan Academy, University of Lucknow

'Boston Brahmin' for having a keen observation and understanding of Indian scriptures and philosophy. Although west has been putting its effort to delve into the immense corpus of Indian Knowledge System, it was only in the 18th century that British conquest brought many western scholars to examine the history, philosophy and culture of the Hindus. Among them, we find eminent scholars like Charles Wilkins who translated the *Bhāgavad Gītā* (the dialogue of Krishna and Arjuna); Sir William Jones the prominent thinker of Indology, whose early essays "On the Hindus", "On the Gods of Greece, Italy and India", and "On the Chronology of the Hindus" were well-read and appreciated in Europe; and Thomas Colelbrook who wrote the first comprehensive analysis of the *Vedas*.[1]

Emerson's fascination with Indian scriptures and philosophy can be attributed to the influence of his father, Reverend William Emerson. Reverend Emerson founded the *Anthology Club* in 1804, where discussions on Indian themes were of significant interest to its members. Concurrently, he also edited periodicals titled *Monthly Anthology* and *Boston Review*, which frequently delved into discussions and analyses of Indian philosophy. Emerson's burgeoning interest in India was nurtured in the company of his father and his aunt, Mary Moody Emerson. Despite Reverend William Emerson's passing (when R.W. Emerson was just 8 years old), the discussions held around the family's fireside regarding Indian knowledge traditions left an indelible mark on Emerson's mind.[2]

While living in Massachusetts, Emerson became a prominent member of the group of transcendentalists. Emerson's transcendentalism, beliefs, ideas and wide range of knowledge can be summarized in just one sentence delivered by Emerson: "Can anyone doubt that if the noblest saint among the Buddhists and noblest Mahometan, the highest Stoic of Athens, the purest and wisest Christian, Manu in India, Confucius in China, Spinoza in Holland, could somewhere meet and converse together, they would find themselves of one religion?" (Buell, xx)[3]

Before his junior years at Harvard in September 1819, Emersion studied Lord Alexander Wood Houselee's *Considerations on the Present Political State of India*. This book was an exploration of the 'degraded' condition of Indian society and especially the exploitation of lower caste by *Brahmins*[4], Emerson's interest in India got deepened with his exploration of Indian Hymns translated by Sir William Jones in *The Asiatic Miscellany* (Vol.1). Among all other, *Hymn to Narayana* made a greater influence on Emerson's curiosity to explore India, which he included in his compilations of favorite poets and poems called *Parnassus* (1875).[5]

The present paper is an attempt to comprehend, analyze and appreciate Indian impression on Emerson mainly on following grounds:

1. Influence of Indian notion of *Brahman* on Emerson's Works
2. Influence of *Bhāgavad Gītā*
3. Law of Karma

Let's discuss them one by one:

1. Influence of Indian notion of *Brahman* on Emerson's Works

Brahmā, the Lord of creation is one among the Trinity of *Brahmā, Vishnu* and *Shiva* in Indian (Hindu) religion. While *Brahmā* is considered as the power behind the creation, *Vishnu* is the preserver and *Shiva* (Mahesh) is the destroyer of the world. Emerson's influence of Indian notion of *Brahman* mainly moves around the following concepts:

a) Concepts of *Parā* and *Aparā Brahman*

b) Concept of *Ātman*

c) Concept of *Māyā*

a) Concepts of *Parā* and A*parā Brahman*:

According to *Upaniṣads* (treated as the culmination of Vedic knowledge), formed *Brahman* (*Parā*) and formless *Brahman* (A*parā*) are respectively unreal and real. According to *Bṛhadāranyaka Upaniṣad*: "Truly there are two aspects of *Brahman*, the formed and the formless, the mortal and the immortal, the unmoving and moving, the existent and that which is beyond existence" (Herman, 107). When the immortal *Brahman* enters the earthly *Brahman* (human), they become unified. For Emerson, understanding the incredibility of *Brahman* is beyond human intellectual capacity as he writes in his one of the philosophical poems Brahma, as follows:

"If the red slayer think he slays,
Or if the slain think he is slain,
They know not well the subtle ways
I keep, and pass, and turn again.
Far or forgot to me is near;
Shadow and sunlight are the same;
The vanished gods to me appear;
And one to me are shame and fame.
They reckon ill who leave me out;
When me they fly, I am the wings;
I am the doubter and the doubt,
And I the hymn the Brahmin sings.
The strong gods pine for my abode,
And pine in vain the sacred Seven;
But thou, meek lover of the good!
Find me, and turn thy back on heaven." (Emerson, 665)

Here, in the last lines of the given poem, Emerson seems optimistic about human understanding of this complex concept of *Brahman* and that humans can attain the magnificence of the Supreme (God). For him, humans can understand those 'subtle ways' someday which are just 'in vain' search for 'strong gods'. Emerson believes that

one's good deeds and justful acts throughout the life can associate one with the 'Majesty of God'. In his book *Divinity School Address*, Emerson remarks that: "The intuition of the moral sentiment is an insight of the perfection of the laws of soul. These laws execute themselves. They are out of time, out of space and not subject to circumstance. Thus, in the soul of man there is a justice whose retributions are instant and entire. He who does a good deed is instantly ennobled himself... If a man is at heart just, then in so far is he God; the safety of God; the immortality of God, the Majesty of God to enter into the man with justice." (Emerson, 131)

In simple words, a man with good deeds and justice may be integrated with *Brahman* and can become immortal like Him. This is a unique way of the integration between *Parā* and A*parā Brahman*.

b) Concept of *Ātman* (Supreme Self or Spirit)

Bṛhadāranyaka Upaniṣad (1.4.10) of the *Śukla Yajurveda* (1.4.1) talks about the concept of *Aham Brahmāsmi* that means 'I am the divine force within'. We find similar illustrations in Christianity in Saint Paul's words Galatians 21:20, "It is not I who live but Christ that liveth in me" (quoted in Herman, 110). Emerson reflects on the same concept of *Ātman* in *Divinity School Address*s as Jesus the true prophet of the new race saw the obscurity of *Ātman*. He found that God presents himself through man. He said "I am divine; through me, God acts; through me, speaks. Would you see God, see me: or thee, when thou also thinkst as I now think." (Emerson, 134)

Emerson believed that every individual shares the same divine spirit if they attain Christ's 'sublime' divinity. Not only this, Emerson rejected the thought of any mediator, priest, church etc. between Supreme power (God) and his devotee. He looks at this idea with a new name i.e.: 'Over-Soul' that is eternal and that embodies "...every man's particular being''. Emerson's 'Over-Soul' is the maker of all things and all persons, stands behind us and casts his dread omniscience through us over things (Emerson, 217). Emerson suggests that the ultimate goal of all humans is the amalgamation of the individual soul and the supreme (over) soul.

c) The Idea of *Māyā*

The simplest Indian way (i.e. the common man's understanding) to understand *Māyā* is to comprehend it as a magical power through which *Brahman* manifests and reveals its presence to his creation. A.L Herman remarks that *Māyā* could be understood as "The means by which *nirguna*, or higher *Brahman* is enabled to manifest itself as *Saguna* or lower *Brahman*..." The *Upaniṣad* offers a more convincing answer to the cosmological questions about origin by signifying that its power of *Māyā* behind all the creation. The whole creation is the nothing but the presentation of the imperishable and unmanifested, it is the supreme Lord *(Isvara)* who is the power behind the actual creation and performs it in association with this *Māyā* (Herman, 108).

Moreover *Māyā* is both the power of creativeness and power itself. *Svetāsvatara Upaniṣad* as quoted by Herman in his book *An Introduction to Indian Thought* asserts: "Know that nature (*Prakrti*) is *Māyā* and that the user of *Māyā* is great Isvara. And the whole world is filled with beings that are part of him." (Herman, 109)

Hence, the relationship among the Supreme Power (*Isvara*), the power of creativeness (*Māyā*) and the *Ātman* (being the part of divine-soul) is incredible and beyond the comprehension of human understanding. To celebrate the magical magnificence of *Māyā*, Emerson wrote a poem *Maia*. In this philosophical poem, *Māyā* is projected as an oriental dancing girl: generally understood as a religious reflection, this seems an impression of Colebrooke's s *Miscellaneous Essays* which he read in 1845 and noted this passage from volume 1 in his journals, as; "Nature is likened to a female dancer exhibiting herself to soul as to an audience." (and is reproached with shamelessness for repeatedly exposing herself to the rude gaze of the spectators). "She desists, however, when she has sufficiently shown herself. She does so because she has been seen. He desists because he has not seen her. There is no further use for the world: yet the connexion of the soul and nature still subsists. (Colebrook, 259). The poem exhibits a close resemblance with Indian notion of *Māyā*:

"Her Gay pictures never fail,
Crowds each other, veil on veil,
Charmer who will be believed
By man who thirsts to be deceived
Illusions like the tints of pearl,
Or changing colours of the sky,
Or ribbons of a dancing girl
That mend her beauty to the eye..."[6]

Not only this, Emerson seems fascinated with the Indian notion that *Māyā* is a power behind all the creation and quotes from Vedas that "the world is born of *Māyā*" (Journal, xvi, 33). Emerson arrives to the conclusion that understanding the divine concept of *Māyā* is a fruitless effort, while he calls Brahma in his philosophical poem "the doubter and the doubt". Likewise, Emerson seems confused about the notion of *Māyā* too. Alluding Indian mythology, Emerson writes, "Brahma said, No, it is not thy true form, that which man sees with his organs made to seize different objects for thou who art the asylum of knowledge. Of substance, & of quality, thou art distinct from that product of *Māyā* which has no real existence." (Journal, xvi, 31)

For Emerson, comprehending the notion of *Māyā* is a dream-like-effort: to decode its working, one has to unite with *Māyā* with equal need of detachment as Emerson writes, "Adore, in order to escape from existence, him who can annihilate it, & whose feet are adorable: he who unites himself, whilst remains distinct from it, to *Māyā*, which is his energy endowed with qualities." (Journal, xvi, 32)

Many of Emerson's essays deal with the concept of *Māyā* as in the case of his essay *Illusions,* Emerson says that we all are the part of illusion created by *Māyā*. He explains the concept of *Māyā* with an analogy of a patient in a hospital. He throws light on the miserable condition of human life as "we change only from bed to bed, from one folly to another, it cannot signify much what becomes of such castaways, wailing, stupid, comatose creatures, lifted from bed to bed, from the nothing of life to nothing of death."(384)

2. Influence of *Bhāgavad Gītā* :

In between the perplexities of the Indian notion of Brahma and *Māyā*, Emerson is certainly most influenced by the *Bhāgavad Gītā* as he called Gita the "first of books" (Buell, 178).

Referring to the supremacy of *Gita* over the knowledge of whole Britain, Emerson says: "In England, the understanding rules and materialistic truth, the becoming, the fit, the discrete the brave, the advantageous. But they could not produce such a book as the *Bhāgavad Gītā*." (Journal, x, 503)

Bhāgavad Gītā, as we know, is a Hindu Sanskrit scripture which deals with the dialogue between Krishna (the *Brahman*) and Arjuna (the soul). Arjuna is just a medium through which Krishna preaches the world to choose duty over the personal emotions. Krishna reveals his being the incarnation of *Brahman* as: "Though Unborn for the *Ātman* (soul) is eternal, though Lord of all beings, yet using my own nature, I come into existence using my own *Māyā*." (*Bhāgavad Gītā*, Chapter 4, Verse 7-8)

Krishna further says; "For whenever there is a decaying of Dharma and rising up of Adharma, then I send myself forth" (Herman, 146). These lines resonate with Emerson's viewpoint in one of his philosophical essay 'Over-Soul', where he asserts that all the creation is nothing but a part of the same 'Over-Soul', hence searching for God outwardly (as in Church) is not needed. To enlighten our spiritual world, one has to follow one's intuition only. Here, Emerson reflects an immense influence made by *Upaniṣads* and *Gītā* that *Nirguna Brahman* (Over-Soul) manifests itself through individual beings.

Not only this, Emerson reflects a commendable influence of the imperishable nature of Supreme knowledge when he says; "The first thing we have to say respecting what are called new views here in New England at the present time, is that they are not new, but the very oldest of thoughts cast into the mould of these new times."[7] (Emerson, web)

According to *Bhāgavad Gītā* (4.1-4.8), Sri Krishna tells Arjuna that he teaches Yogic knowledge through *Bhāgavad Gītā* which is imperishable. All great entities like *Vivasvan (Sun-god)* to Manu (the first of mankind), this yogic knowledge have been in succession. According to *Gītā* (4.2): "The supreme yogic knowledge was received in disciplic succession and understood by saintly kings. But in the course of time, the

succession was broken and therefore appears to be lost". Further *Gītā* (4.3) states: "The same yogic science is being explained by me to you." (4.3)

The eminent scholar of *Upaniṣads* and *Gītā*, Swami Vivekanand also believed that '' it (the Vedantic religion's) sanction in the eternal nature of man and its ethics are based upon the eternal spiritual solidarity of man. And our first principle is that all that is necessary for the perfection of man and for attaining unto freedom is there in the Vedas: "You cannot find anything new. You cannot go beyond the perfect Unity..."[8]

Emerson in his essay *Compensation* explores correct expression of Indian Mythology as "... a plain confession of the in-working of the All and of its moral aim." (Emerson, 58)

Emerson's essays like *Self Reliance*, Over-Soul, his journals and his letters all are the reflections of *Bhāgavad Gītā*. In a letter (written on May 24, 1831) addressed to William Emerson, Ralph Waldo Emerson says that "I have been reading 7 or 8 lectures of Cousin- in the first of the three volumes of his philosophy. A master of history, an epic he makes of man and of the world - and excels all men in giving effect, yea, eclat to a metaphysical theory. Have you not read it? Its good reading- well worth the time- clients or no clients." (Letter 1, 322)

3. Law of *Karma*

Like the notion of *Brahman* and *Māyā* and imperishable nature of supreme knowledge, Emerson is influenced by the law of Karma too. In Indian knowledge tradition of *Upaniṣads* and *Vedas*, *Karma* signifies "the result or consequences of an action" or more precisely "the unwanted to-be-avoided-at-all-costs results or fruits of action". According to Vedas, *Upaniṣads* and Bhagwat Geeta act of disobedience results into suffering. In the *Bṛhadāranyaka Upaniṣad* (iv.4, 6) Karmic law is explained as, "This is what happens to the man who desires. To whatever his mind is attached, the self becomes that in the next life. Achieving that end it returns again to this world"(quoted in Herman, 131)

In more comprehensive words we all have to face the results of our karmas and we all are bound to face them. Referring to law of *Karma*, *Svetāsvatara Upaniṣad* depicts two significant principles:

1. "According to its actions, the embodied self chooses repeatedly various forms in various conditions in the next life", and
2. "According to its own qualities and acts, the embodied self choose the kind of forms, large and small, that it will take on." (quoted in Herman,131)

Hence, what we are today is the result of our past choices.

Another interpretation to such *Karmic* law might be that the self achieves what it desire and deserves; there is no such God to interfere in this process. According to Franklin Edgerton "... it is men's relation to propriety and morality, *dharma*, which alone determines. For more than two thousand years, it appears that almost all Hindus

have regarded transmigration, determined by 'karma' as an axiomatic fact. 'By good deed one becomes what is good; by evil deed, Evil" (quoted in Herman, 132)

Hence, all the suffering is the result of our own *karmas* and what one becomes is the choice of one's own self. In his essay *Self Reliance,* Emerson pleads to 'trust thyself' because we all are the part of the same divine soul (*Brahman*). Emerson forbids his readers to depend on any outer force like good luck or an omen for success and failure. Emerson says repeatedly that no outer source can bring peace to us. It's the obedience, our good deeds and principles that may lead to ultimate peace. (Emerson, 164)

Emerson's Skepticism

Despite having huge impact of Indian philosophical views, Emerson seems skeptic at certain points. Vigilant to the two contradictory aspects of every phenomenon, Emerson remarks in his essay *The Conduct of Life* about the virtue of necessity. One can only suspend the contradictions of Mind by 'Art of Living'. Emerson seems to believe in both- the power of fate and free-will and suggests his readers to go with free will. If both fate and free will are real, one has to conquer both. Emerson rhetorically comments that; "How shall a man escape from his ancestors, or draw off from his veins the black drop which he drew from his father's or his mother's life?"

Since nature (for Emerson) is sole responsible for heredity and it shall bring both disasters and delights simultaneously, how can one only choose delight and ignore disasters? This discussion, in its remnant form, has already been there for many philosophers and thinkers like Epicurus (a Later Greek Thinker) and David Hume (a Modern Western Sceptic), when they discuss to reconcile the existence of pain or evil with Good (popularly known as the *Problem of Evil*). Many Roman thinkers (like Saint Augustine) answer these questions (popularly known as the 'Privation of God'). Emerson also doesn't get any precise solution, but in his scholarly essay *Compensation* he says, "... to empty here, you must condense there". However, Emerson taking a midway, says in his essay *The Conduct of LIfe* that "... if we must accept fate, we are not less compelled to affirm liberty".

In a nutshell, both Indian views on Karma and Self, and Emerson's opinion on free will resonate at a certain point that even if something like fate exists, 'Self', like and Iron Smith can reshape it with the hammer of his 'good deeds' and 'choices'.

Another sceptic approach of Emerson towards the dualism is not suitable when he says in his essay *Compensation* that 'there is a crack in everything God has made' (174) Emerson calls this dualism 'polarity' that is present in all the things prevailing in the nature. Emerson says "polarity or action and reaction, we meet in every part of nature in darkness and light, in heat and cold.... An inevitable dualism bisects nature, so that each thing is a half"(168)

Although Emerson like Indian notion of 'Mukti' believes that the union of *Atman* with *Brahman* is the only way to attain Mukti, but later the idea of dualism *Parā*lysis is notion of Mukti. Emerson remarks in his essay *Compensation* that "the same to dualism

underlies the nature and condition of man... Every sweet hath it's sour, every Evil it's good"(169)

Concluder Remark: In a nutshell, we can say, that despite having an apparent cross-cultural influence of Indian Knowledge Traditions (Concepts of *Brahman Ātman*, *Māyā* and Karma) on his thoughts, Emerson is skeptical about the union of 'Over-Soul' and *Ātman* for polarity.

Endnotes:

[1] For a fuller treatment of this early cultural contact, see P.J. Marshall (ed.), *The British Discovery of Hinduism in the Eighteen Century*, Cambridge: Cambridge University Press, 1970.

[2] For finer-grained detail on William Emerson and India, see Kenneth Walter Cameron, *Indian Superstition by Ralph Waldo Emerson* (Edited with a dissertation)

[3] Buell, Lawrence. (ed.) *The American Transcendentalists*, New York: The Modern Library,

[4] Here, the term *Brahmin* a clear connotation of the higher caste/majoritarian populace of (then) India.

[5] Ralph Waldo Emerson (ed.), *Parnassus, Boston*; James R.Oswood and Company,1875,p.180

[6] Poem quoted in A.E. Christy, *The Orient in American Transcendentalism*, New York; Octagon Books,Inc., 1963), pp 93-94.

[7] https://www.emersoncentral.com/trascendentalist.htm.

[8] *The Complete Works of Swami Vivekanand*a, Vol.3, Advaita Ashram Publication, May 1999 Edition, ISBN: 81-85301-46-8, pp. 249-250.

References

- Atkinson, Brookes (ed.), *The Complete Essays and Other Writings of Ralph Waldo Emerson,* New York: The Modern Library, 1940.
- Buell, Lawrence (ed.), *The American Transcendentalists*, New York: The Modern Library, 2006.
- Christy, A.E., The Orient in American Transcendentalism, New York: Octagon Books, Inc., 1963.
- Emerson, R.W., *Divinity School Address*, London: Philip Green, 1903.
- Emerson, R. W. (ed.), *Parnassus*, Boston; James R. Oswood and Company, 1875.
- Gilman, JMN, IX, 292.
- Hamilton, Sue, *Indian Philosophy: A Very Short Introduction*, New York: Oxford UP, 2001.
- Herman A.L., *An Introduction to Indian Thought*, Englewood Cliffs, NJ: Prentice-Hall, 1976.
- Kenneth Walter Cameron, *Indian Superstition by Ralph Waldo Emerson* (ed.) with a dissertation.
- Marshall, P.J. (ed.), *The British Discovery of Hinduism in the Eighteen Century*, Cambridge: Cambridge University Press, 1970.
- Rusk, Ralph L. (ed.), *The Letters of Ralph Waldo Emerson*, New York: Columbia UP,1939.
- *The complete works of Swami Vivekanand*, Vol.3, Advaita Ashram Publication, May 1999 Edition (ISBN81-85301-46-8).
- http://www.emersoncentral.com/transcendentalist.htm.

Attention, Stillness and Compassion: The Cessation of Longings and the Practice of Dispassion in Zen Sayings

• Adarsh Narayan Parbat*

Abstract : The central tenets of Zen philosophical tradition are shaped by the philosophical precepts of the Indian Mahayana tradition. The focus of the paper will be to elucidate the ways in which Zen sayings prove to function as a tool to contemplate profoundly on mindfulness (attention), meditation induced tranquillity (stillness) and altruistic love (compassion) which helps to regulate emotions and the cessation of longings through the practice of dispassion. It engages with the central philosophical ideas in the practice of Zen which are emptiness and non-self. By incorporating theoretical insights with textual analysis of Zen literature, primarily Zen Sayings, the paper elucidates the ways in which the meaning of Zen sayings can propel one towards an effective and deep transformation of consciousness which results in mental stability. The interconnectedness of attention, stillness, and compassion proves to be an indispensable and necessary framework for spiritual awakening. The study attempts to emphasise the importance of the ancient teachings of Zen and Buddhist philosophy in addressing challenges of existential dissatisfaction and resolution of psychological conflict in the modern world.

Keywords: Zen sayings, paradox, dispassion, cessation of longing, stillness, compassion.

Indian Mahayana Tradition and Zen

Zen Buddhism is a part of the Mahayana tradition of Buddhism. The Mahayana tradition primarily lays emphasis on the ideal of the Boddhisattva which emphasizes on the enlightenment of all beings. The Zen tradition and practice emanated from the philosophical interventions of Boddhidharma, an Indian monk who travelled to China to elucidate and propagate the philosophy of Buddhism from India to east Asia. The word

*Research Scholar, School of Letters, Dr. B R Ambedkar University, New Delhi

Zen which is derived from 'Chan', originally owes its origin to the Sanskrit word 'dhyana'. The focus of Zen which is to cultivate mindfulness to achieve direct experience of enlightenment can be traced to Indian practices of *samadhi and vipassana* meditation. It is recorded that the texts which are pivotal to the philosophy of Zen which are the *Heart Sutra* and the *Diamond Sutra* were originally written in Sanskrit. Apart from that, the adoption of master-student lineage and the concept of sudden awakening have Indian roots as these practices form the foundation of early Buddhist philosophical discourse in India. In the Zen Buddhist tradition, the focus is on the strict adherence to rules laid down in the Mahayana sutras to develop and harness skill (kusala) which include generosity, wisdom and a commitment towards the realization of truth. The akusala roots of greed, avarice and hatred are prevented and avoided. Padmasiri states that in Buddhist tradition "Virtue has to be developed by the cultivation of good habits and continuous self-analysis" (p.11). Self-analysis in the tradition entails the analysis of mental factors which promote the path to live a virtuous life.

Philosophy of Zen Sayings

Foulk (2000) states that Zen master Aashina Sogen, describes Zen sayings as an "expressions in words or actions of the enlightened state of mind of people who have gained awakening through the intimate practice of Zen" (p.38). Zen sayings are both paradoxical and perplexing in nature because the sayings don't provide any immediate logical resolution to the complexities that are entailed in them. One of the four noble truth emphasizes that the cessation of longing and desire(nibbana) is pivotal for the realization of non-self. The engagement with Zen sayings helps the practitioner to cease longings through the practice of dispassion. The practitioner undergoes their training in the philosophy of Zen and to have a sincere and diligent approach towards the realization of non-self and impermanence. Non-self in the tradition of Zen is a state of realization of a non-tangible and an impermanent self. The state of non-self puts emphasis on the eradication of craving and advocates the practice of dispassion. The Zen sayings in Zen literature focus on the deconstruction and eventually negation of form, feeling, memory, volition and consciousness. The Zen sayings focus on the premise that form, feeling, memory, volition and consciousness are subject to change, and a person who identifies with any of the above-mentioned aspect of personality or personhood, is bound to abide by the construction of an 'I', a 'me' and 'myself'. In Zen traditions, with the help of meditative awareness, one sheds off the above-mentioned aspects of personality and personhood to arrive at the realization of non-self. The concept of Zazen which translates to just sitting, is an important aspect of inspection of Zen sayings. There is an emphasis on allowing the body and the mind to experience all the thoughts and sensations which arise during Zazen, or just sitting. The Zen sayings focus on meditation, i.e., on the practice of samadhi to cease longings through the practice of dispassion.

The engagement with Zen sayings elucidates the importance of meditation and mindfulness. The sayings primarily include symbolic poetry, which is used to communicate the inexpressible enlightenment experiences by Zen masters. Symbolism here becomes an indispensable device in conveying the ineffable nature of the truth of non-self, emptiness and impermanence.

The point of engaging with Zen saying is to cultivate awareness of moment-to-moment experience. The practice of Zen strives to transcend our binary, dual and egocentric ideas of the self and aim for genuine emancipation and unobstructed, complete freedom, any form of attachment is vigorously rejected by Zen masters.

Zen Sayings and Cultivating of Attention

The sayings taken here for analysis are primarily from Victor Hori's collection of Zen sayings in *Zen Sand: The Book of Capping Phrases for Saying Practice.* One of the important themes in Zen saying is the cultivation of attention to look deeply at the binary, dual and egocentric ideas of the self. Attention in the Buddhist tradition is pure, untainted or bare inspection of the mind. It is devoid of any reaction. The engagement with Zen sayings involves focusing on the corporal and the psychological aspects of experience to cease longings through the practice of dispassion. When one focuses on the quality of experience and find that the psychological aspects of experience are overbearing, the impulse to react to these aspects of experience is diminished by cultivating attention. A saying mentioned in Hori's collection is "It's like cutting a bundle of threads— One cut cuts all" (p.373). The engagement with the saying helps the practitioner focus on the importance of unwinding and decluttering the mind through the cultivation of attention towards realization of emptiness of all phenomena. The mind in its unexamined state is like a bundle of threads, which means there are lot of entanglements and the mind lacks the capacity to comprehend these entanglements and untie them. The cut mentioned in the saying points to razor sharp single point meditative concentration. In the process of meditation, one uncovers the constituents that make up an experience.

Attention is cultivated to be ardent, alert and mindful of any sensations which arise in the mind or the body. The *Satipathana Sutta* elaborates attention as the cultivation of focus which helps one to become aware of the mind and the mental qualities. In the Buddhist tradition, there is non-reliance on memory (sanna) as memory gets distorted with time. Pelled (2007) asserts that the "prevention of delusion is the purpose of meditation" (p.1514). The purpose of meditation is also transformation of consciousness to realize the authentic self, which is non-self and to cease longings through the practice of dispassion.

Non- Attachment

Another saying in Hori's collection is "Though gold dust is precious, in the eyes it obscures the vision" (p.325). The engagement with this saying aids the practitioner to realize that the tendency of the mind to attach itself to precious material things or the

idealization of the self is detrimental because it diverts the practitioner from the noble eightfold path which advocates right view and right concentration. Also, one often forgets the concept of impermanence which is central to the philosophy of Buddhism and holds onto the precious material thing or idealized notions of the self. As the practitioner pays attention to his/her experiences and registers that there the form of the object is inconsistent, he/she acknowledges the transitory or fleeting nature of the same perception by the mind and does not grasp it. He/she further practices non-attachment to his/her perception which further helps to cease longings through the practice of dispassion.

To realize the meaning of the Zen saying, the practitioner acknowledges the contact of sensory organs to the object present in his/her external physical environment or psychic environment. In the Zen Buddhist tradition, the practitioner acknowledges the fluidity and movement of mental states and the ineffable nature of all forms. One cultivates 'a mind of no-mind' which helps in maintaining fluidity and openness to one's own thoughts and others. Bret Davis (2021) states that "if you empty, open, and clear your mind, if you attain what Takuan calls the mind of no-mind, then it will act whenever you need it [and] exactly how you need it." (p. 223)

Encounter with the Present Moment

A saying in Hori's collection states, "It illuminates the past and reflects the present" (p.105). 'It' here denotes enlightenment and the realization of emptiness of all phenomenon. The engagement with this saying helps the practitioner to get in touch with the present moment. When the mind concerns itself with thoughts emanating from the memory of the past or projections of the future, the practitioner directs his/her attention to these thoughts and attempts to get back to the present moment. The mind is required to denude itself of memory of the past or desire for the future. The meaning of the illumination of past here means that the whatever is unconscious to the individual becomes conscious by cultivating attention. The engagement with this saying helps the practitioner to encounter the present moment and maintain neutrality as it becomes an important marker for sustaining lucidity while sitting for meditation. The encounter of the present moment through the attainment of samadhi requires the practitioner to maintain awareness of non-attachment to pain or pleasure and helps to cease longings through the practice of dispassion.

Stillness

Another saying in the collection states "As I Sit quietly in my hut/White clouds arise on the mountain peaks" (p.371). As elucidated in the saying here, the cultivation of attention to foster quietude helps the practice to move towards stillness. Sitting here implies sitting with meditative awareness and quietly here suggests that the mind is calm yet dynamic. The hut implies the abode of the mind and the body. The emergence of the white clouds on the mountain reflects the serenity that one experiences when one has successfully cultivated quietude by calming the mind. Vago and Zeidan (2016) points

out that fostering attention during mindful meditation reduces inadvertent mind wandering. They state that an inadvertent mind which wanders is subjected to numerous thoughts and emotions. Stillness curbs the impact of thoughts which are by nature intrusive and compulsive. The engagement with this sayings helps the practitioner to reach a single point of concentration which subsequently results in stillness, lucidity of the mind and simplicity in thought. They state that single pointed concentration is cultivated by the practice of samadhi which helps to cease longings through the practice of dispassion. With the practice of samadhi, one reaches increasing level of absorption in the object of attention. As stated by Vago and Zeidan (2016), samadhi also helps the practitioner to achieve the experience of flow and peak states of performance.

One reaches stillness by contemplating on birth, ageing, illness and death. One also arrives at stillness by focusing on desire, which is the root cause of distress, lamentations, impatience and frustrations. Through contemplation on desire, birth, aging, illness and death, one reflects on all mental and physical pains.

The engagement with this saying helps the practitioner to realise stillness and how stillness can help to reduce ruminations. Wolkin (2015) states that the ruminations are curtailed by sustaining attention and by prioritizing attention when the cognitive demand is higher. The ruminations are curtailed through increased self-control and willpower which results in the modulation of cognition and behavior. To curtail ruminations, one decenters and reperceives oneself. The engagement with this saying helps the practitioner to reflect on the objective nature of thought than the subjective one and to cultivate non-judgmental awareness.

Compassion

A saying in Hori's collection states "Above to seek awakening, below to save sentient beings" (p.338). As elucidated in the Zen saying here, it is important to seek enlightenment and simultaneously to bestow compassion to all sentient beings. The philosophy of Buddhism promotes acknowledging the humanity of fellow human beings with compassion. The individual who feels isolated from his own self or from other can benefit from the practice of mindfulness. Mindfulness can also help people focus on human action which emanates from good intents and drives the mind to practice free will.

The engagement with this saying will also help the practitioner to harness loving kindness. Salzberg (2011) states that, "Loving-kindness is essentially a form of generosity, an offering of the heart, rather than categorizing others in terms of those whom we care for and those who can be easily excluded, ignored or disdained" (p.180). She states that loving-kindness may or may not mean discernible or visible generosity, but "it is a kind of generosity of the spirit" (p.180). She further states that loving kindness facilitates us from stepping away from "our normal self- preoccupation to a completely inclusive attention toward all beings" (p.180). The less one is attached to one's own preoccupation, one is more able to cease longings through the practice of

dispassion and one further becomes open to the idea that all beings deserve compassion and kindness.

The engagement with this saying helps the practitioner to develop self-compassion. Self-compassion helps in regulating the negative association with one's painful past associations. One becomes aware to not over identify with these painful past associations and search for a meaningful way to approach them.

The engagement with this saying helps the practitioner to get themselves out from the clutches of delusions and helps them to get in touch with reality of the world. It helps one to get out of prevailing hallucinations. The fantasies of the virtual world are replaced with the reality of the subjective experience with mindful attention.

Attention and Non-Abiding Mind

Another saying in the collection is "Arouse the mind that abides in no place"(p.318). As implied in the saying here, a practitioner needs to cultivate a mind which is empty of all characteristics. When the meditator has cultivated quietude through cultivating attention to the impermanent nature his/her own self, there is a realisation that there is nothing intrinsic to the character of the mind which one can hold onto. The engagement with this saying helps the practitioner to realise the function of the formless self, which is to involve itself to its environment around it effortlessly. It helps the practitioner to cease longings through the practice of dispassion Elaborating on the nature of the self which is true self, Magid (2000) contends:

It is an absence of, we might answer, not only a "false self", but also any notion at all of a "true self" or "lifeplan" that we seek to discover within our lives. The true self of Zen is *no-self,* the non-self-centered response to life as it is, the non-dualistic, non-essentialized experience of being just this moment. (p.522)

Conclusion

The engagement with the sayings helps to cultivate attention, stillness and compassion and fosters spiritual growth. It addresses all psychic events which pertains to the functioning of mind and the body. The interplay of attention, stillness and compassion in the practice of Zen contribute to psychological well-being and body awareness. One can infer that with meditation one begins to tolerate anxiety and cope with multiple stressors and helps to control impulsiveness and helps one to exude vitality and spontaneity. HÖlzel (2011) states that mindfulness through cultivating meditative awareness and attention also helps to counterbalance depressive states and help with attention deficit disorders. Cultivating stillness and compassion for all sentient beings help one to realize that we are interdependent and interconnected. Cultivating compassion also helps the practitioner to cultivate openness and to cease longings through the practice of dispassion.

References

1. Abe, M. (1985). *Zen and Western Thought*. Palgrave Macmillan.
2. Adams, W. (1995). Revelatory openness wedded with the clarity of unknowing:

Psychoanalytic evenly suspended attention, the phenomenological attitude.
Psychoanalysis and Contemporary Thought, 18(4), 463–494.

3. Ayduk, Ö., & Kross, E. (2010). From a Distance: Implications of Spontaneous Self-distancing for Adaptive Self-reflection. *Journal of Personality and Social Psychology, 98*(5), 809-829.
4. De Silva, P. (2014). An Introduction to Buddhist Psychology and Counselling. In *Palgrave Macmillan UK eBooks*.
5. Foulk, G. (2000). The form and function of saying literature. In S. Heine (Ed.), *The Saying*.OxfordUniversityPress.
6. HÖlzel, B. K., et al. (2011). How Does Mindfulness Meditation Work? Proposing Mechanisms of Action from a Conceptual and Neural Perspective. *Perspectives on Psychological Science, 6*(6), 537-559.
7. Hooper, C. (1997). Sounding Out One Hand: The Zen Saying as Literary Form and Site of Realisation. *A Grain of Eternity: 1997 Australian International Religion, Literature and the Arts Conference Proceedings,* 122-128.
8. Hori, V. S. (2003). *Zen Sand: The Book of Capping Sayings for Saying Practice*. University of Hawaii Press.
9. Kasulis, T. P. (1987). *Zen Action/Zen Person: Zen Action*. University of Hawaii Press.
10. Magid, B. (2000). The couch and the cushion: Integrating Zen and psychoanalysis
Journal of the American Academy of Psychoanalysis, 28(3), 513–526.
11. Pelled, E. (2007). Learning from experience: Bion's concept of reverie and Buddhist meditation: A comparative study. *The International Journal of Psychoanalysis, 88*(6), 1507-1526.
12. Salzberg, S. (2011). Mindfulness and Loving-kindness. *Contemporary Buddhism, 12*(1), 177-182.
13. Wolkin, J. (2015). Cultivating Multiple Aspects of Attention Through Mindfulness Meditation Accounts for Psychological Well-being Through Decreased Rumination. *Psychology Research and Behavior Management*, 171.
14. Vago, D. R., & Zeidan, F. (2016). The Brain on Silent: Mind Wandering, Mindful Awareness, and States of Mental Tranquility. *Annals of the New York Academy of Sciences, 1373*(1), 96-113.

Arithmetic series in the jaina works Ganita Sāra Sangraha (G.S.S) and Pāti¯gaṇita

• Dr. P.M.Mini*

Abstract : The subject of Mathematics was given high importance in India from the very beginning of our history since the vedic period itself. Ancient Indian mathematicians were very much interested in Algebra and made substantial contributions to this field. The Jaina philosopher mathematicians have on their part made substantial enrichment to the various subdivisions connected with Algebra. Series was an important concept of jaina mathematics. Mahāvi¯ra and Śri¯dhara were very much interested in the topic. We can clearly see the descriptions of both arithmetic series and geometric series in their works. The general terminology of a series in arithmetic progression is First term - Ādi, Mukha, Vadana, Prabhava, Common difference - Caya, Uttara, Pracaya, Number of terms - Gaccha, Pada, Sum - Saṅkalita, Dhana. At several places we can find the formula and example for finding first term, sum of n terms, common difference, etc.

A critical approach on this topic has been attempted in this article.

Keywords: Pātīgaṇita, Caya, Uttara, Pracaya, Gaccha, Ādi, Mukha, Vadana, Prabhava Pada, Saṅkalita, Dhana

Geometrical representation of series (Series figure)

The pictorial representation of a series known as series figure is a unique idea of Jainas. In Pāti¯gaṇita Śri¯dhara gives a diagrammatical representation of a series in arithmetic progression by series figure. Such a representation is known as Średhi kṣetra or series figure. The series figure is a plane figure resembling a trapezium with equal flank sides. If a series is $a + (a + d) + (a + 2d) + (a + 3d) \ldots \ldots$ upto n terms then according to v. 79 the altitude of the corresponding series figure is 'n' units. The

*Head, Dept. of Mathematics, M.A.M.O. College Mukkom, Calicut, Kerala.

partial areas of the series figure for the successive cubits of the altitude form a series which begins with the given first term and increases successively by the given common difference.

Construction of the series figure

First construct the series figure[1] corresponding to the first term of the series.

The number of terms i.e., '1' is the altitude of the corresponding figure. The first term of the series as diminished by half of the common difference is the base i.e., $\left(a-\frac{d}{2}\right)$ and that base increased by the common difference of the series is the face i.e.,. $a-\frac{d}{2}+d=a+\frac{d}{2}$

Two threads should be stretched out one on other side, joining the extremities of those base and face, these are the flank sides of the figure.

When the base is negative these threads should be stretched out crosswise. (See figures)

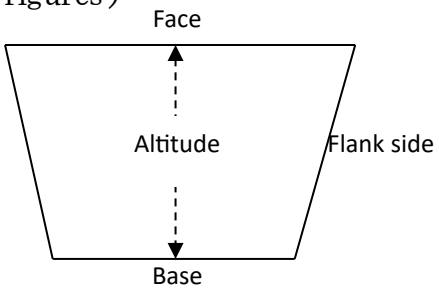

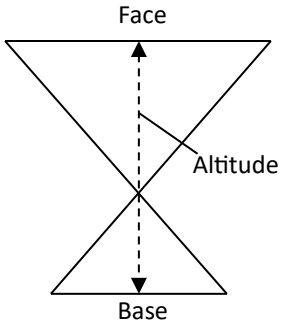

When the base is 'negative' the series figure reduces to 2 triangles situated one over the other.

Then altitude of the upper triangle = $\frac{face}{face-base}=\frac{2a+d}{2d}$

Altitude of the lower triangle = $1-\frac{face}{face-base}=\frac{d-2a}{2d}$

The rule for the face of the series figure corresponding to the given series is:- The face (for altitude unity) minus the base (for altitude unity) multiplied by the desired altitude and then increased by the base (for altitude unity) gives the face (for desired altitude).

ie face for altitude n = $\left[\left(a+\frac{d}{2}\right)-\left(a-\frac{d}{2}\right)\right]n+\left(a-\frac{d}{2}\right)$

= $\left(dn+a-\frac{d}{2}\right)$ = $a+\left(n-\frac{1}{2}\right)d$

Now the area of the series figure is.$\left(\frac{base+face}{2}\right)+altitude$

= $\frac{\left(a+\frac{d}{2}\right)+[a+\left(n-\frac{1}{2}\right)d\,]}{2}x\,n$ = $\frac{2a+(n-1)d}{2}\,x\,n$ =$\left(a+\frac{n-1}{2}d\right)n$

By modern mathematics the sum of 'n' terms of the series is $\left(\frac{n-1}{2}d+a\right)n$

i.e., the sum of n terms of a series is equal to the area of the corresponding series figure.

Mahāvi¯ra in GSS 2.61 gives the same formula for the sum of 'n' terms of an arithmetic series.

रूपेणोनो गच्छो दलीकृतः प्रचयताडितो मिश्रः।
प्रभवेण पदाभ्यस्तस्सङ्कलितं भवति सर्वेषाम् ।।[2]

The above sloka means that the number of terms in the series is deminished by 1 and halved and multiplied by the common difference. This is combined with the first term in the series and multiplied by the number of terms and this result will be the sum of the series.

But Mahāvi¯ra doesn't give the concept or construction of series figure.

In GSS 2.74 Mahāvi¯ra gives the subrule for finding the first term of a series in AP given the common difference, the number of terms and sum of the series as

प्रभवो गच्छाप्तधनं विगतैकपदार्धगुणितचयहीनम्।
पदहृमतधनमाद्यूनं निरेकपददलहृमतं प्रचयः।।[3]

The above verse states that the sum of the series divided by the number of terms when diminished by the common difference multiplied by the half of the number of terms less by 1 gives the first term of the series.

So $a = \frac{S}{n} - d\left(\frac{n-1}{2}\right)$ where S is the sum of the series, d is the common difference, n is the number terms and a is the first term. The same rule is given in Pāti¯gaṇita v. 86 by Śri¯dhara.

Śri¯dhara gives one more result in Pāti¯gaṇita v.88 for finding first term if no. of terms, sum of the series and miśradhana (i.e., the sum of the first term and common difference) are given.[4] i.e $a = \frac{\frac{n^2-n}{2}(a+d)-S}{(\frac{n-1}{2}-n)n}$ Similarly the subrule[5] to find the common difference, given the first term, number of terms and the sum of the series is $d = \frac{\frac{S}{n}-a}{\frac{n-1}{2}}$ as per GSS 2.74.

In G.S.S. 2.69 the rule to find the number of terms of a series in AP, given first term a, common difference d and sum of the series S, is given as[6]

$$n = \frac{\frac{\sqrt{(2a-d)^2+8Sd}+d}{2}-a}{d}$$

This is very clearly true because $S = \left[\frac{n-1}{2}d + a\right]n$

i.e., $dn^2 + (2a-d)n - 2S = 0$ solving which

$$n = \frac{\sqrt{8ds+(2a-d)^2}-2a+d}{2d} = \frac{\frac{\sqrt{(2a-d)^2+8Sd}+d}{2}-a}{d}$$

But in Pāti¯gaṇita v.87. gives the same rule as[7]

$$n = \frac{\sqrt{8dS+(2a-d)^2}-2a+d}{2d}$$

According to Śrī dhara the series $a + (a + d) + (a + 2d) + (a + 3d) \ldots\ldots$ upto $n+\frac{p}{q}$ terms means the sum of 'n' terms together with the $\frac{p}{q}$th part of the $(n + 1)$ th term.

Śrī dhara also gives the following rules of a series in AP interpreted symbolically.

1. The sum of the series S, given first term a, common difference d and number of terms $n + \frac{p}{q}$ (partially integral and partially fractional)[8] is $S = \frac{n}{2}[(dn + a) + (a - d)] + \frac{p}{q}(dn + a)$
2. The first term of the series a, given common difference d, the no. of terms $n + \frac{p}{q}$ and the sum of the series S is[9]

$$a = \frac{S - \left[\frac{1}{2}(n-1) + \frac{p}{q}\right] dn}{n + \frac{p}{q}}$$

3. The common difference d of a series, given the first term a , the number of terms $n+\frac{p}{q}$ and the sum of the series S is[10] $d = \frac{S - a(n+\frac{p}{q})}{S'}$

   where S' is the sum of the $n + \frac{p}{q} - 1$ terms of the series 1 + 2 + ...
4. The number of terms $n+\frac{p}{q}$ of a series given the first term a, common difference d and the sum of the series S is[11]

   The no. of terms N= $n+\frac{S - \left[(n-1)\frac{d}{2} + a\right] n}{nd + a}$ where n = integral part of $\frac{\sqrt{2dS + \left(a - \frac{d}{2}\right)^2} - \left(a - \frac{d}{2}\right)}{d}$

This result is true because if N is the number of terms of the series N=$n+\frac{p}{q}$ then

$$S = [\tfrac{N-1}{2} d + a]N \quad \text{or} \quad dN^2 + 2\left(a - \frac{d}{2}\right)N - 25 = 0$$

$$N = \frac{-2\left(a - \frac{d}{2}\right) + \sqrt{8dS + 4\left(a - \frac{d}{2}\right)^2}}{2d} = \frac{-\left(a - \frac{d}{2}\right) + \sqrt{2dS + \left(a - \frac{d}{2}\right)^2}}{d}$$

$$= \frac{\sqrt{2dS + \left(a - \frac{d}{2}\right)^2} - \left(a - \frac{d}{2}\right)}{d}$$

Then n= integral part of $\frac{\sqrt{2dS + \left(a - \frac{d}{2}\right)^2} - \left(a - \frac{d}{2}\right)}{d}$ and $\frac{p}{q} = \frac{S - \left\{(n-1)\frac{d}{2} + a\right\} n}{nd + a}$ which is obtained from (1)

But from Vedic period itself Indians were aware of series in AP.[12]

In connection with the sum of the series Mahāvī ra introduced the concepts ādidhana, uttaradhana, antyadhana, madhyadhana and sarvadhana.

पदहतमुखमादिधनं व्येकपदार्धघ्नाचयगुणो गच्छः।
उत्तरधनं तयोर्योगो धनमूनोत्तरं मुखेऽन्त्यधने ।।

चयगुणितैकोनपदं साद्यन्त्यधनं तदादियोगार्धम्।
मध्यधनं तत्पदवधमुद्दिष्टं सर्वसङ्कलितम् ।।[13]

From the above verse if 'a' is the first term, 'd' is the common difference and 'n' is the number of terms of a series then

1. Ādidhana – na 2. Uttaradhana -. $n\,d\frac{1}{2}(n-1)$ 3. Antyadhana - $(n-1)d+a$
4. Madhyadhana -.$\frac{[(n-1)d+a]+a}{2}$ 5. Sarvadhana - (1) + (2) or (4).n

All these facts are exactly same as the ideas in modern Mathematics. Moreover it should

be specially noted that Jains were giving importance to minute concepts such as Ādidhana

Uttaradhana etc. that is not seen in modern mathematics.

Rule to find the common difference given Ādidhana, sum of the series 'S' and the number of terms n is

$d=\frac{S-na}{\frac{n^2-n}{2}}$ [14] and $d=\frac{\frac{2S}{n}-2a}{n-1}$ [15]

Rule to find the first term given the sum of the series S, uttaradhana and the number of terms n is $a=\frac{S-\frac{n(n-1)}{2}d}{n}$ [16] $a=\frac{1}{2}[\frac{2S}{n}-(n-1)d]$ [17]

Series of squares and cubes of the terms of an Arithmetic Series

In GSS 6.298 Mahāvi¯ra clearly gives the rule to find the sum of the squares of the terms of an arithmetic series

द्विगुणैकोनपदोत्तरकृतिहतिषष्ठांशमुखचयहतयुतिः।
व्येकपदघ्ना मुखकृतिसहिता पदताडितेष्टकृतिचितिका।। [18]

The above rule states that twice the number of terms is diminished by 1 and multiplied by the square of the common difference and is divided by 6 and then the product of the first term and the common difference is added. The resulting sum is multiplied by the number of terms as diminished by 1. To this the square of the first term is added. This sum multiplied by the number of terms becomes the sum of the squares of the terms in the given series.

ie., if a, a+d, a+2d, a+3d ..... is the given series then

$$\sum_{r=1}^{n}[a+(r-1)d]^2=\left[\left\{\frac{(2n-1)d^2}{6}+ad\right\}(n-1)+a^2\right]n$$

By the modern mathematics

$$\sum[a+(r-1)d]^2 = \sum[a-d+rd]^2 = \sum(a-d)^2+a^2d^2 2(a-d)rd$$
$$= n(a-d)^2+d^2\sum r^2+2(a-d)d\sum r = n(a-d)^2+$$
$$d^2\frac{2n(n+1)(2n+1)}{6}+2(a-d)d\frac{n(n+1)}{2}$$
$$= n(a^2+d^2-2ad)+\frac{d^2}{6}n(2n^2+3n+1)+(ad-d^2)n(n+1)$$

$= n\left[(a^2 + d^2 - 2ad) + \frac{d^2}{6}(2n^2 + 3n + 1) + (ad - d^2)(n + 1)\right]$

$= n\left[d^2\left\{1 + \frac{2n^2+3n+1}{6} - (n + 1)\right\} + ad\{-2 + n + 1\} + a^2\right]$

$= n\left[d^2\left(\frac{2n^2-3n+1}{6}\right) + ad(n - 1) + a^2\right]$

$= n\left[d^2\frac{(2n-1)(n-1)}{6} + ad(n - 1) + a^2\right] = n\left[\left\{\frac{(2n-1)d^2}{6} + ad\right\}(n - 1) + a^2\right]$

So the rule given by Mahāvi¯ra is absolutely correct

According to Pāti¯gaṇita v.105[19]the sum of the squares of the first n terms of an arithmetic series is

$$\sum_{r=1}^{n} [a + (r - 1)d]^2 = a^2 + (a + d)^2 + (a + 2d)^2 \ldots\ldots\ldots [a + (n - 1)d]^2$$

$[a + (a + 2d) + (a + 4d) + \cdots + n\ terms]a + [1^2 + 2^2 + \cdots . (n - 1)^2]d^2$

According to Mahāvi¯ra

चित्यादिहतिमुर्खचयशेषघ्ना प्रचयनिघ्नचितिवर्गे।

आदौ प्रचयादूने वियुता युक्ताधिके तु घनचितिका।।[20]

$\sum_{r=1}^{n} a + (r - a)d]^3 = S^2d + Sa\ (a - d), if$ a>d $= S^2d + Sa\ (a - d),\ if$ a<d

According to Pāti¯gaṇita[21]

$$\sum_{r=1}^{n} a + (r - 1)d]^3 = a^3 + (a + d)^3 + \cdots [a + (n - 1)d]^3$$

$$= S^2d + aS(a - d)\ \ where\ S = \sum_{r=1}^{n} a + (r - 1)d$$

All these results are same as the results of modern mathematics

There are many unpublished works in Jaina literature which are unexplored even now from which we may get more new concepts than today.

References

1 Śri¯dhara, Pāti¯gaṇita,Department of Mathematics and Astronomy, Lucknow 1959 vv 79-83.

2 Dr.Padmavathamma, Sri Mahāvi¯rācāryā's Ganita Sāra Sangraha(GSS) , Siddhāntaki¯rthi Grandhamāla, Hombuja 2000 ,v 2.61.p.45

3 *Ibid.,* 2.74. p.53

4 Pāti¯gaṇita, *op.cit.,* v. 88,

5 G.S.S., *op.cit.,* 2.74, p.53.

6 *Ibid.,* 2.69, p.50

7 Pāti¯gaṇita, *op.cit.,* v. 87.

8 *Ibid.,* v. 89.

9 *Ibid.,* v. 90.

10 *Ibid.,* v. 91.

[11] *Ibid.,* v. 92-93.

[12] C. Krishnan Nambudiri, Bhāratī ya āstra Cinta, Book-1, Mathematics, Arshaprakasam Prasiddhī karaṇa Samiti, Calicut - 1, 2nd edition, Sept. 2008, pp. 175-181.

[13] G.S.S. *op. cit*., 2. 63.64.pp. 47-48

[14] Ibid v.2.73 p.52

[15] Ibid v.2.75 p.53

[16] Ibid v.2.73 p.52

[17] Ibid v.2.76 p.54

[18] Ibid v.6.298 p.399

[19] Pāti gaṇita, *op.cit.,* v. 105

[20] G.S.S. *op. cit*., 6.303,p.402

[21] Pāti gaṇita, *op.cit.,* v. 107

The Interstate Relation and Diplomacy in Kautilya Arthasastra and its Application in Modern India

• Dr. Sudipta Bhakat*

Abstract : The main topic of this article is the application of Kautilya's theories on diplomacy and interstate relations to contemporary Indian foreign policy. The priceless gems of classical Indian political philosophy are found in Kautilya's Arthasastra. Kautilya's Arthasastra shares a common theme concerning the roles and responsibilities of the monarch referred to as "Raj-Dharma." Both address the rules of social behavior, the enforcement of civil and criminal laws, and foreign policy, or interstate relations.

Kautilya`s Arthasastra was a science of politics proposed to teach a wise king how to govern. In this paper, I have highlighted the inter-state relation as reflected in the text as well as also discussed in detail the ancient strategy of policy-making, statecraft, and administration and its relevance in the present time.

In ancient India, "Rajaniti" was essentially the concept of politics (the ethics of politics or political ethics). Certain departures from the core principles of politics happen for various reasons. As a result, politics starts to revolve around expediency, convenience, and self-interest. The majority of transgressions on this planet are a result of politics' dismal descent from its once-high ethical standard. Both the Mahabharata and Kautilya's Arthasastra address the intricacies of political life and provide answers to a range of political issues. This study aims to investigate Kautilya's significance and relevance in the current Indian and global context, while also interpreting his ideas and concepts in light of interstate relations. Many statesmen in the modern era have applied Kautilya's theories to diplomacy and interstate relations.

Keywords: *Arthasastra, Interstate, Diplomacy, Development, Geopolitical.*

Introduction: The Arthashastra represents the original political thought of Kautilya and was probably written in 250 CE. This book was regarded as a guidebook for those

* Assistant Professor, Department of Sanskrit, Durgapur Government College, Durgapur, Pachim Burdwan, West Bengal

kings who wanted to run an effective government, though there is a detailed discussion about each and every activity a king should follow the most prominent discussion is on war and diplomacy. Arthashastra is not only a handbook for the king in running his day-to-day state affairs but also a pathfinder in making international relations with other countries. It is nothing but a book of certain laws followed by the king of ancient times for successfully governing a state there is quite a similarity between As an expansionist Kautilya has advocated about preservation of states through good governance and welfareism and expansion of territory through aggressive foreign policy. A timeless and all-encompassing treatise on all aspects of statecraft, including intelligence, diplomacy, foreign policy, law, politics, and the management of war and peace, is the Arthashastra. It clarifies that a state's primary goal is to protect and provide for the welfare of its citizens.

Kautilya thought that states behaved in their own political, economic, and military interests when it came to diplomacy. He believed that since every State acts to maximize its power and self-interest, foreign policy and diplomacy will continue to be practiced as long as the interests of the State were served. The concepts of diplomacy, statecraft, and interstate relations were expounded upon by Kautilya. He referred to the interstate relations principles as the Mandala theory. Mandala's theory is the basis of his foreign policy which is even followed by Indian foreign policy makers nowadays. Mandala theory written by Kautilya is a theory of world conquest. Today's India has very good international relations due to its fast economic development, wide cultural influence strong military position, and strong foreign policy. [1]The former Indian diplomat Shyam Saran stated that India is unable to protect its security from developments occurring in its neighboring states. In his text from long ago, Kautilya conducted a thorough analysis of the topic by viewing the Indian subcontinent as a geopolitical unit and realizing that sub-continental concerns had to be defined in order to define the strategic imperatives. [2]Kautilya's counsel to follow one's interests rather than becoming enmeshed in a lifelong friendship or enmity with another country is echoed loudly in Jawaharlal Nehru's non-alignment policy, which is praised as a practical policy reflecting India's geopolitical situation. [3]The essence of Arthashastra was also articulated by Manmohan Singh, the second Prime Minister of India, who claimed that "the art of conducting the foreign affairs of a country lies in finding out what is most advantageous to the country, whatever policy we may lay down." The Arthashastra's themes are also reflected in the pragmatic foreign policy that the current prime minister, Narendra Modi, pursued during his previous term. His ₹neighborhood first₹ policy exemplified the Kautilyan wisdom of viewing neighbors as opportunities rather than obstacles.

Inter-State Relation and Diplomacy in Kautilya Arthasastra

Scholars who are specifically interested in investigating the potential for theorization in Indian interstate relations have found Kautilya's Arthashastra to be an increasingly

inspiring source of ideas. The three types of power that Kautilya identified are the power of knowledge (*mantrashakti*), the power of counsel (*prabhavashakti*), the power of the army and treasury (*prabhavashakti*), and the power of valor (*utsahshakti*), which is the power of energy. The power of counsel is the most powerful of these. The intangible factor that influences policy decisions—intellectual strength derived from data collection, analysis, and judgment—is accorded more weight. Because "one wheel alone does not turn and keep the cart in motion," rulership must be performed with the assistance of allies. The ruler makes a decision about policy by analyzing data that he directly observes, learns indirectly from other people's communications, and draws conclusions from deductions (forming an idea of what has not been done from what is done). The process is made scientific and comprehensive by the combination of inferential logic and empiricism. The highest deciding body that supported the king in making decisions was the Council of Ministers. The characteristics required for appointment as council members were carefully considered and included courage combined with intelligence, strength, energy, and the capacity to handle difficulties in times of disaster. Depending on the situation, a formula determines how many council members the king should consult. Kautilya cautions against having talks with one (only) councilor because he might not be able to decide on complex issues because one councilor acts without hesitation and does as he pleases. When consulting with the two, they could either unite and control the king or divide and ruin him. Making decisions with three or four people becomes challenging, and making more than that leaves counsel vulnerable to leakage. Nonetheless, based on (their or his own) competence, the ruler should consult with one or two people or alone, depending on the location, time, and nature of the work to be done. Kautilya counsels the king to solicit the council members' opinions individually and collectively, along with the justifications for their positions. When faced with an urgent issue, the king should consult with the royal advisors and decide what the majority of them declare or what the ruler believes will best facilitate the completion of the task.

According to his belief expressed in Kautilya on Diplomacy, diplomacy was just another weapon in the never-ending war that every kingdom was either engaged in or preparing for. According to him, diplomacy is a set of steps a kingdom takes to build its might and ultimately subjugate the country with which it has established diplomatic relations. Additionally, he thought that treaties ought to be written so that the King gains and upholds the Kingdom's self-interest. [4]'A King who understood the true implication of diplomacy conquers the whole world,' is how he defined diplomacy. It was crucial to comprehend the Mandala concept—which comprises six categories of foreign policy—in order to comprehend his view of diplomacy. The concept of a mandala, which is highly appropriate in the current context, is explained here.

The Application of Kautilya Arthasastra in Modern India`s foreign policy

In an emergency, the king should ask for advice and decide based on what the ruler believes would be best for the completion of the task, or whatever the majority of them say, according to Kautilya. Achieving work goals means economic revival within the current federal framework, but Modi and the Chief Ministers must acknowledge the risks to public health in doing so, just as they did when they decided to relax migrant labor movement restrictions. The difficulty lies in persuading chief ministers who are risk-averse and reliant on experts.

Examining Modi's foreign policy critically and considering its historical legacy is important in this regard. There are some helpful parallels between his four predecessors. From them, Jawaharlal Nehru wrote about his study of the Arthashastra in his book Discovery of India. In a bipolar era, his non-alignment policy, panchsheel, and Afro-Asian unity has been a measured and sincere attempt to advance the India's interests and the 3rd World. However, by mismanaging the ties with China, he demonstrated a poor understanding of Kautilya's realpolitik.

On the other hand, his daughter Indira Gandhi demonstrated a more profound comprehension of geopolitics through her policy regarding Pakistan, which led to the formation of Bangladesh, a strategic triumph. She was, therefore, the greatest practitioner of Kautilya's craft. The 1st prime minister of the Bharatiya Janata Party, Atal Bihari Vajpayee, shared various policy characteristics with his Congress predecessors, but his major contribution was turning India into a nuclear power. India now has a unique place in the world as a result of this. He was a man of peace and poetry, and he supported realpolitik—the planning of war in order to prevent it. In order to provide strategic resilience to the handling of external relations, his successor, Manmohan Singh, improved relations with major powers by realistically moving beyond non-alignment and toward pluri-alignments. [5]As the current prime minister of the Bharatiya Janata Party, Narendra Modi has pursued a realist foreign policy. This is because he firmly believes that working "for a bold India and a better world, a harmonious neighborhood and a happier world, a strong Asia and a safer world" is in the best people interests.

India's increased self-assurance is reflected in Modi's rise to power. Foreign Minister S. Jaishankar emphasized that the country should aim to be a leading power rather than merely a balancing power in terms of its foreign policy. This is almost exactly what the *Arthashastra* defines as *vijigishu*, or "one who desires victory." The desire to fulfill Kautilya's concept of a "chakravartin," or ideal, universal leader, is reflected in the desire to rise to prominence. The basic lesson of the *Arthashastra* appears to have been understood by Modi and his advisors: knowledge is more valuable than wealth and power, so the ruler should exercise power wisely. Thus, Modi's foreign policy is a reflection of the *Arthashastra*'s focus on the wise, practical, and realistic utilization of power, guided by knowledge & the greater good, or *yogakshema* of the people. Modi's

India continues to embrace other forms of soft power and [6]vasudhaiva kutumbakam, which means "the world is one family," while concentrating on strengthening hard power as advised by Kautilya. India can become a smart power by carefully balancing its use of soft and hard power. *Vasudhaiva Kutumbakam* was the main focus of the most recent G20 summit, which took place in Bharat *Mandalam* on September 9, 2023. This hard along with soft power has the ability to make India a smart power. On January 12–13, 2023, India hosted a unique virtual summit named the Voice of Global South Summit with the theme "Unity of voice, Unity of purpose." The initiative was novel and distinct, with the goal of uniting nations from the Global South to exchange viewpoints and priorities on a shared platform encompassing an extensive array of topics. The initiative was supported by India's *Vasudhaiva Kutumbakam* philosophy and Prime Minister Shri Narendra Modi's vision of Sabka Saath Sabka Vikas Sabka Vishwas aur Sabka Prayas.
[7] Kissinger described Kautilya as "a Clausewitz and Machiavelli hybrid." He pointed out that while the *Arthashastra* stated that the goal of the strategy was to subjugate other states and overthrow the current equilibrium in order to win, European thinkers regarded the balance of power as the goal of foreign policy. This seems to be in line with Modi's worldview, which in this case indicates that he wants India to become a major player in international affairs. Compared to his predecessors, his vision is bolder and broader, and it gives India a larger role than previously thought. Clearly, his view is that to counter threats to national security and expedite economic transformation, friendly nations should be expanded and maintained in a creative and dynamic balance.
[8]The way that interstate relations have been handled in the modern era, from Nehru to Narendra Modi, is therefore heavily influenced by the strategic framework that the *Arthashastra* offers. In his writings, *Kautilya* outlined some fundamental ideas about diplomacy and interstate relations, including the following: a) no state can exist in isolation; b) there are no permanent allies or enemies in interstate relations; c) any kingdom is an ally or enemy depending on its geographic location in relation to the intending conqueror; and d) Even if he only controls a small area, a political science-trained wise king can use the best features of his sovereignty to conquer the outside world and will never be overthrown. [9]The primary concepts in *Arthashastra* pertaining to foreign policy and interstate relations are the four *Upayas* (Fourfold Measures), Mandala Siddhant, Saptanga theory (Saptaprakar), *Sadgunya Niti* (Sixfold Policy), and the types of wars.

Conclusion: The treasures of ancient Indian political philosophy are found in the Kautilya's Arthasastra. Kautilya's Arthasastra, while produced in various historical contexts, share a common theme concerning the roles and responsibilities of the King, referred to as "Raj-Dharma." This is a shared understanding of Dharma as well as a shared religious and philosophical foundation. We first look into Nehru's unique relationship with Kautilya before focusing on the largely latent influence of Kautilyan thought on social conduct principles, the application of civil and criminal laws, and

foreign policy, or interstate relations, as well as the political, intellectual, and strategic elites of modern-day India. As a result, the Kautilya Arthashastra's strategic basis serves as a major source of inspiration for how interstate relations are conducted in the modern era, from Nehru to Narendra Modi. Not only are we using Kautilya's political strategy in the future, but it is also being used today, just as it was in ancient India. Thus, we can conclude that employing that political tactic is contributing to the prosperity of our nation. Thus, Arthasastra's discourse on diplomatic practice and foreign policy can be considered a profoundly timeless classic of realism with an equally pertinent resonance to contemporary ideas and times.

References

1. Saran, Shyam. How India sees the world: Kautilya to the 21st Century. New Delhi: Juggernaut Books, 2017.
2. Dar, Arshid Iqbal. "Beyond Eurocentrism: Kautilya's realism and India's regional diplomacy". Humanities and Social Sciences Communications. 8: 205, 2021.
3. Baru, Sanjay. "The Accidental Prime Minister: The Making and Unmaking of Manmohan Singh". UK: Penguin, 2015.
4. Kautilya. The Kautilya Arthasastra, edited and translated by R. P. Kangle, Book I, Chapter 16, Motilal Banarsidass, Delhi, 1965.
5. Nani, Palkhivala. Memorial Lecture on 'India and the World', Chennai, 18 October 2013.
6. <https://www.youtube.com/watch?v=wMN759_7ZUI&feature=share&t=7m46s>, at JETRO Investment Seminar held at Tokyoon 23rd July 2012.
7. Kissinger, Henry. "World Order: Reflection on the Character of Nations and the Course of History" New York, Penguin Press, pp. 195, 2014.
8. Kumar, Rajeeb. "Inter State Relations in Kautilya`s Arthashastra", Karatoya: NBU J. Hist., Vol. 14, pp. 12-30, ISSN : 2229-4880, March, 2021.
9. Mukherjee, Bharati. "Kautilya's Concept of Diplomacy", New Delhi: Abhinav Publishers, 1998.

Genealogy of Viśvanātha, the author of Sāhityadarpan - A Study

• Dr. Ashok Kumar Satapathy*

Abstract: Whenever we discuss Sanskrit literature or poetics, the first thing that comes to our mind is Sahitya Darpan, there is no doubt about it. All scholars are unanimous regarding the period, works and acquaintance of Vishwanath Kaviraj, the author of Sahitya Darpan. Vishwanath Kaviraj has flourished the Sanskrit Alankar Shastra tradition by writing this notable work. Vishwanath was not the only scholar in his lineage, but his entire family came from a scholarly tradition. In this research paper, a complete introduction to the genealogy of Vishwanath will be discussed, it is hoped that it will be beneficial for lovers of Poetics.

Keywords: Poetics, Rhetoric, Mammata, Dhvani, Nisanka Bhanu Dev, Chandra Shekhar, Sandhi Vigrahika, Narayan Dash, Chandi Dash, Kavyaprkasha, Kavyaprakasha Darpana, Lochana

Introduction:

Vishvanath Kaviraj, an eminent scholar of poetics, is the author of the book Sahitya Darpan is the most remarkable work on rhetoric. Vishwanath has discussed in detail in this treatise regarding every topic of poetic elements. Most of the Sanskrit poeticians such as Dandin, Mammata and Jagannath have left dramaturgy untouched. The Sahityadarpana however contains a thorough disquisition on the technicalities of the dramatic art and forms, togetherwith the Natyasastra of Bharat and Dasarupaka of Dhananjaya a triumvirate in the domain of the Sanskrit drama. Another merit of the work is that it is written in a simple and flowing style. In Kavyaprakash clarity has been sacrificed for brevity while Rasagangadhar frightens the scholars by its flowery language, subtle reasoning and its scathing criticism of his predecessors. Whereas Vishvanath this place here and there a love for hair splitting, is generally clear in expression. He describes himself as the 'Sāndhi-vigrahika' or minister of Peace and War of a king of Odisha. He also describes himself as the Mahāpātra or Finance Minister

*Assistant Professor, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow

and as proficient in eighteen languages[1]. But the most interesting epithet he assumes, is 'Dhvani-prasthāpana-paramācārya' i.e. he led the dhvani theory to its legitimate conclusions. He is an out and out supporter of the Dhvani theory. He examines the definitions of Kavya of his predecessors and rejects them. He even, criticises the definition of Kāvya by the Dhvani-Kara himself and rejects it, thus

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्-

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति तत्किं वस्त्वलङ्काररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ?[2]

Further

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्-

"अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।" इति
अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।[3]

His own definition is very simple, and superior as compared to that of his counterparts. It says "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" where there is no rasa i.e. no aesthetic enjoyment, there is no Kāvya. Even Mammata could not rise to this height.

Date of Viśvanātha Kavirāj:

Reputed Indologists like Mahāmahopādhyāya Hara Prasad Shastri and Mahāmahopādhyāya Dr. P.V. Kane who have discussed the importance of the Sāhitya Darpan have placed its author in the 14th century. But the time of this great scholar can now be fixed with certainty between C 1406- 1420 A.D. on the strength of the unimpeachable testimony furnished by his 'चन्द्रकलानाटिका' edited and published by Sri S. N. Rajaguru and Prof. S. Das. This was staged in the presence of Gajapati *Nisanka Bhanu Deva,* before an assembly of learned scholars after his return to the capital from the conquest of Gauda or Bengal e.g.

सूत्रधारः- आर्य्ये पश्य पश्य, अयमिदानीं यवनपुर पुरन्ध्रीवर्गनिर्गलदविरलनयनजलधारा निर्धौतगिरिकन्दरो निखिलानवद्याविद्यानिधिरर्थिकुलकल्पद्रुमः सभामध्यास्ते गजपतिर्महाराजाधिराजः त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलः श्रीमान्निशङ्कभानुदेवः ।
आच्छन्ने धर्मधाम्नि प्रखरहयखुरक्षुण्णपृथ्वीरजोभिः
क्षिप्ते नक्षत्रलक्षे नभसि करिकरोद्धूतगंगापयोभिः ।
ज्योत्स्नाभिः कीर्त्तिचन्द्रे धवलयति जगज्जैत्रयात्रावकाशे
गौडक्ष्मापाललक्ष्मीर्व्यरचयदचिरादेव यस्याभिसारम् ।।[4]

From an inscription found in the Simhāchala temple it is known that in the 8th Anka or 6th regnal year of the king, a new bhoga (daily offering) was introduced which was called 'निशङ्कभानु भोग' after the name of the king, It can now definitely be said that Bhanu Deva IV was called 'निशङ्कभानुदेव' because Viśvanātha quotes the following verse from the सहृदयानन्द महाकाव्यम् which has proved before, was written by Krshnānanda: during the reign of Narasimha IV, the father of this Bhanu e.g.,

सुचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं

मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः
वाणः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि॥[5]

This verse of सहृदयानन्दमहाकाव्यम् is quoted in the 8th chapter of the Sāhityadarpana without any mention of the work or its author Krishnānanda. From the introductory portion of चन्द्रकला नाटिका, it is also known that Visvanātha was the सान्धिविग्रहिक महापात्र of Gajapati Nisanka Bhanu Deva e.g.,

'यदस्माकमिदानीं..... गजपति महाराज्य सांधिविग्रहिक श्रीविश्वनाथकविराजस्य कृतिमभिनवां चन्द्रकला नाम नाटिकामभिनेतुमुचितोऽयं समयः'।

As Nisanka Bhānu or Bhanu IV ruled from 1407-1434 A.D. the date of Chandrakalā may be fixed at 1410 A.D. and that of Sāhityadarpana which quotes from the Chandrakala at thirteen places may be assigned to the period from 1415 to 1420 A.D. Visvanātha also adorned the court of Gajapati Narasimha IV, in whose praise he wrote 'नरसिंहविजयकाव्यम्' which has been mentioned in his commentary on Kāvyaprakāśadarpana. Ananta Dasa, son of Visvanatha in his Locana-tīkā on Sāhityadarpana says that the following verse:

आहवे जगदुदण्डराजमंडल राहवे
श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे।

This verse has also been quoted in Sahityadarpan.[6] It is cited from the 'नरसिहविजयकाव्यम्' of Visvanatha. Thus, the first quarter of the 15th century may be taken as the period of literary activities of Visvanatha.

Literary works of Viśvanātha:

Besides Sāhityadarpana and Chandrakala-natika the names of the following works of Visvanātha are known from quotations made from them in the Sāhityadarpana e.g.

i. कुवलयाश्वचरितम्: यथा मम कुबलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये[7] and again यथा मम कुवलयाश्वचरिते[8]
ii. प्रभावतीपरिणयम्- प्रथमावतीर्ण्णमदनविकारा यथा मम प्रभावती परिणये[9]
iii. प्रशस्तिरत्नावली- It is referred once only e. g., यथा मम षोडशभाषामयी प्रशस्ति रत्नावली।[10]
iv. राघवविलासमहाकाव्यम्- यथा मम राघव विलासे विपिने क्व जटानिबन्धनं ..... शिरीष कर्तनम्।[11] and again, यथा रघुवंश-शिशुपालवध-नंबधादयः, यथा मम राघवविलासादिः।[12]

From the quotations made above, It is known that कुवलयाश्वचरितम् is a Prakrta Kāvya; प्रभावती परिणयम् is a drama in Sanskrit; प्रशस्तिरत्नावली contained eulogistic verses composed in 16 different languages and राघवविलासमहाकाव्यम् has been placed by Vishvanatha in the category of famous Mahākāvyas like रघुवंशः, शिशुपालवधम् and नैषधीयचरितम् written respectively by poets Kalidasa, Māgha and Srīharsa. He wrote his काव्यप्रकाशदर्पणम्, after finishing Sāhityadarpana.

Lineage of Viśvanātha Kavirāj:

Viśvanātha Kavirāj was not the only scholar in his lineage. His entire family belonged to the scholarly tradition. He is from Kapinjala Gotra. In *Sahityadarpan, Viśvanātha* has acknowledged his father Chandrashekhar Mahapatra as a great scholar.

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त।।[13]

Chandrashekhar Mahapatra- Chandrasekhara's fore-fathers beginning from Kavirāja Nārāyaṇa Dāsa were either court-poets or gurus (spiritual preceptors) of the Ganga royal family and as such bore the family surname Dāśa. But Chandrasekhara who was also a poet, rose to the position of 'सान्धिविग्रहिक-महापात्र' or minister for peace and war of Bhanu Deva III (1353-1378) as shown below. Some references, made about him in the works of his son Visvanātha Kavirāja are quoted below e.g.

i. यथा मम तातपादानां महापात्र-चतुर्दशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग-महाकवीश्वर-श्रीचन्द्रशेखर-सान्धिविग्रहिकाणाम्-
"दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः।।"[14]

ii. तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा, मम तातपादानाम्-
"मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।
कन्दर्प परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निलुण्ठनं सुध्रुवः।।"[15]

iii. यथा मम तातपादानाम्-
"नो चाटुश्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः।।"[16]

iv. एकदेशतो यथा मम तातपादानाम् -
"चिन्ताभिः स्तिमितं मनः करतले लीना कपोलस्थली,
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भः शीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं,
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽतिसहते दीनां दशामीदृशीम्।।"[17]

v. प्रवासानन्तरं सम्भोगो यथा मम तातपादानाम् -
"क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि ! किसअं खेमं मदङ्गं दिढं,
एतादृक्कृशता कुतः ? तुह पुणो पुटुं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये ! पणइणोदेहस्स सम्मेलणात्,
त्वत्तः सुभ्रु ! न कापि मे जइ इदं खेमं कुदो पृच्छसि ?।।"[18]

vi. उदाहरणं मम तातपादानाम् -
"आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः।।"[19]

Thus, at many places in Sahitya Darpan, he has expressed respect for his father by giving examples of his poems. Visvanath has not only mentioned his father's name in Sahitya Darpan but has also remembered his father in the Chandrakala Nātikā he has written.[20] From the above references, it seems clear that Chandrashekhar was fluent in fourteen languages. It is clear from his works that he was also a great poet.

According to the reference given in Sahitya Darpan, the names of his two works are clearly known. One is *Puspamala* and the other is *Bhasharnav.*

i. द्वादशपदा यथा मम तातपादानां **पुष्पमालायाम्**-

"शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः।।"[21]

ii. भाषा लक्षणानि मम तातपादानां **भाषार्णवे**[22]

The manuscripts of these two works have not yet been discovered and the names of his other works, if any, are not yet known.

Kaviraja Ullasa Dasa (prapitamaha of Vishvanath)

Ullas Dash was the great grandfather (प्रपितामह) of Vishwanath. It is stated in the काव्यप्रकाशदीपिका of Chandi Dasa, that Ullāsa was the elder brother of the father (ज्येष्ठतात) of Chandi Dāsa, who as said before was the grandson of Narayana Dasa e. g., (गुरुषु त्रिकलिङ्गदेवेन्द्र श्रीनृसिहदेवस्य कविराज श्रीमदुल्लासदास पादेष्वस्माक ज्येष्ठतातेषु यथा). So Ullasa Dasa was the son (perhaps eldest) of Kaviraja Nārāyan Dāsa, He was the Guru or spiritual preceptor of Narasimha Deva, the over-lord of Trikaliriga, who was perhaps Narasimha III and honoured with the title of Kaviraja like his father. He has been respectfully referred to by Chandi Dasa, who was a great scholar and author of some works. This indicates that Kavirāja Ullāsa Dāsa was the author of some work not mentioned by Chandi Dasa, the name of which may be traced in future.

Kaviraja Narayana Dasa (Brddha Prapitamaha of Visvanath)

Visvnātha Kaviraja in his Kāvyaprakāsa Darpaṇa stated that his grand-father Kavipandita Nārāyana Dasa, who adorned the court of Mahārājādhirāja Narasimha Deva, king of kalinga, defeated Dharma Datta by his arguments on a learned discussion on Rasa.

"त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराज श्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयतः सकलसहृदयगोष्ठीगरिष्ठास्मत्स्वपितामह श्रीमन्नारायणदासपादाश्चमत्कार एव सकलरसप्राणभूतः तस्य रागाद्यंशशबलत्वे यथायथं शृङ्गारादिव्यपदेशः"।[23]

But in Sahitya Darpan, Vishwanath has mentioned Sri Narayan Dash as his great-great-grandfather.

चमत्कारश्चित्तविस्तारूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मवृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठ- कविपण्डितमुख्य श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे-

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।।" इति ।[24]

Chandi Dasha (Younger brother of the Grandfather of Visvanatha)

Narayana was the grand-father of Chandi Dāśa, who was again the younger brother of the grand-father 'पितामहानुज' of Visvanātha as stated in his Sahitya Darpaṇa e.g. "अस्मत् पितामहानुज-कविपंडितमुख्य श्री चंडीदास पादानान्तु खंडरासनाम्ना यदाहुः"[25]

Some information about this great scholar is obtained from his commentary on Kavyaprakasa called काव्यप्रकाशदीपिका. In the colophon of the 10th Ullasa of this tīkā he writes-इति कपिञ्जलतिलक षड्दर्शनीय चन्द्रवर्त्ति महाकविचक्रचूड़ामणि सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ श्रीचण्डीदास महामहोपाध्यायकृत-काव्यप्रकाशदीपिकायां दशमोल्लासः समाप्तः। Thus Chandi Dasa of the famous Kapinjala family was a master of the six Darsanas a great poet and scholar and was honored with the title of Mahāmahopadhyaya. He was the son of Vilasa Dasa, younger brother of Ulläsa Dasa. Vishvanatha referred him twice in Sahityadarpan.[26]

Kaviaraja Ananta Dasa (Son of Vishwanath)

Vishwanath's son Anant Dash was also honored with the title of Kaviraj. Anant Dash wrote a beautiful commentary on Sahitya Darpan written by his father, which was named Lochan. It was written just after a few years of compilation of Sāhityadarpana during the period from C.1420 to 1430 A. D. when Gajapati Nisanka Bhānu Deva was the ruler of Kalinga (Odisha). The introductory portion of this commentary is as follows:

आसीत् कपिञ्जलकुलक्षीराकूपार चद्रमा
त्रिकलिङ्गाधिपधराधामधीः सचिवः कृती।
अशेषभाषारमणी भुजङ्गः साहित्यविद्यार्णवकर्णधारः।
ध्वन्यध्वनिप्रौढ़चियां पुरोगः श्रीविश्वनाथः कविचक्रवर्ती ।।
स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थं प्रध्वस्ताशेषदूषणः
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थस्तेन विनिर्मितः।
परं साहित्यविद्याब्धिर्गन्तुं वांछन्ति ये क्षितौ
कृतिरेषा तरिस्तेषां विश्वनाथमहाकवेः ।
श्रव्याभिनेयालङ्कार तत्त्वसत्कविसम्मतम्
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।[27]

Krishnananda Sandhivigrahika Mahapatra (Author of Sahridayanada Mahakavya)

Although it is difficult to prove what the family relations between Vishwanath and Krishnananda were, yet from some literary intimate evidence it can be said that there were some relations between them. Both these scholars were from Kapinjal gotra. Krishnānand was certainly older than Visvanatha Kavirāja, who has quoted a verse from सहृदयानन्द महाकाव्यम् in his Sāhityadarpana[28] and who became the minister of Narasimha IV and his son Bhanu IV (C. 1300 to 1320 A. D.). Even Kachu the son of Krshnanand was older than Visvanatha as he is called a सान्धिविग्रहिक in his record dated 1396. So Krshṇānanda was either a cousin, or uterine brother of Chandi Dāsa. Krshṇānanda is called a Pautra (grandson) of one Narayana Guru in the above Simihachalam temple

inscription of the Saka year 1307 or 1385 A. D. This Nārāyaṇa Guru is perhaps identical with Kaviraja Nārāyaṇa Dasa, who was a court poet of Narasimha II (1279-1307 A. D.).

Conclusion:

Vishwanath Kaviraj has introduced everyone to the works of many poets in his work Sahitya Darpan. This is an example of his generosity. It is because of him that we have been able to know about his father, grandfather, great grandfather and other relatives. Vishwanath Kaviraj's contribution in the field of research is unforgettable.

---

[1] इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग-सान्धिविग्रहिकमहापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः ।- *colophon of Sahityadarpan*

[2] *Sahityadarpan, Parichheda 1*

[3] *ibid. parichheda 1*

[4] *Chandrakala-Natika 1.2*

[5] *Sahridayanandam 3.52*

[6] *Sahityadarpan, Parichheda 10*

[7] *ibid. Parichheda 3*

[8] *ibid. parichheda 6*

[9] *ibid. parichheda 3*

[10] *ibid. parichheda 6*

[11] *ibid. parichheda 3*

[12] *ibid. parichheda 6*

[13] *ibid. parichheda 10*

[14] *ibid. parichheda 2*

[15] *ibid. parichheda 3*

[16] *ibid.*

[17] *ibid.*

[18] *ibid.*

[19] *ibid. parichheda 10*

[20] सूत्रधारः - यदस्माकमिदानीं चतुर्दश भाषाविलासिनी भुजङ्गमहाकवि निखिलानव्रद्यविद्यामहोदधि राजहंस महापात्र- श्री चन्द्रशेखर तनुजन्मनः निजजनकसमधिगतनिखिलसाहित्यतत्त्वस्य .... श्री विश्वनाथ कविराजस्य ।– *Chandrakala Natika, act 1*

[21] *ibid. parichheda 6*

[22] *ibid.*

[23] *KĀVYA PRAKĀŚA of Acharya Mammata with Three Commentaries Bālacittānurañjanī of Narahari Saraswatītīrtha, Sārabodhini of Śrīvatsalāñchana Bhaṭṭācārya, Kāvyaprakāśadarpaṇa of Viśvanātha Kavirāja (Full Text) Edited by Dr. Goparaju Rama & Dr. Jagannatha Pathak, Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad, 1976. Pg72*

[24] *Sahityadarpan, Parichheda 3*

[25] *ibid. parichheda 7*

[26] a. यदुक्तमस्मत्सगोत्रकविपंडितमुख्य श्री चंडीदासपादः(Sahityadarpana, paricheda4) b. अस्मत् पितामहानुज-कविपंडितमुख्य श्री चंडीदास पादानान्तु खंडरासनाम्ना यदाहुः (Sahityadarpana, paricheda7)

[27] *Sahityadarpana, Lochan tika, ed. Yogeshwar datta Sharma, Nag Publication, Delhi*

[28] सुचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः वाणः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥ - *Sahridayananda Mahakavya*

Spiritual Enlightenment through Guru Gītā

• Mintu Upadhyay*

Abstract: The search for spiritual enlightenment is a global goal that transcends cultural and chronological borders. The *Guru Gītā*, an ancient Hindu scripture, provides profound insight into the spiritual journey and emphasizes the importance of the Guru in guiding aspirants toward self-realization. This abstract navigates through the text's teachings on devotion, submission, and the dissemination of spiritual knowledge, emphasizing the importance of the guru-disciple connection. The *Guru Gītā* is a timeless handbook for seekers, integrating Yoga and Vedānta to provide a holistic approach to spiritual progress. This abstract explores the *Guru Gītā's* practical instruments for purifying the mind and overcoming difficulties on the path to self-realization, including mantras, rituals and yogic practices. The ancient scripture *"Guru Gītā"* encourages readers to set out on a profound path of self-discovery, led by the wisdom it imparts.

Key terms: Guru Gītā, Self-realization, Devotion, Yoga, Mantra.

The *Guru Gītā* is a dialogue between Lord Śiva and Goddess Pārvatī, found in the *Skanda Purāṇa*. Veda Vyāsa authored this sacred text, comprising three chapters and 352 verses.[1] The term 'Guru' is formed by combining 'gu' meaning darkness, and 'ru' meaning remover. Thus, Guru is the remover of darkness. The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* says – 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'[2] lead me from darkness to light. A Guru is someone who removes ignorance and darkness. The Guru is God, and there is no distinction between them. The Guru is the highest thing of all. The king of all mantras is "Guru"; there is no knowledge beyond the Guru. The Guru is the only thing that exists.

Guru is knowledge and considering the Guru is to believe in God. He is both the *ātman* and the *jīva*. A blind person can gain knowledge through the Guru's grace. It is impossible to achieve self-realization without the Guru's guidance. A Guru can unite *jīvātma* and *paramātmā*.

*Research Scholar, Pondicherry University, Pondicherry

जपस्तपो व्रतं तीर्थं यज्ञो दानं तथैव च। गुरुतत्त्वमविज्ञाय सर्वं व्यर्थं भवेत्प्रिये ।।[3]

Without the Guru's grace, all knowledge, japa, vows and charity are meaningless. A Guru is an eternal and pure consciousness that exists beyond space and time; a Guru destroys our ignorance and shows us the way to liberation. In this world, no one is more powerful than the Guru. Devoid of a Guru, all acts of worship, spiritual practices, austerities, education and learning lose their significance. The Guru imparts guidance and knowledge about the spiritual journey. Offering prostration *(sāshtāngapraṇam)* holds great importance in expressing devotion to the Guru.

काशीक्षेत्रं निवासश्च जान्हवी चरणोदकम्। गुरुविश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्मनिश्चयः।।[4]

The Guru illuminates the mind; a true devotee of the Guru can recognize that their Guru is everything, including *kāshi, gayā, vṛndāvana, mathurā, mokṣa* etc. The Guru is the source of the universe. The Guru's voice is like sweet nectar. The Guru is the one who illuminates the way for us to live our lives. Chanting *Guru Gītā* at all times removes all our obstacles.

Saint Kabirdās says – *"guru govind dou khade, kake lagoon paay; balihari guru aapnee, govind diye batay."*[5] This signifies that the Spiritual Teacher or Guru holds a position even greater than God. The statement poses a question – if both the teacher and God are present before someone, whom should they greet first? Saint Kabirdās then emphasizes that it is only because of the teacher's teachings that he is able to perceive God. All ritualistic performances are meaningless without understanding the nature of the Guru. The Guru is a spiritual preceptor, mentor, educator and a mature ideal. *Guru Gītā* discusses what we should meditate on. It says that –

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्। मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मुक्तिमूलं गुरोः कृपा॥[6]

The cause of *mokṣa* is the Guru's grace; meditation takes the form of the Guru; the worship of the Guru's feet represents the Guru's image. The blessing of the Guru is the sole source of true joy. While one can learn Vedas, Upaniṣads, Itihāsa, Purāṇas and all Sāstras, retaining knowledge is impossible without a Guru. *Guru Gītā* eradicates all evils, the cycle of birth and death, stress and obstacles. Practicing this text helps us overcome our bad habits.

The Guru transcends gender, being neither male nor female, representing the illumination and the embodiment of self-realization. The Guru is the sovereign of the universe, the epitome of knowledge, and a wellspring of joy. In times of God's displeasure, the Guru serves as our savior, emphasizing that no one else will rescue us if the Guru is discontent. If anyone curses their disciple, the Guru can defend them. When worshiped, the Guru fulfills all desires.

त्वमेव माता च पिता त्वमेव । त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणम् त्वमेव । त्वमेव सर्वम् मम देव देव ॥

You (Guru) are my mother and my father. You are my family and my friend. You are my wisdom and my wealth. You are truly my all, my true God. The one who is

the joy of the universe, the one who gives ultimate happiness, who is only in the form of knowledge, free from dualities (happiness-sorrow, cold-heat, etc.), subtle, and all-pervasive like the sky, who is the goal of the Mahāvākyas like – *Prajñānam Brahma*,[7] *Ahaṁ Brahmāsmi*,[8] *Ayam Ātmā Brahma*,[9] *Tát Tvam Ási*[10] – is the one to whom I bow down, to Śrī Sadgurudev. Who is eternal and without impurities, immovable, the witness of all intellects, devoid of all three *guṇas (sattva, rajas & tamas).*

Here are some benefits of the *Guru Gītā* –

i. The *Guru Gītā* imparts spiritual direction, providing insights into the nature of the divine, the journey to self-realization, and the significance of an authentic Guru in an individual's spiritual quest.

ii. The guidance provided in the *Guru Gītā* has the potential to induce a shift in consciousness. By comprehending and internalizing the spiritual principles delineated in the text, individuals may undergo an elevated state of awareness.

iii. One advantage of reading *Guru Gītā* is that it discloses the significance of our life's mission to us. It energizes the life force (prāṇa) and naturally offers the mind spontaneity and serenity. Not only that but reading the book on how the Guru leads the disciple to awareness of himself adds interest and attention to the road of self-realization.

iv. Being a fully developed Guru in one's life frees us from prejudice and life's uncertainties. *Śrī Guru Gītā* describes in detail how the real Guru protects his pupils and shows them a life beyond the illusion of opposites. The Guru shields us from life's calamities and challenges. One can achieve wisdom, detachment, and ultimately freedom by having confidence in and praying to the Guru with the utmost patience, devotion, and sincerity.

v. You become powerful when your mind awakens to the Guru Principle, and you offer yourself ultimately (through acts, thinking and mind) to the Guru. As you come to know and understand the supreme reality, your ideas and intellect become pure. The *Guru Gītā's* sacramental energies have the power to change you radically.

vi. When we recite *Guru Gītā*, we are grateful for the Guru's influence in our life. The genuine nature and glory of the Guru are made clear to us in *Guru Gītā*. The devotion that results from such a revelation about the Guru expresses grace in our life, moving us to the richness of the Self and away from the poverty of the gross matter.

vii. The teachings of the *Guru Gītā* aspire to guide individuals toward inner peace and contentment, promoting detachment from worldly desires and emphasizing a focus on the eternal truths of the spiritual journey.

viii. Discipleship holds a central role in the *Guru Gītā*. By highlighting the qualities and responsibilities of both the guru and the disciple, the text contributes to reinforcing the connection between the spiritual teacher and the aspirant.

As per the teachings of the *Guru Gītā*, achieving self-realization necessitates submission, modesty, and steadfast trust in the spiritual guide. Engaging in a gesture of bowing down to the Guru and diligently adhering to their teachings initiate a transformative process for the seeker, facilitating the shedding of layers of ignorance and culminating in a heightened state of awareness.

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरु साक्षात परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥[11]

The Guru is the Creator *(Brahmā),* the Preserver *(Viṣṇu),* and the Destroyer *(Maheśvara)*; the Guru is the ultimate (singular) Lord in essence. He is the pinnacle of Brahman and the essence of reality.

The Guru through the force of the fire of knowledge, dissolves the chains of karma accumulated throughout many lives. He is beyond the three *guṇas (sattva, rajas & tamas)* faultless, untainted, tranquil, both moving and immovable and permeates the entire world.

The *Guru Gītā* is like a guidepost where the boundless and limited meet, offering wisdom that asks us to think deeply beyond what our minds can comprehend. It encourages us to take a moment and ponder a puzzle that can't be solved through logical thinking. Using beautiful language, pictures, and powerful symbols, it touches our emotions and quiets the busy thoughts in our minds. It teaches us that the solution to the puzzle and the peace we long for don't come from overthinking but from being dedicated, showing selfless love, and practicing meditation.

A Sadguru embodies bliss, bringing joy to all and standing as the sole existence. With a nature rooted in consciousness, he transcends dualities such as happiness and sadness. Like space, he is omnipresent and symbolizes the profound meanings found in the scriptures. The Sadguru is timeless, singular, pure, and unwavering, observing all knowledge beyond the constraints of mental concepts.

अज्ञानसर्पदष्टानां प्राणिनां कश्चिकित्सकः।
सम्यग्ज्ञानमहामन्त्रवेदिनं सद्गुरु विना॥[12]

For those struck by the cobra of ignorance, the Guru is the only doctor who knows the mahāmantras of right knowledge. A person who remains in solitude, free from desires, filled with peace, devoid of both worry and jealousy, and exhibits childlike simplicity, is referred to as a *'Brahmajnani,'* signifying one who possesses knowledge of Brahman, the Supreme Being. The real Gurus consistently radiate calmness, purity, articulate speech, and impeccable conduct. They have completely subdued their senses and relinquished all desires, including lust and passion. Radiating the profound wisdom of Vedānta, the Guru's lotus feet glow luminously, much like the sun consistently emitting its light, spreading the great Truths.

He is one *(ek)*, everlasting *(nitya)*, pure *(sudha)*, free *(mukta)* from impurities, he is steadfast *(achal)*. He is the dwelling of knowledge and bliss and is eternally all-knowing, everywhere and expansive like the sky. He is the witness *(Sākṣi)*. The *Guru Gītā* connects individuals directly with the foundation of the Siddha lineage. It highlights the elevated spiritual qualities of *sattva guṇa* enhancing positive karma while mitigating negative karma. "Beyond the Guru there is nothing" – this is the word of *Śiva*.

The *Guru Gītā* is advantageous because it exalts and highlights the significance of a Divine Master who bestows his grace upon the pupil and is a blossoming soul. The verses of *Guru Gītā* are mantras that enable us to connect with a higher power and find tranquility. Those who frequently recite these phrases gain strength, eventually dispelling all darkness and bringing us closer to enlightenment. When we recite *Guru Gītā*, we are overwhelmed by the glory of the *Sadguru*, fostering deep love and respect for the Guru. One is guided by meditation and devotion to the Guru on the journey to spiritual awakening.

Abandoning the Guru leads to death; forsaking the mantra (taught by the Guru) results in poverty. Those who abandon both the Guru and the mantra will descend into hell. The Guru's absolute form is akin to nectar for those with true vision. For those unable to perceive beyond the illusion's veil, the genuine essence of the Guru remains concealed, much like the sunrise to a blind person. The *Guru Gītā* is a lighthouse of knowledge, shedding light on the way to enlightenment through mantra comprehension, meditation, and the guru-disciple bond. It is a timeless handbook for individuals looking to negotiate the complex terrain of the spiritual journey. As spiritual seekers read its lyrics, they discover profound teachings that transcend time, guiding them to the ultimate goal of self-realization and spiritual enlightenment.

The mantra of *Śrī Guru Gītā* opens the door to purity, gratitude and liberation. This priceless literature demonstrates how fortunate we are to be alive and how, with the true Guru, we can live our lives with love and grace. *Guru Gītā* becomes a current of sound waves when chanted quickly. The Guru teaches that you are unlimited; when you bend down, trust, and worship that Guru, you authorize and praise his message. The Guru appears in his proper form in *Guru Gītā*. The divine mantras have been likened to the holy Gaṅgā as she gracefully falls from the Himālayās. One of the largest glaciers in the majestic Himālayās contains a massive ice cave that is the source of the *Gaṅgā's* flowing waters, which explode in a tremendous roar. The wisdom of *Śrī Guru Gītā* resonates in your mind and remains imprinted just like the sound.

References:

1. Selected Works: A Compendium of Gems From The Writings of Swami Shantananda Puri. Vol. 6. Bangalore: Parvathamma C.P. Subbaraju Setty Charitable Trust, 2019, p.279.
2. 1.3.28
3. Narayanananda, Swami, trans. Sri Guru Gita. Tehri-Garhwal: The Divine Life Society, 2019, p.23.

4. Sivananda, Swami. Sarva Gita Sara. Tehri-Garhwal: The Divine Life Society, 2012, p.18.
5. Doha of Kabir.
6. Narayanananda, Swami, trans. Sri Guru Gita. Tehri-Garhwal: The Divine Life Society, 2019, p.48.
7. Aitareya Upaniṣad 3.3 of the Ṛg Veda.
8. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad 1.4.10 of the Yajur Veda.
9. Mandukya Upaniṣad 1.2 of the Atharva Veda.
10. Chāndogya Upaniṣad 6.8.7 of the Sama Veda.
11. Sivananda, Swami. Sarva Gita Sara. Tehri-Garhwal: The Divine Life Society, 2012, p.16.
12. Narayanananda, Swami, trans. Sri Guru Gita. Tehri-Garhwal: The Divine Life Society, 2019, p.47.

Sanskrit Texts, Artificial Intelligence, and the Future

• Dr. Pritam Panda*

Abstract : The names mentioned in the title of the paper spawns contrasting thoughts; whereas *Sanskrit* is one of the most ancient languages of the world and a doorway to antiquity, *artificial intelligence* (AI) engenders visions of the future. Singh (2024), writing in *The Economic Times*, comments, "while the world's gaze gravitates towards English and Mandarin as AI's lingua franca, India holds a hidden trump card: Sanskrit. This is a language whose structure and essence resonate with the fundamental principles of intelligent computing." Therefore, it is an enormous task to establish a correlation between them. Yet, modern scientists have found enough evidence that establishes a symmetrical, synchronic relationship between the two. It all started with Briggs' (1985) analysis where he analysed the use of Sanskrit in Natural Language Processing (NLP) and its use in AI. The structured, scientific dimensions of the Sanskrit language make it a suitable tool for computation. Sanskrit is the language in which most of the ancient Hindu scriptures were written. Be it the *Mahabharata* or the *Ramayana*, the *shloka*s were composed using Sanskrit language. Sanskrit boasts of a well-structured syntax. If we look into the intrinsic relationship between language and society, the society uses language as a vehicle for institutionalising, appropriating, and perpetuating its ideals and principles. This paper aims to find out the scope for the interlinkage of Sanskrit and AI and tries to explore avenues where Sanskrit texts can be used for modern-day programming.

Keywords. synchronic, Language Processing, intrinsic, syntax, interlinkage

Sanskrit Texts, Artificial Intelligence and the Future

The phrases mentioned in the title of this paper spawn contrasting thoughts; whereas *Sanskrit* is one of the most ancient languages of the world and a doorway to antiquity, *artificial intelligence* engenders visions of the future. Singh (2024), writing in *The Economic Times*, comments, "while the world's gaze gravitates towards English

* Assistant Professor of English, JDSG College, Bokakhat, Assam.

and Mandarin as AI's lingua franca, India holds a hidden trump card: Sanskrit. This is a language whose structure and essence resonate with the fundamental principles of intelligent computing."[1] Therefore, it is an enormous task to establish a correlation between them. Yet, modern scientists have found enough evidence that establishes a symmetrical, synchronic relationship between the two. It all started with Briggs' (1985) analysis where he analysed the use of Sanskrit in Natural Language Processing (NLP) and its possible use in Artificial Intelligence.[2] The then President of India, Dr. Ram Nath Kovind has also highlighted the importance of using Sanskrit language for modern day programming at the 17th convocation of the Shree Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha in New Delhi. The paper looks at various aspects pertaining to the use of Sanskrit in the Artificial Intelligence age.

The structured, scientific dimensions of the Sanskrit language make it a suitable tool for computation. Sanskrit is the language in which most of the ancient Hindu scriptures were written. Be it the *Mahabharata* or the *Ramayana*, the shlokas are composed using Sanskrit language. Sanskrit language boasts of a well- structured syntax. If we look into the intrinsic relationship between language and society, the society uses language as a vehicle for institutionalizing, appropriating and perpetuating its ideals and principles. For example, the proliferation of the English language during the reign of Queen Elizabeth I served as a catalyst for developing British nationalism. Language represents the civilizational aspirations of a particular culture. Sanskrit, from time immemorial, has carried the aspirations of Indian society. Indian history can be effectively studied with the help of Sanskrit only as the court language was Sanskrit and the administrative responsibilities were discharged through the use of Sanskrit itself. Language codifies the beliefs, rituals, customs and heritage of a society and Sanskrit has been doing it since immemorial.

A close scrutiny of Artificial Intelligence is extremely important to the analysis at hand. Artificial Intelligence is a way of amplifying human powers; its application simulates the working of a human brain. Artificial intelligence is extremely useful in computation; in fact, through robots and humanoids, carefully implanted sets of instructions are used to accomplish mammoth tasks within a short period of time. The use of Artificial intelligence has been rampant in the modern times. Almost every sector of human life has been severely impacted by AI. Anderson et al. (2018) comment in 'Artificial Intelligence and the Future of Humans,' "digital life is augmenting human capacities and disrupting eons-old human activities. Code-driven systems have spread to more than half of the world's inhabitants in ambient information and connectivity, offering previously unimagined opportunities and unprecedented threats."[3] Artificial Intelligence has been scrutinized extensively in the present times but the undeniable fact is that the use of Artificial Intelligence is going to be extensive in the coming times.

Sanskrit resembles Artificial Intelligence in a lot of ways. Rutvija (2023), writes in 'How Sanskrit Makes Artificial Intelligence and Coding Simple,' "in 1985, NASA

associate scientist Rick Briggs published a research paper in the spring issue of Artificial Intelligence magazine entitled … 'Knowledge Representation in Sanskrit and Artificial Intelligence.'" The article argued that natural languages are the best option to be converted into the computing program for robotic control and artificial intelligence technology. She further commented, "Briggs also argued that Sanskrit is particularly well-suited for this task because of its highly structured grammar and its ability to express complex ideas in a concise and unambiguous way. He even went so far as to suggest that Sanskrit could one day be used as the primary programming language for artificial intelligence." Giving empirical examples of the use of Sanskrit in modern times, the author said, "in 2017, a team of researchers at the Indian Institute of Technology Bombay developed a Sanskrit natural language processing toolkit called Sanskrit NLP. This toolkit can be used to perform a variety of natural language processing tasks, such as text classification, sentiment analysis, and machine translation." She further adds, "in 2018, a team of researchers at the University of California, Berkeley developed a Sanskrit-English machine translation system that was shown to be more accurate than existing state-of-the-art systems."[4] This empiricism goes a long way in disabusing researchers and negating Westernised epistemology which is keen on degrading Oriental forms of knowledge as unsuitable for modern day communication. Every form of technological communication is mainly dominated by European languages. This centralization of linguistic hegemony is distinctively harmful to the democratization of technological revolution.

The shift towards Sanskrit as modern day computational language is significant as it deconstructs Eurocentric hegemony of language imposition. A cursory glance at the modern discourse will suggest that most of the technological writing emanates from Western philosophy. It is ironic considering that some of the greatest achievements in Mathematics and Natural Sciences have been accomplished in the Oriental discourse. This includes Aryabhatta's claim of 'zero' being the foundation of Mathematics. As such, the close link between Sanskrit and Artificial Intelligence is significant as it is a connecting bridge between antiquity and contemporary discourse. The configurative scrutiny of Sanskrit as a modern analytical tool which can be used in Artificial Intelligence is also important from a geo-political perspective. The recent years have seen Eurocentric powers treating technology as a new form of colonialism. Technology, which was meant to be liberating, has been used to upend the social power and heavily use it to maximize the reach of totalitarian powers. The ongoing territorial unrest in many countries and the explicit use of technology in those endeavours have raised concerns about the equitable distribution of technological benefits. Techno-colonialism is much more invasive due to its large computational strengths. There have been numerous such instances in Indian history where linguistic heritage has been destroyed to weaken cultures. The destruction of ancient Universities in Nalanda and Takshila to the 1835 Minutes of Education by Thomas Macaulay; history is replete with examples

where colonial supremacy has been established by subverting linguistic traditions. 'Sanskritization' in the Artificial Intelligence context would help the language globalize it. Of late, there has been a resurgence in Sanskrit literary tradition due to several factors. The contribution of Panini, the great grammarian, to the language is immense. His scientific analysis which led to the development of grammar in the language has served as an inspiration for the linkage between Sanskrit and modern technology.

The reach of Artificial Intelligence is immense in the present times. The intrusion of Artificial Intelligence in every nook and corner of human life makes it an inextricable part of the human future. As such, language automatically turns into an intermediating interface between humans and AI. The scope of Sanskrit texts getting embedded within the contoured framework of Artificial Intelligence is exciting as Artificial Intelligence has entrenched its footprints in popular culture also. Thus, it facilitates the exposure of the present generation to Sanskrit language, language rich in textual diversity and profundity. The shift towards Sanskrit is a kind of reinforcement of Indian cultural richness. Over time, the ancient ideals of Indian classical philosophy have been overshadowed for various reasons. Yet, literary figures all over the world have incorporated Sanskrit 'Sidhantas' in their writings. For example, T. S. Elliot was heavily influenced by the Upanishads and incorporated many tenets of it in 'The Wasteland'. The inter-relationship between language and technology has been analysed on multiple levels. It is found that technological intrusion is directly dependent upon the reach of language. Thus, we can state a mutual relationship between language and technology.

Sharma (2023), in 'Sanskrit - The Ideal Language for Computer Science and AI,' comments on the interlinkage between Sanskrit and AI as "with its linguistic excellence, precision, and deep-rooted wisdom, Sanskrit stands out as the ideal language for computer programming and AI advancements. As the technology landscape evolves, Sanskrit's unique attributes will continue to drive innovation, shape AI capabilities, and redefine the future of computing."[5] In an post in *Analytics Insight*, Meghmala (2022) says, "Sanskrit, an ancient Hindu language, is thought by NASA to be the best language for creating computer code for their Artificial Intelligence program." Meghmala further states, "Early Indian mathematics and science were conducted in Sanskrit, which has a long history. Sanskrit's rule-based, formula-based, and logical syntax makes it an excellent choice for writing algorithms. Sanskrit's grammar also makes it appropriate for Artificial Intelligence and machine learning. The idea of employing Sanskrit to create artificially intelligent computers is exciting for both historians and common people since it creatively mines the past to provide answers for the future."[6]

Briggs (1985), in 'Knowledge Representation in Sanskrit and Artificial Intelligence,' says, "there is at least one language, Sanskrit, which for the duration of almost 1000 years was a living spoken language with a considerable literature of its own besides works of literary value, there was a long philosophical and grammatical tradition that has continued to exist with undiminished vigor until the present century. Among

the accomplishments of the grammarians can be reckoned as a method for paraphrasing Sanskrit in a manner that is identical not only in essence but in form with current work in Artificial Intelligence."[2] Ghosh (2023), writing for *Medium* says, "by leveraging the structured nature of Sanskrit, AI techniques can be used to automate tasks such as text translation, grammar checking, and language generation." She further comments, "furthermore, Sanskrit texts have also been used as training data for machine learning algorithms. Large corpora of Sanskrit texts, such as ancient scriptures and literature, can be processed and analyzed using AI techniques to extract meaningful information, identify patterns, and gain insights into various domains like philosophy, linguistics, and history." She is of the opinion that the natural order followed in the syntax of Sanskrit language makes it an ideal language for the perpetuation of techniques that is to be used in Artificial Intelligence.[7]

Shetty (2023), writing for *The Daily Guardian*, comments, "storing wisdom in Sanskrit, ability to act on them using artificial intelligence and robots, availability of vast amounts of data in terms of past judgements makes the application of Artificial Intelligence in law an exciting research opportunity which should be further explored."[8] Language is an ordered, structured communication channel. Recently, studies have been made to establish a co-relationship between humans and machines with the help of natural languages akin to human communication models. Kumar (2020), in 'Sanskrit as Language for Artificial Intelligence and Robotics,' argued, "Artificial Intelligence demands the schemata through natural languages so as to serve the digital data transmission between machines and humans." The author clearly disabuses the conventional notion that no single natural language can facilitate such transmission. He argues, "the solution to this problem is probably taken from vedic descriptions of ancient India. Ancient Indian books clearly describe the instructional methods in the form of Vedic mantra in Sanskrit languages to direct high technological gadgets. He concludes by saying, "Sanskrit has great potential to be the communicative and programming tool in futuristic gadgets as evident from the ancient Indian writings."[9] There have been several instances in which Sant Tulsidas depicts the usage of technology in *Ramcharitmanas*. Especially, during the depiction of various wars and confrontations. Sant Tulsidas articulates how Sanskrit *shlokas* are used to invoke weapons of mass disaster.

Roy (2021) tries to explore the origins of Artificial Intelligence and tries to find a link between it and the technological descriptions in ancient mythology. There have been several instances in the epics Ramayana and Mahabharata where modern day technology has found its precursors in the ancient war strategies depicted in the two epics. One such example is the fierce battle between Kumbhakarna and the army of Ram. Sant Valmiki writes, "उच्यन्ताम् वानराः सर्वे यन्त्रमेतत्समुच्छ्रितम् । इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भयाः ।।" (*uchyantaam vaanaraaH sarvE yantram etatsamuchchhritam । iti vijNaaya harayO bhaviSyantiiha nirbhayaaH ।।*), meaning, 'let all the monkeys be told that it is a kind of

machine, advancing forward. By knowing this, they can become fearless by now.' He continues by saying, "प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसंनिभे । नासापुटाभ्यां निर्जग्मुः कर्णाभ्याम् चैव वानराः ।। (*prakSiptaaH kumbhakarNena vaktre paataala samnibhe । naasaapuTaabhyaam nirjagmuH karNaabhyaam chaiva vaanaraaH* ।।), meaning, 'hurled by Kumbhakarna in his mouth which was looking like a hole in the earth, the monkeys again came out from his nostrils and ears. How can a person enter into a gigantic person's mouth and come out of their nostrils and ears, unless the giant is a machine with no internal anatomy?' (Roy, 2021).[10]

There have been several instances where the close link between Sanskrit and Artificial Intelligence has been established. This paper tries to look at this intrinsic relationship and concludes that Sanskrit is going to have a very important role in the upcoming Artificial Intelligence era.

References

1. Singh, R. K. (2024, January 5). Sanskrit: Can India leverage this ancient, nuanced language for the future to become a world leader in AI? *The Economic Times*. Retrieved April 1, 2024, from https://economictimes.indiatimes.com/opinion/et-commentary/sanskrit-can-india-leverage-this-ancient-nuanced-language-for-the-future-to-become-a-world-leader-in-ai/articleshow/106582588.cms
2. Briggs, R. (1985). Knowledge representation in Sanskrit and artificial intelligence. *AI Magazine*, *6*(1), 32–39. https://doi.org/10.1609/aimag.v6i1.466
3. Anderson, J., Rainie, L., & Luchsinger, A. (2018). Artificial intelligence and the future of humans. In *Pew Research Centre*. Retrieved April 1, 2024, from https://www.pewresearch.org/internet/2018/12/10/artificial-intelligence-and-the-future-of-humans/
4. Rutvija, V. [vedarutvija]. (2023, October 6). How Sanskrit makes artificial intelligence and coding simple. *Medium*. Retrieved April 1, 2024, from https://medium.com/@vedarutvija/how-sanskrit-makes-artificial-intelligence-easy-bf4b703ffc64
5. Sharma, P. (2023, June 16). *Sanskrit - the ideal language for computer science and AI [Online forum post]*. LinkedIn Pulse. Retrieved April 1, 2024, from https://www.linkedin.com/pulse/artificial-intelligence-sanskrit-match-made-heaven-vikas-sharma
6. Meghmala. (2022, September 22). Forget programming languages, machines need good-old Sanskrit to perform efficiently. *Analytics Insight*. Retrieved April 1, 2024, from https://www.analyticsinsight.net/forget-programming-languages-machines-need-good-old-sanskrit-to-perform-efficiently/
7. Ghosh, A. [ghoshanwesha272]. (2023, May 30). The intersection of artificial intelligence and Sanskrit language: Exploring linguistic richness and computational possibilities. *Medium*. Retrieved April 1, 2024, from https://medium.com/@ghoshanwesha272/the-intersection-of-artificial-intelligence-and-sanskrit-language-exploring-linguistic-richness-2a8c5a2a4df8
8. Shetty, A. (2023, June 9). Sanskrit, Artificial intelligence and the law. *The Daily Guardian*. Retrieved April 1, 2024, from https://thedailyguardian.com/sanskrit-artificial-intelligence-and-the-law/
9. Kumar, A. (2020). Sanskrit as language for artificial intelligence & robotics. *Ajanta*, *9*(2), 1–5.
10. Roy, M. (2021). An exploratory study on the origin of AI: Journey through the ancient Indian texts & other technological descriptions, its past, present & future. *Turkish Online Journal of Qualitative Inquiry*, *12*(7), 10261–10288.

संस्कृतवाङ्मयी
ISSN : 2231-5799

यूजीसी के दिशा-निर्देशों के अनुसार संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका ISSN 2231-5799 एक विद्वत्तापूर्ण अकादमिक PEER REVIWED शोधपत्रिका है। यह पत्रिका संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के शैक्षिक वातावरण को प्रतिबिम्बित करती है।

शोधलेख के लिए दिशानिर्देश

१. लेखों का विषय:

संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका संस्कृत साहित्य, पालि-प्राकृत साहित्य, भाषा विज्ञान, भारतीय दर्शन, तुलनात्मक दर्शन, वेद-वेदांग एवं प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में नवीन मौलिक शोध आलेख प्रकाशनार्थ आमंत्रित करती है। आयुर्वेद, गणित, स्वदेशी चिकित्सा पद्धतियों, प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणालियों, टीकाओं, प्राचीन भारतीय कलाओं और वास्तुकलाओं का विश्व कला और वास्तुकला के रूपों के साथ संदर्भ सहित तुलना, पुस्तक-समीक्षा, संस्कृत और प्राच्यविद्या में रचनात्मक लेखन, अप्रकाशित/दुर्लभ पांडुलिपियों की समालोचनात्मक अध्ययन आदि उपर्युक्त सभी क्षेत्रों के अनुसन्धानात्मक शोधपत्रों को प्रकाशित किया जाता है।

२. लेख की भाषाएं और लिपियां:

ए4 आकार के पेपर में लेख संस्कृत या हिंदी या अंग्रेजी में होना चाहिए जिसमें न्यूनतम 2000 से अधिकतम 3000 शब्द हों।

३. विशेषक चिह्न diacritical marks :

अंग्रेजी में लिखे गए पेपर, संस्कृत, अर्धमागधी या प्राकृत या अपभ्रंश या अरबी या फारसी आदि के शब्द रोमन लिपि में प्रस्तुत किए जाने पर सामान्य पाठ के साथ उचित विशेषक चिह्नों (diacritical marks) के साथ होना चाहिए। साथ ही रोमन लिपि में लिखे गए सामान्य संस्कृत शब्द विशेषक चिह्न (diacritical marks) के साथ सामान्य फॉन्ट (बिना इटैलिक) में होने चाहिए।

४. ग्रंथों का इटैलिक रूप:

अंग्रेजी को छोड़कर अन्य भाषाओं में ग्रंथों, रचनाओं, पत्रिकाओं और पूर्ण वाक्य का नाम इटैलिक फ़ॉन्ट में होना चाहिए।

५. शोधसार/बीजशब्द/सन्दर्भ/एंडनोट्स:

शोधपत्र के प्रारंभ में शोधसार(Abstract) तथा बीजशब्द(Key terms) होना चाहिए। नोट्स और संदर्भ लेखों के अंत में अंकों के साथ एंडनोट्स(size 11) के रूप में होने चाहिए।

६. अप्रकाशित शोधपत्र:

संस्कृतवाङ्मयी में प्रकाशनार्थ प्राप्त शोधपत्र तीन स्तरों पर समीक्षक-समिति द्वारा मूल्याङ्कित होने पर ही प्रकाशित किया जाएगा। केवल ऐसे शोधपत्रों पर विचार किया जाएगा जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। शोधपत्र में अत्यधिक अशुद्धियां होने पर शोधपत्र लेखक को प्रत्यावर्तित कर दिया जाएगा।

७. फ़ॉन्ट:

देवनागरी लेख एमएस एरियल यूनिकोड या संस्कृत 2003 या किसी भी यूनिकोड फ़ॉन्ट, आकार 14 में टाइप किया जाना चाहिए। अंग्रेजी लेख टाइम्स न्यू रोमन, आकार 12 पीडीएफ के साथ एमएस वर्ड में होना चाहिए। एंडनोट्स size 11 के रूप में होने चाहिए।

८. कैसे भेजें:

लेखक A4 आकार के पृष्ठ पर टंकित मूल पाण्डुलिपि (एमएस वर्ड) को एक सॉफ्ट पीडीएफ प्रति के साथ ई-मेल **lusanskrit@gmail.com** के माध्यम से विभागाध्यक्ष/संपादक को प्रेषित करें।

९. लेखक संकेत-

लेख के अंत में लेखक का नाम और पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल आईडी होना चाहिए। मुद्रित पत्रिका की एक प्रति छपने के बाद लेखक को भेजी जाएगी।

E-mail : lusanskrit@gmail.com,
Website : www.sanskritvanmayi.in